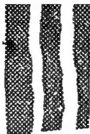
डॉ० सुषमा कश्यप

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में राजनीतिक चेतना

डॉ० सुषमा कश्यप

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में राजनीतिक चेतना

प्रकाशक :
सूर्य प्रकाशन मन्दिर
बिस्सों का चौक,
बीकानेर-334001
मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपये मात्र
संस्करण : प्रथम, 1986

मुद्रक :
विकास आर्ट प्रिंटर्स,
रामनगर, शाहदरा, दिल्ली-32

SWATANTRYOTAR HINDI MAHAKAWYON MEN RAJNEETICK CHETANA by Dr. Sushma Kashyap

Price Rs 125.00

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० देवीप्रसाद गुप्त
को
सादर
समर्पित

प्राक्कथन

'साहित्य समाज का दर्पण है' अथवा 'साहित्य जीवन की आलोचना है।' जैसे कथन अन्ततः साहित्यिक सरचना की युग-जीवन सापेक्ष व्याप्ति को द्योतित करते हैं। साहित्यिक कृतियो के सृजनात्मक परिप्रेक्ष्य मे व्यष्टि और समष्टि, युग और समाज से जुड़े समस्त जीवन-सत्य साहित्यकार की सवेदनात्मक प्रतीतियो के रूप मे रूपान्तरित होते हैं। प्रकारान्तर से मानक या स्तरीय साहित्यिक सरचना युग-जीवन के समस्त सम-विषम प्रभावो की ही अभिव्यजना होती है। हमारे युग-जीवन का सत्य ही अन्ततः साहित्य का सत्य होता है। साहित्यकार की सृजनात्मक प्रेरणा का सम्बल और रचना-धर्मी आस्थाओ का बल भी युगीन जीवन-सत्य ही होता है। किसी भी महान् कृति की महत्ता को इसी सत्य के माध्यम से पहचाना जा सकता है। साहित्य के नाना रूपो मे युग-सत्य की सर्वाधिक सशक्त व्यजना का माध्यम महाकाव्य होते हैं। वे 'मील के पत्थरो' अथवा 'पर्वताकार दर्पणो' के समान मानवता की प्रगति और पराजय का परिचय कराते हैं। महाकाव्य कृतियो की महार्घता का आधार शैल्पिक प्रतिमानो के साथ-साथ उनमे अभिव्यजित युग-जीवन का सत्य होता है, जो मूल्यो, आदर्शों और अवधारणाओ के रूप मे अभिव्यक्ति पाता है। रामायण और महाभारत से आरम्भ होने वाली भारतीय महाकाव्य परम्परा के अविच्छिन्न स्रोत के रूप मे रचे गये काव्य-ग्रन्थ (यथा-रघुवश, कुमार सम्भव, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीयम्, नैषधचरित, दीपवश, महावश, सेतु बध, गौड वहो, पउम चरिउ, महापुराण, भविष्यत् कहा, पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, कृष्णायन, जयभारत, एकलव्य, पार्वती, सारथी, जननायक, दमयन्ती, वाणाम्बरी, महाभारती, विदेह, उर्वशी, लोकायतन आदि) इस तथ्य की सम्पुष्टि करते हैं कि महाकाव्य युग-जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति का अन्यतम माध्यम होता है।

वर्तमान युग मे महाकाव्य के स्थानापन्न साहित्य रूप उपन्यास भी युग-सत्य की व्यजना का माध्यम बने हैं; किन्तु वे अपने रचनात्मक उपक्रम मे महाकाव्य की-सी महार्घता अर्जित नहीं कर पाये हैं। इसीलिए महाकाव्य रचना का महत्त्व और वांछनीयता गद्यात्मक विधाओ की प्रभुता मे भी अपरिहार्य बनी हुई है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो की प्रवृत्तिमूलक सचेतना के अनुशीलन से उनकी जिन विविधोन्मुखी कलात्मक एव वैचारिक प्रवृत्तियो से साक्षात्कार होता है, उनमे राजनीतिक चेतना का प्रत्यय सबसे प्रखर है। दूसरे शब्दो मे स्वातन्त्र्योतर हिन्दी महाकाव्यो की सृजनात्मक

सांस्कृतिक पीठिका के निर्माण म राजनीतिक परिस्थितियो, गतिविधियो, विचार-धाराओ एव क्रियात्मक प्रवृत्तियो की महती भूमिका रही है। इस दौर के महाकाव्यो का कथ्यपट इतिहास, पुराण, कल्पना या समकालीन घटना चक्रो मे से किसी के भी रेशो मे बुना गया हो, उसमे राजनीतिक चिन्तन की सदीप्ति सर्वत्र विद्यमान है। इसका मूल कारण हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एव विश्वजनीन जीवन और चतुर्दिक परिवेश मे राजनीतिक चेतना की अति व्याप्ति है। दैनन्दिन जीवन मे चुनावो की राजनीति, खेलो की राजनीति, उद्योगो की राजनीति, भाषा की राजनीति, छात्रो की राजनीति, प्रशासको की राजनीति, व्यवसायियो की राजनीति, श्रमिको की राजनीति, कृषको की राजनीति आदि मुहावरो का प्रयोग करके हम अन्तत- जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राजनीति के वर्चस्व को स्वीकार करते हैं। इधर कुछ असें से 'एज आफ साइन्स' 'एज आफ रीजन' के उपरान्त 'एज आफ पालिटिक्स' मुहावरे का भी प्रचलन हो गया है। हम युग-जीवन के तुच्छ और महान् सभी सदर्भों और जीवन्त ज्वलन्त प्रश्नो को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य मे ही देखने, समझने और सोचने का प्रयास करते हैं। विश्व युद्ध और विश्व शान्ति, दो राष्ट्रो के सीमा-विवाद या जल अधिग्रहण, राष्ट्रीय आय-व्यय या आर्थिक योजनाए, महाविद्यालयो की छात्र ससदो के चुनाव या क्रिकेट की टीम के चयन, चलचित्रो की सेंसर नीति या अन्त्योदय कार्यक्रम अथवा किसी भी महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन मुद्दे पर विचार करते हुए राजनीति हम पर हावी रहती है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि आज के मानव की नियति राजनीतिक हलचलो पर ध्रुवीकृत है। अस्तु, समकालीन साहित्यिक सरचना के सृजनात्मक परिप्रेक्ष्य मे राजनीतिक चेतना के प्रत्ययो का समावेश अवश्यम्भावी है।

महाकाव्य, चूकि मानवीय चेतना के आकलन का सास्कृतिक प्रयास होते हैं और उनमे युग-जीवन का यथार्थ प्रतिफलित होता है, अस्तु, उनमे राजनीतिक चेतना की अतिव्याप्ति अनिवार्य और अपरिहार्य है। स्वातन्त्र्योत्तरकालीन हिन्दी महाकाव्यो के वैचारिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण करने से यह तथ्य उजागर होता है कि राजनीतिक चेतना एक प्रस्थान बिन्दु के रूप मे उभरी है। कुछ महाकाव्य, जिनके कथानक का सम्बन्ध स्वाधीनता सग्राम या स्वतन्त्रता सेनानियो, देश भक्तो, राजनेताओ आदि से है, राजनीतिक चेतना की असख्य रूप छवियो को उकेरते हैं। अन्य महाकाव्य, जिनका कथ्य मुख्यत पौराणिक ऐतिहासिक है, युगीन सदर्भो के परिवृत्त मे राजनीतिक चेतना के धरातलों को सस्पर्शित करते हैं। प्रथम कोटि के महाकाव्यो मे उल्लेखनीय हैं—मेधावी, जननायक, जगदालोक झासी की रानी, प्रताप, युग स्रष्टा प्रेमचन्द, लोकायतन, सरदार भगतसिंह, चन्द्रगुप्त मौर्य निराला, गाधी पारायण, देव पुरुष गाधी, गुरु गोविन्दसिंह, सतमिपाही, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाष चन्द्र, मानवेन्द्र, अम्बेदकर, बगला देश, कल्पान्त आदि। द्वितीय कोटि के महकाव्यो मे अगराज, कैकेयी, वर्द्धमान, जय भारत, देवार्चन, पावती मीरा, ऋतम्बरा, तारक वध, एकलव्य, ऊर्मिला, शक्ति शखनाद, सेनापति कर्ण, वाणाम्बरी, रामराज्य, सारथी, प्रिय मिलन, निषादराज, महाभारती, अरुण रामायण, विदेह साकेत-सत, आजनेय, सीता-समाधि, वीरायन आदि के नाम

परिगणनीय हैं। इस प्रकार तियालिस महाकाव्यकारो के छप्पन महाकाव्यो को प्रस्तुत शोध-कार्य की आधारभूत सामग्री के रूप में लिया गया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य की मौलिकता का पहला प्रतिमान यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो का राजनीतिक चेतना के संदर्भ में अध्ययन-अन्वेषण का यह प्रथम प्रयास है। दूसरे स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक चेतना के ऐतिहासिक अनुक्रम में राजतन्त्रवादी, लोकतान्त्रिक समाजवादी, राष्ट्रवादी और गाधीवादी प्रवृत्तियो के परिप्रेक्ष्य मे समीक्ष्य महाकाव्यो की राजनीतिक चेतना के प्रस्थान बिन्दुओ को खोजा गया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक चेतना से सदर्भित अन्य अनेक छुट-पुट विचारधाराएँ भी हैं या विकसित हो रही हैं, किन्तु उन सबका अन्तर्भाव उल्लिखित प्रमुख विचार-सरणियो के अन्तर्गत ही किया गया है। इस शोध-कार्य की महत्ता का आयाम उन तथ्यो को उद्घाटित करने मे उजागर हुआ है जो पराधीन और स्वाधीन भारत की राजनीतिक चेतना की धुरी बने रहे हैं और जिन्होंने अन्तत महाकाव्यकारो के संवेदन स्तर को झकझोरा और प्रभावित किया है। अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुई हूँ, इसका निर्णय [illegible] प एक अछूते [illegible]

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध म प्राक्कथन और उपसहार क अतिरिक्त छह अध्याय हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य विकास और प्रवृत्तियाँ' शीर्षक प्रथम अध्याय मे काव्य के विविध रूपो मे महाकाव्य की उत्कृष्टता को प्रतिपादित किया गया है। महाकाव्य के पारिभाषिक स्वरूप-विश्लेषण मे पौरस्त्य एव पाश्चात्य प्राचीन आचार्यों तथा विद्वानो के मतो का समीक्षण करते हुए हिन्दी महाकाव्यो के परिसदर्भ मे महाकाव्य विषयक मतो का निरूपण किया गया है। हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विवेचन करते हुए उसके विकास-क्रम के तीन कालो—वीर गाथाकाल, भक्तिकाल और आधुनिक काल को दर्शाया गया है और स्वतंत्रता पूर्व 1900 ई० से लेकर 1947 तक तथा स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। पश्चात हिन्दी महा- [illegible]

प्रवृत्तिमूलक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक चेतना का विकास' शीर्षक द्वितीय अध्याय मे प्राचीन, मध्यकालीन एव समकालीन राजनीतिक चेतना के स्वरूप का निरूपण किया गया है। प्राचीन भारत की मर्यादित या गणतत्रात्मक शासन प्रणाली, मध्य युग मे धर्म और राजनीति का गठबंधन और सामन्ती सरक्षण मे राजनीतिक चेतना की विकृति का विश्लेषण किया गया है। पश्चात् आधुनिक युग के प्रारम्भ मे—सन् 1857 की क्रान्ति, राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक नवजागरण और सुधारवादी आन्दोलनों का विवेचन किया गया है। पाश्चात्य सम्पर्क और स्वतन्त्रता, समानता तथा बधुत्व की भावनाओ का प्रचार-प्रसार और उनका राजनीतिक जीवन पर प्रभाव भी [illegible]

राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति और नये संविधान की रचना के पश्चात् स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विकसित राजनीतिक चेतना के प्रवृत्तिमूलक वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है। संविधान के अनुसार लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना, दलीय शासन-प्रणाली का प्रारम्भ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ने से पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद आदि विचारधाराओं का देश की राजनीति पर प्रभाव भी दर्शाया गया है। अन्त में कांग्रेस दल का सन् 1947 से 1977 तक वर्चस्व, राष्ट्रीय जीवन में उग्र जनवादी एवं क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रवृत्तियों का उदय एवं प्रभाव, अल्पावधि के लिए सन् 1977 में जनता पार्टी का सत्ता में आगमन और पुनः राजनीतिक चेतना का परिवर्तन आदि बिन्दुओं को लक्ष्यीभूत करके स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक चेतना के विकास का महत्वांकन किया गया है।

'राजतन्त्रवादी चेतना' शीर्षक तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम राजतन्त्रवादी चेतना के स्वरूप विकास के अन्तर्गत सामन्ती चेतना के साथ राजा एवं राज्य-व्यवस्था की भावना का क्रमिक विकास—राजतन्त्र की उत्पत्ति, विकास एवं राजतन्त्र तथा अन्य राज्य व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। अनन्तर राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र के दोषों को दर्शाते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य राजतन्त्रवादी विचारों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में राजतन्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों (राजा को ईश्वर का अवतार मानना, आनुवांशिकता, राजाज्ञा की सर्वोपरिता, राजनीतिक सत्ता का राजा या सामन्त में केन्द्रित होना आदि) के संदर्भ में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों का अध्ययन किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक 'लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना' है। इस अध्याय में लोकतन्त्र और समाजवाद के पारिभाषिक विश्लेषण के साथ पूँजीवाद, प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद आदि विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का निरूपण किया गया है। समाजवादी विचार-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समाजवाद के प्रमुख भेद-प्रभेदों—कल्पनावादी समाजवाद, फेबियन समाजवाद, प्रजातान्त्रिक समाजवाद, श्रेणी समाजवाद, वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद आदि—का अध्ययन किया गया है। पश्चात मार्क्सवादी दर्शन के परिसंदर्भ में लोकतान्त्रिक समाजवाद की भारतीय परम्परा और उनके प्रमुख चिन्तकों—एम० एन० राय, आचार्य नरेन्द्र देव, जवाहरलाल नेहरू, डा० राममनोहर लोहिया आदि—के विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है। अन्ततः लोकतान्त्रिक समाजवाद की मूलभूत प्रवृत्तियों (यथा—समाज के संगठन का लोकतन्त्रीय आधार, जन शक्ति में आस्था, व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की मान्यता, पूँजीवादी शोषण का प्रतिरोध, शोषितों, दलितों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक समता की सकल्पना आदि) के प्रसंग में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों का अध्ययन किया गया है।

'राष्ट्रवादी चेतना' शीर्षक पाँचवें अध्याय में राष्ट्रवाद के पारिभाषिक स्वरूप विश्लेषण, राष्ट्र और राज्य का सम्बन्ध एवं अन्तर तथा राष्ट्र और राष्ट्रीयता का विवेचन किया गया है। पश्चात् राष्ट्रीयता के तत्त्वों और राष्ट्रवाद के प्रकारों का अनुशीलन किया गया है। राष्ट्रवादी चेतना के विकासात्मक परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग से

लकर आधुनिक युग तक राष्ट्रीय भावधारा की अविच्छिन्न गति को दर्शाया गया है। सन् 1857 की क्रान्ति के पश्चात् नवजागरण की पृष्ठभूमि मे सुधारवादी सांस्कृतिक आन्दोलनो—आर्यसमाज प्रार्थनासभा, ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि के माध्यम से राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना की जागृति का विवेचन किया गया है। अन्त मे राष्ट्रवादी चेतना की प्रमुख प्रवृत्तियो के परिप्रेक्ष्य मे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो का अध्ययन-अन्वेषण प्रस्तुत किया गया है।

'गाधीवादी चेतना' शीर्षक छठे अध्याय मे गाधीवाद की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत गाधीजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय, स्वतन्त्रता संग्राम मे उनका योगदान और गाधीवाद का भारतीय जन जीवन पर प्रभाव दर्शाया गया है। गाधीवाद का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उनके दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक-धार्मिक पक्षो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अनन्तर गाधीवाद के सुधारवादी एव समन्वयवादी स्वरूप को लक्ष्यीभूत करते हुए उसे सर्वोदयी समाज की सकल्पना का आधार सिद्ध किया गया है। अन्त मे गाधीवादी चेतना की प्रमुख प्रवृत्तियो (यथा—अस्पृश्यता उन्मूलन, साम्प्रदायिक एकता पर बल, सत्याग्रह, अहिंसा की शक्ति मे अटूट विश्वास, सर्वोदय समाज की सकल्पना आदि) के सदर्भ मे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो का अध्ययन-अनुशीलन किया गया है।

उपसहार के अन्तर्गत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निष्कर्षो, उपलब्धियो एव सभावनाओ को निरूपित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य को सम्पन्न करने में मुझे जिनसे अपेक्षित सहयोग और प्रेरणा मिली उनमे सर्वश्री डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश, डा० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, डा० लक्ष्मीकान्त शर्मा, श्री चम्पालाल राका, डा० पुष्करदत्त शर्मा, डा० सम्पतराज जैन सरल, डा० रामकिशन सैनी, डा० देवदत्त शर्मा, डा० उमाकान्त गुप्त, कुमारी प्रभा खत्री एव परिवार के सदस्यो मे ममतामयी मम्मी श्रीमती राजकुमारी कश्यप, भाइयो सुनील, सुधीर, सुकुमार, बहन सुचित्रा, भाभी श्रीमती लता कश्यप, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री योगराज के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। इस शोध-प्रबन्ध के आद्यात लेखन मे जिनका प्रोत्साहन मेरा अडिग सम्बल रहा, उन पिताश्री डा० शिवचरण कश्यप, प्रधानाध्यापक, श्री जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, बीकानेर के प्रति आभार प्रकट कर उसके स्नेह से मैं वचित नही होना चाहती। इस शोध-प्रबन्ध के सुरुचिपूर्ण टकण के लिए श्री दिलीप कुमार धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध हिन्दी महाकाव्यो के मर्मज्ञ श्रद्धेय गुरुवर्य डा० देवी प्रसाद गुप्त—अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय डूगर महाविद्यालय, बीकानेर के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मे लिखा गया है। गुरुवर की स्नेहमयी डाट और गुरुपत्नी श्रीमती सरला गुप्त के वात्सल्य भाव से ही मेरी यह शोध-साधना विधिवत् सम्पन्न हुई है। डा० गुप्त ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय-चयन से लेकर आद्यात लेखन तक प्रत्येक चरण पर मेरा मार्गदर्शन किया एव शोध-कार्य के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो का निराकरण

करते हुए इसके प्रति मुझे निष्ठावान् बने रहने की प्रेरणा दी। इस अवसर पर आभार प्रदर्शन की औपचारिता मे न पडकर मैं उनके शुभाशीष हेतु श्रद्धावनत् हू।

अन्त मे अपनी त्रुटियो के प्रति विद्वज्जनो से क्षमा चाहते हुए अपनी शोध-साधना का यह सुमन मा भारती को अर्पित करती हू।

रामनवमी, सवत 2043 डॉ० सुषमा कश्यप

विषयानुक्रमणिका

1

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य : रूपविकास और प्रवृत्तियाँ

ाव्य की विविध विधाओ मे महाकाव्य का वैशिष्ट्य

परम्परागत रूप मे काव्य के मुख्यतः दो भेद उपलब्ध होते हैं—दृश्य काव्य ौर श्रव्य-काव्य । दृश्य काव्य पुनः रूपकादि अट्ठारह भेदोपभेदों में विभक्त हुआ है । व्य-काव्य के तीन उपभेद किये गये हैं—(1) गद्य, (2) पद्य, (3) चम्पू । गद्य-पद्य मथित रचना को चम्पू कहते हैं । चम्पू काव्य का अधिक प्रचलन नहीं हुआ और अततः ाव्य के प्रधानतः दो भेद ही प्रचलित हुए—गद्य और पद्य । गद्य-काव्य छन्द के बन्धनों ा मुक्त होता है किन्तु पद्य छन्दोबद्ध रचना होती है । पद्य-काव्य के पुन. दो प्रभेद किये ये हैं—(1) प्रबन्ध काव्य, (2) मुक्तक काव्य ।[1] विज्ञान के बौद्धिकता प्रधान युग े ज्ञान का निरन्तर विस्फोट हो रहा है । पठन-पाठन की साधन-सुविधाएँ निरन्तर ढ़ती जा रही हैं । प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ, काव्य के रूपों और विधाओं में भी अपेक्षित परिवर्तन देखने को मिलता है । दृश्य-काव्य चलचित्रों, दूरदर्शन आदि में सुलभ है, किन्तु श्रव्य-काव्य का अधिकांश भाग पठित-काव्य के रूप में विकसित हो रहा है ।

आकार-प्रकार को ध्यान मे रखते हुए आचार्य रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के महत् और लघु दो भेद किये हैं ।[2] आचार्य विश्वनाथ ने प्रबन्ध काव्य के तीन भेद माने हैं—(1) महाकाव्य, (2) काव्य और (3) खण्डकाव्य ।[3] किन्तु अधिकांश विद्वान् प्रबन्ध काव्य के दो ही भेद स्वीकार करते हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य । प्रबन्ध काव्य में कथा सूत्र क्रमबद्ध होता है, किन्तु मुक्तक में पद्य की प्रत्येक इकाई की स्वतन्त्र सत्ता होती है और अपना पूर्ण प्रभाव व्यक्त करता है । खण्डकाव्य मे जीवन के किसी एक पहलू का ही चित्रण होता है । डॉ० गोविन्दराम शर्मा के शब्दो मे—खण्डकाव्य मे जीवन के किसी एक पहलू अथवा किसी एक घटना को प्रमुख स्थान दिया जाता है । इसमे अन्य बातें महाकाव्य जैसी ही होती हैं, किन्तु उसका आकार महाकाव्य के समान विशाल नहीं होता । मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध', रत्नाकर का 'गगावतरण', श्यामनारायण पाण्डेय कृत 'हल्दीघाटी' जैसी रचनाएँ खण्डकाव्यों की श्रेणी मे आती हैं ।[4]

महाकाव्य का वैशिष्ट्य स्वयसिद्ध है । 'महा' का अर्थ 'महत्' है । अतः

'महाकाव्य' शब्द 'महत्' और काव्य' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'महाकाव्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में मिलता है—

"किं प्रमाणमिदं काव्यम् का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगव.॥[5]

फलतः महाकाव्य अपने आकार की विशालता, किसी महापुरुष की प्रतिष्ठा और श्रेष्ठ रचयिता की कृति होना चाहिए। डॉ० देवीप्रसाद गुप्त ने महाकाव्य के वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"काव्य के सन्दर्भ में महत्ता का प्रतिपादन दो प्रकार से हो सकता है—एक तो काव्यात्मक उपकरणों की महानता और दूसरे प्रतिपाद्य की, अर्थात् कोई रचना काव्य-कला की भूमि पर महत् होने से महाकाव्य होती है या महत् जीवन-चेतना को आत्मसात् करके अभिव्यक्त करने से। यद्यपि दोनों दृष्टियों से काव्य महत् बनता है किन्तु महाकाव्य को महार्घता प्रदान करने के लिए कलात्मक सौन्दर्य के साथ जीवन दर्शन की विराट् व्यंजना भी अपेक्षित है।"[6] डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"महाकाव्य में श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ समाहित होनी आवश्यक हैं और ये उपलब्धियाँ प्रधानतः मूर्तलित और अन्तर्योजित प्रतीकों, सौन्दर्यबद्ध प्रतिमानों, विस्तृत वर्णनों एवं समृद्ध विवरणों के साथ साथ महाकाव्य के कथानक की सुबद्धता, वास्तु-मयता (आरकीटेक्टोनिक) तथा प्रतीकात्मकता को समेट कर चलती हैं जिससे महाकाव्य व्यष्टि मानस का उद्गार न होकर राष्ट्रीय मानस का उद्घोष बन जाता है।"[7] डॉ० विनय लिखते हैं—"महाकाव्य का प्रणयन संस्कृति के महत्-पुण्य से होता है। महाकवि विश्व के हृदय को अपने हृदय में अनुभव कर उसे जीवन की समग्र विशालता से चित्रित करता है। संस्कृति के पक्ष विशेष का आदर्शात्मक विवेचन महाकवि का प्रमुख लक्ष्य होता है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए महाकवि लोक जीवन के व्यापक आदर्शों को अलंकृत कर महाकाव्य में अनुस्यूत करता है। अतः महाकाव्य में जीवन का व्यापक चित्र होता है।"[8] सी० की० वैद्य के अनुसार—"महाकाव्य का विषय और उद्देश्य महान होना चाहिए, जिससे समाज में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा हो सके, उसके विचार विषयानुरूप महान हों और आदर्श तथा विचारों की प्रतिष्ठा संवादों तथा कथा के मध्य सरलता से होती रहे।"[9] डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने महाकाव्य की महत्ता का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—'जिसे महाकाव्य या क्लासिक बनने का गौरव मिलता है वह सामान्य से भिन्न तथा बौद्धिक तत्त्व से पूर्ण कृति होती है। उसमें व्यष्टि मानस का उद्गार नहीं गूँजता वरन् समष्टि मानस का उद्गार आद्योपान्त व्याप्त रहता है।"[10] डॉ० गोविन्दराम शर्मा ने काव्य के समस्त रूपों में महाकाव्य को श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है—"जहाँ गीतिकाव्य जैसी भाव प्रधान कविता में कवि अपनी भावना में लीन होकर संसार से अलग एकान्तसेवी बनकर आत्मानन्द का अनुभव करता है, वहाँ महाकाव्य में वह जनता या समाज के योग-क्षेम की भावना को लिये हुए, उसके सुख-दुःख में हाथ बँटाता है। महाकाव्य में कवि जन-वाणी में अपनी वाणी और लोकसत्ता में अपनी सत्ता को मिला देता है।"[11] एबरक्राम्बी ने महाकाव्य के रचनाकार को अति विशिष्ट कलाकार

ना है।[12] उद्धृत मतों से काव्य के नाना रूपों में महाकाव्य की महार्घता स्वत ष्ट है।

महाकाव्य का प्रणयन काव्य की अन्य विधाओं की तरह नित्य और नियमित ही होता। किसी महान् जाति के श्रेष्ठ मनीषी ही किसी विशिष्ट समय मे महाकाव्य ी रचना करते हैं। किसी महान् जाति के जीवन की महानता उसके सांस्कृतिक मानस ा अनुभूति-प्रवण एवं रससिक्त चित्रण होता है। महाकाव्य किसी युग विशेष की हान रचना होती है जिसमे हजारों वर्षों का समय सकुचित होकर शाश्वत बोध को द्भूत करता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट सी रचनाएँ महाकाव्य के महत्त्व को आज भी उजागर करती हैं। महाकाव्य को गौरव दान करते हुए डॉ० शकुन्तला दुबे ने लिखा है—"महाकाव्य मे जो महत् शब्द है ह बाह्य आकार की महत्ता की ओर ही नहीं आभ्यान्तरिक महत्ता की ओर भी सकेत करता है जिसे हम अनुभूति की गरिमा कहते हैं। इसमे कोई सदेह नहीं कि महाकाव्य किसी महाकवि की ही रचना होती है जिसमे किसी महापुरुष की जीवन गाथा का सर्वांगपूर्ण चित्रण साधारण काव्य की पृष्ठभूमि से भिन्न एवं उच्च पृष्ठभूमि पर होता है।"[13]

उपर्युक्त विवेचन के आलोक मे कहा जा सकता है कि महाकाव्य अपने समस्त आकार-प्रकार एव गुणात्मक उत्कर्ष के कारण आज भी महान काव्य सरचना है। काव्य की अन्य सभी विधाओं मे महाकाव्य उत्कृष्ट है। वर्तमान युग की गद्य विधाओं मे उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हो सकता है, किन्तु महाकाव्य के वर्चस्व को उसने भी प्राप्त नहीं किया है। महाकाव्य विराट् जीवन दर्शन की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है। यह किसी भी जातीय जीवन के बहुआयामी विकास क्रम को प्राणवन्त स्वरूप प्रदान करता है। कथानक, नायक, कल्पना, उद्देश्य, भाषा, शैली आदि सभी तत्त्वों का महत्त्वाकन इस विधा को मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित करता है। महाकाव्य युग-जीवन से रस-रूप ग्रहण कर कालजयी रचना के रूप मे रचा जाता है। महाकाव्य सास्कृतिक गतिशीलता का पड़ाव स्थल है जिसमे जातीय एव राष्ट्रीय जीवन की शत-शत छवियाँ दीप्तिमान होती हैं।

महाकाव्य का पारिभाषिक स्वरूप-विवेचन और लक्षण

महाकाव्य को एक निश्चित परिभाषा मे बाँधना कठिन है। समय-समय पर प्रतिभावान् कवि मनीषियों ने जातीय जीवन को अपनी काव्य प्रतिभा का विषय बनाया और जो रचना प्रकाश मे आई, प्रधानत इसी रचना मे महाकाव्य के स्वरूप की उद्भावना हुई है। वस्तुत महाकाव्य की रचना पहले हुई और उसके लक्षण एव स्वरूप निर्धारण का उपक्रम उस रचना के पश्चात् ही हुआ। महाकाव्य को परिभाषित करने की कठिनाई को व्यक्त करते हुए डॉ० शम्भूनाथसिंह ने लिखा है—"महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न युगों मे उसका स्वरूप बदलता रहा है। यही कारण है कि विभिन्न युग के साहित्याचार्यों ने उसके भिन्न-भिन्न

मानदण्ड स्थिर किये; फिर भी महाकाव्य की सम्यक् परिभाषा आज तक स्थिर नही हो सकी है।"[14] श्री दिनकर लिखते हैं—"··· विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग मे मील के पत्थरो के समान होते हैं। वे व्यजित करते हैं कि मनुष्य किस युग मे कहाँ तक प्रगति कर सका है।"[15] डॉ० देवीप्रसाद गुप्त की भी यही मान्यता है कि—"महाकाव्य की सार्वकालीन या सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है, क्योकि विभिन्न युगो में उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। महाकाव्य युगीन जीवन चेतना को आत्मसात् करने के कारण व्यापक अर्थ मे प्रगतिशील रचना है।"[16] प्रस्तुत सन्दर्भ मे डॉ० हजारीप्रसाद का अभिमत है कि—"महाकाव्य शब्द का प्रयोग आजकल दो अर्थो में होने लगा है—अग्रेजी के 'एपिक' शब्द के अर्थ मे और प्राचीन आलकारिक आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सर्गबद्ध काव्य के अर्थ मे। साधारणत यूरोपियन पण्डितो ने भारतीय एपिक कहकर केवल दो ग्रथो की चर्चा की है, महाभारत और रामायण की।"[17]

उपर्युक्त कठिनाइयो के होते हुए भी महाकाव्य को परिभाषित किया जाता रहा है। हाँ, प्रतिभासम्पन्न महाकाव्यकारो ने अपने से पूर्व रचयिताओ का अनुगमन करत हुए भी मौलिक काव्य रचे हैं। 'रामायण' और 'इलियड' महाकाव्यों का स्वरूप 'महाभारत' और 'ओडेसी' से भिन्न है। महा-काव्य प्रबन्ध-काव्य का प्रमुख प्रभेद है। महाकाव्य मे बाह्य जगत् का रागात्मक चित्रण होता है। यह विषय-प्रधान काव्य होता है और कवि आत्मसत्ता से ऊपर उठकर समष्टिगत जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। महाकाव्यकार समाज अथवा जाति का प्रतिनिधि होता है और उसके सुख-दु ख, हर्ष-विषाद, योग क्षेम क भावो के साथ एकाकार हो जाता है।

प्राचीन आचार्यों की मान्यता

महाकाव्य के स्वरूप का विशद् विवेचन हमे सस्कृत के अनेक आचार्यों के लक्षण ग्रथो मे उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य की विवेचना की है, आं के प्राय सभी आलकारिको ने उनकी परिभाषा को स्वीकारा है। भामह ने काव्य वे पाँच भेद किये हैं—"सर्गबध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबध। इनमे रं उन्होने सर्गबध को ही महाकाव्य कहा और यह बताया कि उसम महान चरित्रो क विधान होता है तथा वह स्वय महान या बडा होता है। ग्राम्य शब्दो का परिहार अलकारों म पूर्ण, यथार्थ या सच्ची घटनाओ को लेकर निर्मित होता है। राज दरबार दूत, आक्रमण, युद्ध और अत म नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है। नाटक की समस्त सधियो का योजन रहता है। काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारो वर्गों का निरूपण होता है जिसम प्रधानता अर्थ को दी जाती है। लोक स्वभाव से युक्त सभी रसो का समावेश होता है।"[18] एम० विन्टरनित्ज लिखते हैं—" 'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य मे महाकाव्यों के विकास के दो महास्रोत हैं। इससे पूर्व वेदो के गीतो मे महा-काव्य के प्रारम्भिक लक्षण मिलते हैं। ऋग्वेद के धार्मिक मत्रो मे आख्यान वाले मत्र उपलब्ध होते हैं। ये आख्यान सूक्त आगे 'महाभारत' के सवादो के प्रेरणा स्रोत बने।"[19] आचार्य भामह के समक्ष रामायण और महाभारत महाकाव्य के आदर्श रूप मे रहे होगे।

उन्हीको दृष्टि मे रखकर भामह ने महाकाव्य के प्रधान तत्व निश्चित किये। आचार्य भामह के अनुसार महाकाव्य के आठ तत्त्व इस प्रकार हैं—

1—सर्गबद्धता
2—महान चरित्र और विजयी नायक
3—महत्ता
4—शिष्ट नागर प्रयोग और अलकृति
5—जीवन के विविध रूपो, अवस्थाओ और घटनाओ का चित्रण
6—नाटकीय गुण
7—अति व्याख्यारहित होना अर्थात् सघन्ति कथानक और प्रभाव की अन्विति
8—ऋद्धिमत्ता।[20]

इस प्रकार आचार्य भामह ने महाकाव्य का जो विवेचन किया है और परिभाषा निश्चित की, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र विश्वनाथ प्रभृति परवर्ती आचार्यों ने एकाधिक बिन्दु को घटा बढाकर उन्हींको मान्यता दी है। संस्कृत के महाकाव्यो के आधार पर महाकाव्य के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं—सर्ग, छन्द, नायक, कथा, वर्णनीय, रस, शैली और उद्देश्य।[21] आचार्य दण्डी ने अपने ग्रथ 'काव्यादर्श' मे महाकाव्य सबधी सभी लक्षणो को अपनाया तो है किन्तु भामह के प्रधान तत्वो को गौण रूप दिया है। आचार्य दण्डी ने वर्णन वैविध्य, अलकृति, चमत्कार और केवल रसानुभूति आदि को महत्त्व दिया है। आचार्य दण्डी न आशीर्वचन, नमस्क्रिया, वस्तुनिर्देश और मध्य के उद्यान, सलिल क्रीडा, मधुपानोत्सव, विवाह, विप्रलम्भ योजना, कुमारोदय वर्णन आदि तथा विभिन्न सर्गों मे भिन्न-भिन्न छदो के उपयोग की जो बातें बताई हैं वे महाकाव्य के तात्विक लक्षण न होकर गौण लक्षण हैं।[22] परवर्ती काव्याचार्यों ने दण्डी द्वारा निर्धारित परिभाषा का ही अनुकरण किया। डॉ० शम्भूनाथसिंह के शब्दो मे—' दण्डी के 'का यादर्श' ने परवर्ती कवियों को कितना अधिक प्रभावित किया, यह इसी से स्पष्ट है कि परवर्ती महाकाव्य दण्डी के लक्षणो को सामने रखकर रचे गए प्रतीत होते हैं। अलकृति और चमत्कार उनका प्रधान लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महा उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नही रह गया।'[23] सातवीं शताब्दी मे आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रथ 'काव्यालकार' म महाकाव्य को परिभाषित किया है। आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य को परिभाषित करते समय पूर्व रचित महाकाव्यो महाभारत, रामायण एव प्राकृत, अपभ्रंश के महाकाव्यो को ध्यान मे रखा था। रुद्रट की महाकाव्य सबधी परिभाषा के अन्तर्गत पाश्चात्य महाकाव्यों के लक्षण भी समाहित हैं। रामायण, महाभारत के अतिरिक्त पाश्चात्य रोमाचक महाकाव्य भी उनकी परिभाषा म आ जाते हैं।

आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य की कथा के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महत् व लघु दो भेद किये हैं। रुद्रट ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित करते समय नायक और प्रतिनायक दोनों का परस्पर युद्ध और नायक को विजयी बताया है। उन्होने अवान्तर कथाओं का होना भी एक लक्षण माना है। रुद्रट की परिभाषा मे युगीन जीवन के

विविध पहलुओ, घटनाओ, आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है । रुद्रट की परिभाषा मे विस्तार की अधिकता है । आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य के विशिष्ट और व्यापक तत्वो का उल्लेख किया है । सभवत रुद्रट ने भामह और दण्डी के लक्षणो की व्याख्या करके अपने ढग से महाकाव्य की परिभाषा दी है । रुद्रट ने महाकाव्य के चार प्रधान लक्षणो का निर्देश किया है—"महदुद्देश्य, महच्चरित्र, महती घटना और समग्र जीवन का रसात्मक चित्रण, महाकाव्य के बस ये ही चार प्रधान लक्षण होते हैं और रुद्रट ने उनका निर्देश करके अन्य आचार्यों से अपने को भिन्न कर लिया है।"[24] रुद्रट के बाद आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने महाकाव्य के सबध मे विस्तार से विवेचन किया है । आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत-अपभ्र श के प्रकाड पडित थे । उन्होने काव्यानुशासन' मे महाकाव्य की परिभाषा करते समय प्राकृत-अपभ्र श के महाकाव्यो को ध्यान मे रखा था । आचार्य हेमचन्द्र ने सूत्र रूप मे महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"पद्य प्राय सस्कृत प्राकृतापभ्र श ग्राम्यभाषा निबद्ध-
भिन्नान्त्यवृत्त सर्गाश्वा ससध्यवस्कन्ध कबध-
सत्सधिशब्दार्थं वैचित्र्योपेत महाकाव्य ।"[25]

हेमचन्द्र ने महाकाव्य सबधी दो-तीन शाश्वत लक्षणो का ही उल्लेख किया है, अन्य बातें सामान्य हैं । वैसे उन्होने युग जीवन के सम्पूर्ण अनुभवो के चित्रण पर विशेष बल दिया है । आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा मे दण्डी के लक्षणो की ही पुनरावृत्ति परिलक्षित होती है ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की महाकाव्य सबधी परिभाषा विवेचनात्मक है और स्पष्ट भी । आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतो को अपनी परिभाषा मे समाहृत किया है । उनकी परिभाषा दण्डी के महाकाव्य सबधी परिभाषा का 'विकसित और परिवर्द्धित' रूप है ।[26] उनके अनुसार—'जो सर्गों मे बँधा हुआ हो, वह महाकाव्य है । उसम एक नायक हाता है जो देवता या उत्तम कुल का धीरोदात्त गुणो से युक्त क्षत्रिय होता है । एक वश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं । श्रृगार, वीर और शान्त रस मे कोई एक अगीरस होता है, अन्य रस गौण होते हैं । नाटक की सभी सधियाँ रहती हैं । उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध महापुरुष की होती है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चतुर्वर्ग मे से उसका एक फल दिखाया जाता है । आरम्भ में मगलाचरण या वर्ण्य विषय का निर्देश होता है । कही-कही खलो की निंदा और सज्जनो की प्रशसा होती है । उसम कम से कम आठ सर्ग रहने आवश्यक हैं । प्रत्येक सर्ग मे एक ही छद होता है, किन्तु सर्ग का अतिम पद्य भिन्न छद का होता है, यद्यपि *कहीं-कहीं अपवाद भी दीख पडता है ।* सर्ग के अन्त मे अग्रिम कथा की सूचना भी होनी चाहिए । उसम सध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, दिवस, प्रात काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सयोग, वियोग, स्वर्ग, नर्क, यात्रा, सग्राम, अभ्युदय, पतन आदि विषयो का यथासभव सागोपाग वर्णन होना चाहिए । उसका नामकरण कवि अथवा चरित्रनायक के आधार पर होना चाहिए । प्राय. स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं ।"[27]

साहित्य-दर्पणकार ने महाकाव्य विषयक जो लक्षण निर्धारित किए हैं, वे इस प्रकार हैं—

1—महाकाव्य का कथानक सर्गों मे विभाजित होता है।

2—कथानक ऐतिहासिक होता है।

3—शृंगार, वीर और शान्त रसो मे से कोई एक अंगीरस होता है।

4—नाटक की पाँचो संधियाँ रहती हैं।

5—नायक देवता या कुलीन वंश का धीरोदात्त गुणो से युक्त होना चाहिए।

6—चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे से किसी एक फल की कामना दर्शायी जाती है।

7—प्रारम्भ मे मंगलाचरण अथवा मुख्य कथा की ओर निर्देश होता है।

8—इसमे कभी-कभी दुर्जनो की निंदा और सज्जनो की प्रशंसा होती है।

9—इसमें कम से कम आठ सर्ग होने आवश्यक हैं। प्रत्येक सर्ग मे एक ही छंद होता है। सर्गों का आकार लगभग एक-सा ही रहता है। सर्गांत मे छंद परिवर्तन उचित होता है। सर्ग के अन्त म आगे की कथा की सूचना रहती है।

10—इसमे सूर्य, चन्द्र, सध्या, प्रातः, रात्रि, दिन, मृगया, नदी, पर्वत, समुद्र, संयोग वियोग, स्वर्ग, नर्क, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, मंत्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि का विशद वर्णन होता है।

11—महाकाव्य का नामकरण कवि, नायक, कथावस्तु अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम के आधार पर होना है। सर्गों क नाम-कथा प्रसंग के आधार पर होता है।[30]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य विषयक सभी परिभाषाओ मे रचना-विधान की व्यापकता को दर्शाया गया है। इन लक्षणो के विश्लेषण से यह तथ्य उजागर होता है कि महाकाव्यकार असाधारण प्रतिभा सम्पन्न कवि ही हो सकता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो का मत

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र मे महाकाव्य संबंधी विवेचन प्रसिद्ध ग्रीक महाकाव्यो 'इलियड' और 'ओडेसी' पर आधृत है। आंग्ल भाषा मे महाकाव्य को 'एपिक' (Epic) कहा गया है। 'एपिक' शब्द ग्रीक भाषा के 'इपोस' (Epos) से बना है। 'इपोस' का अर्थ शब्द अथवा गीत है। पश्चात् इसका प्रयोग 'वीरकाव्य' के अर्थ मे होने लगा, जिसमे किसी महान् घटना का वर्णन भव्य शैली मे किया गया हो। 'इपोस' शब्द के अन्य पर्याय षट्पदी, वक्तव्य, पद्य, पंक्ति आदि भी हैं। 'एपिक' शब्द विशेषण है। इसका प्रयोग शब्द से गीत और कालान्तर मे आख्यानात्मक लम्बी कविता के लिए हुआ है।[31] वेब्स्टर्स के अंग्रेजी शब्दकोश मे 'एपिक' के विविध अर्थ इस प्रकार दिये हैं—

epos (Gr.)—(a word, a song)

इपोस—(एक शब्द, एक गीत)

1—भव्य शैली मे रचित लम्बी वर्णनात्मक कविता जिसमे 'इलियड' या 'ओडेसी' की भांति ऐतिहासिक या परम्परागत नायक नायको के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन हो और उसका ढांचा कुछ औपचारिकताएँ लिए हुए हो।

2—महाकाव्य के गुणो से युक्त वर्णनात्मक गद्य या नाटक।

3—महाकाव्य के लिए उचित विषय मे अनुसार क्रमिक घटनाओ का विवरण।[30]

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र मे महाकाव्य के दो प्रकार स्वीकार किये गये हैं—

1—विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth)

2—अलकृत या कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)

अलंकृत महाकाव्यो के दो वर्ग हैं—(1) शास्त्रीय महाकाव्य, (2) रोमाचक महाकाव्य। शैली की दृष्टि से भी महाकाव्यो की कई श्रेणियां होती हैं यथा—(1) मनोवैज्ञानिक महाकाव्य, (2) गीतात्मक महाकाव्य, (3) नाटकीय महाकाव्य, (4) रूपक कथात्मक महाकाव्य।[31] 'दी बुक आफ एपिक' की भूमिका मे महाकाव्य को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—'एपिक' या महाकाव्य प्रधानतः उस वीर रस प्रधान काव्य गाथा को कहते हैं जिसमे सुख-दुःख, सयोग-वियोग, गीति तत्व और कथा तत्वादि श्रेष्ठ काव्य' के सभी गुणों का हृदयहारी चित्रण हो, जिसमें स्वाभाविक जीवन के मनोहारी चित्र और घात-प्रतिघात वर्णित हो और जिसमे सारे तत्वो का प्रकृत समन्वय इस कुशलता से किया गया हो कि कृति सदा के लिए अमर हो जाये।[32]

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'काव्य शास्त्र' मे होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' को आदर्श मानकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। उन्होने लिखा है—महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारो का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः गंभीर एव पूर्ण हो वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली मे रचा गया हो, जिसमे आद्यान्त एक छन्द हो; जिसमे एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमे प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो; जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि मे समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हो, कथा संभवनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।[33] अरस्तू न केवल काव्य को अपितु कला मात्र को ही अनुकरण मानते हैं। उनके अनुसार महाकाव्य में कथात्मक अनुकरण होता है। इसमे षट्पदी छन्द का प्रयोग, दुखान्त नाटक (Tragedy) के समान होता है। महाकाव्य की कथा प्रवाहमयी और सजीव इकाई की तरह प्रतीत होती है। डॉ० नगेन्द्र ने महाकाव्य सम्बन्धी अरस्तू की परिभाषा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—महाकाव्य काव्यानुभूति का वह भेद है, जिसका रूप समाख्यानात्मक हो, जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, जिसमे उन्नतर कोटि के व्यक्तियो का चरित्र-चित्रण हो, जिसकी सीमाएँ विस्तृत हो और जो अनेक घटनाओं के उचित समावेश के कारण घनत्व और गरिमा से युक्त हो।[34] महाकाव्य और त्रासदी के प्रयोजन मे अन्तर होते हुए भी साम्य है। अरस्तू के मतानुसार-महाकाव्य का प्रयोजन त्रासदी के प्रयोजन से और इस दृष्टि से काव्य मात्र के प्रयोजन से मूलतः भिन्न नही है—मानव मन का विरेचन या परिशुद्धि ही उसका मूल प्रयोजन है; किन्तु महाकाव्य की विरेचन प्रक्रिया त्रासदी की अपेक्षा

मथर और उसी मात्रा में कम सफल होती है।

महाकाव्य का प्रभाव भी अन्तत मन शाति के रूप मे ही होता है, परन्तु उसके परिपाक की प्रक्रिया मे तीव्रता अपेक्षाकृत कम और गरिमा तथा विस्मय का तत्व अधिक रहता है।[35] महाकाव्य के कथानक में अनेक उपाख्यान इस प्रकार अनुस्यूत होते हैं जिससे उसके कथानक की अन्विति रहे। महाकाव्य मे उपकथाएँ और उसके भाग उचित महत्ता और गुरुत्व से युक्त होने चाहिए ताकि सम्पूर्ण महाकाव्य महान प्रतीत हो जबकि त्रासदी मे इससे भिन्नता भी हो सकती है।[36] महाकाव्य का आकार बड़ा होता है और उसमे अलौकिक एव असभव तत्वो द्वारा आश्चर्य उत्पादन की क्षमता होती है।[37] अरस्तू के पश्चात् अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने महाकाव्य का विवेचन किया है।

पाश्चात्य विद्वानो की मान्यता है कि महाकाव्य का विकास वीर युग मे हुआ। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने योरोपीय महाकाव्य के विकास की चार अवस्थाओ का उल्लेख किया है—पहली अवस्था वीर भावना की मानी जाती है और महाकवि होमर को इस प्रथम अवस्था का प्रतिनिधि महाकवि स्वीकार किया है। दूसरी अवस्था शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक भावना के महाकाव्यो की है इसके प्रतिनिधि महाकाव्यकार वर्जिल, दाते, कैमास और मिल्टन हैं। तीसरी अवस्था रोमाचक भावना की है इसका प्रतिनिधित्व स्पेन्सर, एरिआस्टो, टेसो आदि करते हैं। चौथी अवस्था आधुनिक स्वच्छन्दतावादी भावना की है जिसके महाकवि गेटे, टेनीसन, ब्राऊनिंग, विक्टर ह्यूगो, हार्डी आदि हैं।[38] फ्रेंच विद्वान ली बस्सू के अनुसार—'महाकाव्य एक ऐसी छदोबद्ध रूपक रचना है जिसमे प्राचीन महत्वपूर्ण घटनाओ का वर्णन हो।''[39] हाब्स ने कहा है कि—'वीरतापूर्ण कथात्मक काव्य महाकाव्य होता है और वीरतापूर्ण नाटकीय काव्य त्रासदी है।''[40] एफ० बी० गमर ने महाकाव्य को महत् कार्य का निदेशक बताते हुए उसे युग की स्वत उत्पाद्य कृति कहकर अभिहित किया है और लक्ष्य किया है कि महाकाव्य का स्वरूप जातीय होता है तथा उसमे दो जातियो का परस्पर सघर्ष दिखाना कवि का एकमात्र लक्ष्य होता है।[41] सी० एम० बावरा ने लिखा है—"महाकाव्य सामान्यत कथात्मक काव्य है जिसका आकार बड़ा होता है। उसमे महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और उसमे विशेष तौर से जैसे हिंसात्मक कार्यो जैसे युद्ध की तरह क्रियाशील जीवन का चित्रण होता है। इसे पढने से हमे विशेष आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि इसम वर्णित घटनाएँ और व्यक्ति मानव उपलब्धियो के बारे मे हमारे विश्वास को पुष्ट करते हैं और माननीय गरिमा को बढाते हैं।''[42] श्री बावरा की इस परिभाषा में महाकाव्य के आन्तरिक गुणों को विशेष रूप से उजागर किया है किन्तु वे उसके बाह्य लक्षणों के प्रति मौन हैं। बावरा की तरह एवरक्राम्बी ने भी महाकाव्य को परिभाषित किया है। श्री एवरक्राम्बी लिखते हैं—मात्र वृहद् आकार ही किसी काव्य को महाकाव्य नहीं बना देता है। वास्तव में महाकाव्य को महान् तभी कहा जा सकता है जबकि कवि की शैली, उसके विचार और उसकी कल्पना उसकी अभिव्यक्ति के साथ जुड़ी हुई हो। ऐसी महान् शैली के महाकाव्य को पढ़कर हम उस

लोक मे पहुँच जाते हैं जहाँ सब कुछ महत्वपूर्ण होता है। उसमे एक प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो आद्यान्त कथानक का सचालन करता है।[43] एवरक्राम्बी ने भी महाकाव्य के आन्तरिक तत्वो पर ही प्रकाश डाला है। डब्लू० पी० केर लिखते हैं—"महाकाव्य मे पात्रो की कल्पना बहुत ही स्पष्ट होती है अत. उनकी विविध मानसिक स्थितियो, समस्याओ के कारण विविध दृश्यो और गुणो का चित्रण अधिक स्वाभाविक होता है। इससे जीवन का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार कथा मे भली-भाँति समाहित हो जाता है। महाकाव्य की सफलता महाकाव्यकार की कल्पना शक्ति और चरित्र-चित्रण पर निर्भर करती है। कुछ काव्य ग्रन्थ जो महाकाव्य माने जाते हैं, उनमे नाटकीय गुण न होने पर भी उनके नवीन दृश्यो और साहसिक कार्यों की अधिकता होने पर भी उनके नायक महत्वहीन होते हैं फिर भी उनके कथानको मे ऐसी गरिमा होती है जिसमे उन्हे सफल महाकाव्य कहा जाता है।"[44]

केर महोदय ने होमर से लेकर अब तक के विकसनशील शास्त्रीय या रोमांचक महाकाव्यो के सभी गुणो का अपनी परिभाषा म समाहार किया है किन्तु आधुनिक महाकाव्य उनकी परिभाषा की सीमा मनही आ पाते। मैकनील डिक्सन का मत है—"जिन काव्यो मे महान् कार्य का वर्णन होता है उनके नाम के आगे महाकाव्य जुड जाने से ही वह महाकाव्य नही बन जाते। कार्य चाहे सरल हो या जटिल चाहे वह इलियड की तरह एक स्थान की घटना हो या विश्व-भ्रमण करने वाले नायक ओडेसी की हो। चाहे एक नायक हो या अधिक। चाहे वे प्रसन्न हो या अभागे, एचिलिस की तरह क्रोधी हो या एनीअस की तरह पवित्र आत्मा, चाहे वे राजा हो या सेनापति अथवा उनमे से कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य हिन्द महासागर के हो जैस कैमास के लूसियाडा मे या पश्चिमी द्वीप समूह के हो, चाहे वे स्वर्ग के हो या नर्क के या इस पृथ्वी से परे के हो जैसे कि मिल्टन के महाकाव्य म, वह काव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक कि उसके गुणो के अनुकूल उसका अन्य नामकरण नही कर दते।"[45]

प्रोफेसर टिलियर्ड कहते हैं कि महाकाव्य के निर्णय हेतु कोई निश्चित सिद्धान्त नही है। फिर भी उन्होने महाकाव्य सम्बन्धी कुछ विशेषताओ का उल्लेख किया है। जैसे—"महाकाव्य प्रथमत उच्च गुणों से युक्त गभीर रचना है।"[46] महाकाव्य की दूसरी विशेषता उसके आकार प्रकार से सम्बन्धित है अर्थात् महाकाव्य विशद्, व्यापक, विविधोन्मुखी और जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने वाला होना चाहिए।[47] महाकाव्य की तीसरी विशेषता का उल्लेख करते हुए टिलियर्ड महोदय ने लिखा है कि—"महाकाव्य मे मानवीय भावनाओ और विश्वासो की दृढता का चित्रण होना चाहिए *जिससे कि मानवीय सभ्यता का विकास हुआ है।*"[48] महाकाव्य की चौथी आवश्यकता है कि उसमे किसी विशद् जनसमुदाय के समसामयिक जीवन की भावनाओ की अभिव्यक्ति हो।[49] महाकाव्य एक प्रभावशाली वीर भावना से युक्त रचना होनी चाहिए।[50] महाकाव्य के विषय मे प्रसग मे उन्होने लिखा है कि महाकाव्यकार को जीवन का सर्वांगीण और व्यापक ज्ञान होना चाहिए।[51]

पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य विषयक बाह्य और आभ्यान्तरिक गुणों का

विशद् विवेचन किया है। सार रूप में डॉ० देवीप्रसाद गुप्त ने उनका आठ लक्षणों में समाहार किया है—

1—महाकाव्य वीर काव्य (Heroic poetry) है।

2—महाकाव्य का कथानक लोक विश्रुत और महत्वपूर्ण होना चाहिए।

3—उसमें जातीय जीवन का व्यापक चित्रण होना चाहिए।

4—महाकाव्य का नायक असाधारण प्रतिभा और व्यक्तित्व सम्पन्न होता है। उसमें शौर्य, वीर्य और पराक्रम आदि गुणों का होना अनिवार्य है। अन्ततोगत्वा वह काव्य में विजयी चित्रित किया जाता है। उसके व्यक्तित्व में राष्ट्रीय जीवन का सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व होता है।

5—महाकाव्य का घटना बाहुल्य और वर्णन वैविध्य होता है अतः वस्तु संकलन में शिथिलता आ जाती है। कथानक में समृद्धि तो होती है किन्तु नाटकों जैसी अन्विति का अभाव होता है।

6—महाकाव्य की भाषा ओजपूर्ण होती है। उसमें जातीय जीवन के आदर्शों की व्यंजना की पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य होनी चाहिए। शैली गरिमापूर्ण तथा एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए।

7—महाकाव्य का रचयिता महान्, प्रतिभा सम्पन्न, मेधावी कलाकार होता है। उसमें विराट कल्पना शक्ति और विलक्षण काव्य कौशल होना चाहिए।

8—महाकाव्य का लक्ष्य महान होता है, अर्थात् शाश्वत जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा। उदाहरण के लिए असत् पर सत् की विजय। महाकाव्य सम सामयिक जीवन की प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए।[52]

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पाश्चात्य महाकाव्यों की विशेषताओं को दो भागों में विभाजित किया है—(1) अनिवार्य या शाश्वत लक्षण, (2) अनिवार्य बाह्य लक्षण। शाश्वत लक्षण को पुनः तीन भागों में विभाजित किया है और बाह्य लक्षणों के पाँच भेद बतलाये हैं।[53]

सामान्य तौर से देखने पर यह स्पष्ट है कि महाकाव्य के विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों में काफी साम्य है, मत वैभिन्न्य जैसा भारतीय आचार्यों में पाया जाता है वैसा ही पाश्चात्य आचार्यों में भी पाया जाता है। वैसे महाकाव्यों के लक्षणों में युगानुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। 'विदेशी महाकाव्य' (The book of Epic—अनुवादक गोपीकृष्ण) में प्रोफेसर सतीशचन्द्र देव ने लिखा है—'महाकाव्य के विषय में जो भी चिंता हुई है यह सब सत्रहवीं, अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुई है। सोलहवीं शताब्दी में 'एपिक' शब्द के उतने गम्भीर अर्थ न लगाये गये थे जितने कि बाद में। नये समालोचकों ने (विशेषतया इटली के) ग्रीक की पढ़ाई के आरम्भ के बाद 'एपिक' शब्द का एक नये ही अर्थ में प्रयोग करना शुरू किया। 'एपिक' के माने अब श्रेष्ठ काव्य होने लगा और पुराने लैटिन समालोचकों की उक्तियाँ अब उतनी प्रामाणिक न रह गईं जितनी कि 'एरिस्टोटल' या अन्य यूनानी समालोचकों की। यही कारण है कि उन्हीं दिनों से 'एपिक' और 'रोमांस' इन दो शब्दों का अन्तर होता आ रहा है।'''[illegible]

अनुचित न होगा कि 'एपिक' का विशेष विषय वीरता, ऐतिहासिक दृष्टिकोण, सम्यता का सम्पूर्ण चित्र, आदर्श नर-नारी के चरित्र होने पर भी साधारण जीवन से अधिक घनिष्ट रूप से सम्बद्ध रहता है, किन्तु 'रोमांस' जीवन के कुछ अंशो को छूने के बाद भी अपने को साधारण जीवन से अलग ही रखता है।[54]

वृहद् हिन्दी कोश मे महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"बड़ा काव्य; आठ या इससे अधिक सर्गो वाला वह प्रबन्ध काव्य जिसमे विविध ऋतुओ, दृश्यो आदि का वर्णन हो और जिसमे सभी रसो तथा विविध छदों का समावेश हुआ हो।"[55] मानक अग्रेजी-हिन्दी कोश मे 'एपिक'[56] का अर्थ—Epic: (L epicus, G epikos, from epos, a word) वीर चरित वर्णन, महाकाव्य, वीरगाथा, महापुरुषो के जीवन चरित्र से सबधित काव्य 'मानविकी पारिभाषिक कोश' मे महाकाव्य के विषय मे लिखा है—'ऐसा अनुमान किया जाता है कि महाकाव्य का विकास प्राचीन प्रशस्ति-गीतो के समान ही किसी नायक की महिमा का अतिरंजित वर्णन होता था। किन्तु महाकाव्य मे और प्रशस्ति-गीत मे मूलभूत अन्तर है। वह यह कि प्रशस्ति-गीत का सबध प्राय एक व्यक्ति विशेष के साथ होता है जबकि महाकाव्य मे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी दृष्टियो से समाज का अधिक सम्पन्न और सुगठित चित्रण होता है। जाति के प्राय सम्पूर्ण जीवन और युग के सम्पूर्ण इतिहास का प्रतिबिम्ब महाकाव्य मे अन्तर्मुक्त रहता है। महाकाव्य आख्यायिका का वह सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसमे विषय वस्तु का विस्तार और वर्णन का गाम्भीर्य पाया जाता है।'[57] शचीरानी गुर्टू के शब्दो मे—'महाकाव्य तत्वत सार्वदेशिक है। भले ही बाह्याचारो से उसकी सृष्टि हुई हो अथवा अन्तर्वृत्तियो से, उसकी एक विशिष्ट सस्कृति के मूल बध मे जो लोक जीवन के अगणित तत्तु सिमटे हैं वे ही वस्तुत उसके प्राण पोषक तत्व हैं। न केवल परिस्थितियाँ, घटनाएँ दृश्याकन, जीवन के अनगिनत चित्र, सुख दु ख, हास्य-रुदन, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, अज्ञान-व्यामोह, बेबसी-असमर्थता, ईर्ष्या-क्रोध, तृप्ति-अतृप्ति, अभाव-वैभव, दृढ़-अविवेक वरन् जवानी के जोश का बलवला और प्यार-मुहब्बत की रगीन, शोख मस्ती के भी कितने ही रोचक कथानक जुडे होते हैं। पात्र, कथोपकथन, वाक्-पटुता, स्वर-भेद और वैविध्य, साथ ही पात्रानुकूल चरित्र-चित्रण, मन स्थितियाँ, आचार-विचार, तथ्यान्वेषण और उसके अन्तरग भेद-प्रभेद या उसका विराट् रूप और व्यापकता उस अथाह समुद्र की नाई है जो अपने अतल मे न जाने कितना कुछ समेटे रहता है।"[58] विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने महाकाव्य की परिभाषा शास्त्रीय समीक्षक की तरह नही की है अपितु महान् कवि के हृदय की महान् कृति का उद्भव किस रूप मे होता है और महाकाव्य कैसे प्रतिष्ठित होता है इसे अत्यन्त ही भावपूर्ण शब्दों मे व्यक्त किया है।"[59]

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार—'महाकाव्य वह विशिष्ट छदबद्ध रचना है जिसका आकार बड़ा हो और जिसमे उच्च भावो की अभिव्यक्ति हो।"[60] कालियर्स के एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार—'महाकाव्य एक लम्बी वर्णनात्मक कविता है जिसमे सामान्य रूप से किसी एक प्रमुख नायक के वीरतापूर्ण कार्यो का वर्णन

होता है तथा उसका एक सशक्त राष्ट्रीय महत्त्व होता है।"[61] एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना के अनुसार—"महाकाव्य की सीमा विशाल, शैली भव्य और सरचना व्यापक होती है।"[62] रौदर्स एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार—"महाकाव्य एक लम्बी वर्णनात्मक कविता होती है जिसमे विशद् रूप से साहसिक कार्यों का वीरतापूर्ण वर्णन होता है और वे केन्द्रीय नायक से अनुपातिक रूप से जुड़े रहते हैं। वे साहसिक कार्य किसी जातीय समुदाय अथवा राष्ट्र के निर्माण मे सहायक होते हैं।"[63] आक्सफोर्ड यूनिवर्सल डिक्शनरी के अनुसार—"महाकाव्य वर्णनात्मक कविता है जिसमे कुछ ऐतिहासिक अथवा परम्परागत वीरो की उपलब्धियों का वीर भावना से युक्त विशद् वर्णन होता है।"[64] चैम्बर की डिक्शनरी मे महाकाव्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"महाकाव्य का प्रयोग उस लम्बी वर्णनात्मक कविता के लिए होता है जिसमे वीरतापूर्ण घटनाओं की भव्य शैली मे अभिव्यक्त हो, महाकाव्य के गुणो से युक्त प्रभावशाली विशद् महाकाव्य। महाकाव्य एक जातीय काव्य होता है। उसके कथानक की तुलना विशेष रूप से लम्बे साहसिक उपन्यास या फिल्म से की जा सकती है।"[65] स्पष्ट है कि कोशो एव विश्वकोशों मे महाकाव्य सम्बन्धी विवेचन का मुख्य आधार रचना विधान के उपकरण ही हैं।

महाकाव्य विषयक भारतीय एवं पाश्चात्य मत : एक तुलनात्मक दृष्टि

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य एव भारतीय समीक्षको के मतों मे बहुत साम्य है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए पाश्चात्य आलोचक एम० डिक्शन ने लिखा है कि—"चाहे पूर्व हो या पश्चिम, उत्तर हो या दक्षिण, मानवीय भाव सर्वत्र एक रस हैं और सच्चे महाकाव्य का, जहाँ कहीं भी रचा जाय, स्वरूप सदैव वर्णनात्मक और सुव्यवस्थित होगा। उसके पात्र और कार्य महान् होंगे। उसकी शैली भव्य होगी, उसका विषय महान् होगा और उसके पात्रो के कार्यों का झुकाव आदर्श की ओर होगा। उसका कथानक सर्वत्र अन्तर्कथाओं से सजोया हुआ होगा।'[66] दोनों समीक्षक महाकाव्य के नायक को ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध एव उदात्त गुणो से सम्पन्न होना मानते हैं। भारतीय समीक्षकों ने नायक म उदात्त गुणों को आवश्यक माना है और अन्त मे उसे विजयी दर्शाया है किन्तु पाश्चात्य समीक्षक नायक मे जातीय गुणो और जातीय मनोवृत्तियो का होना आवश्यक मानते हैं। पाश्चात्य महाकाव्यो मे नायक दैव या नियति की क्रूर सत्ता से पीडित और पराजित भी रहा है। दोनो ही समीक्षक महाकाव्य मे महान कार्य और व्यापक विषय-वस्तु के बारे म एकमत हैं। महाकाव्य के आकार प्रकार की विशालता-विषय-वस्तु की गरिमा और शैली की भव्यता को दोनो ने ही स्वीकार किया है। दोनो ही अलौकिक और अति प्राकृतिक शक्तियो का समावेश उचित मानते हैं। किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों के विपरीत भारतीय महाकाव्यों के कथानको मे देव, दानव, नियति आदि अति प्राकृत तत्वों का प्रत्यक्ष समावेश नहीं होता। पाश्चात्य महाकाव्यो मे वर्णित घटनाओं और कार्य के सम्बन्ध में अवधि की सीमा निर्धारित रही है। भारतीय महाकाव्यों की घटनाओं मे ऐसी कोई सीमा निर्धारित नहीं है। पाश्चात्य—

महाकाव्यों में नायक की वीरतापूर्ण भावनाएँ, कार्यों, घटनाओं और संघर्षों को प्रमुखता प्राप्त हुई है। फलतः यहाँ के महाकाव्य वीर काव्य के पर्याय माने जाते हैं। भारतीय महाकाव्यों में यद्यपि वीर भावना को स्वीकार किया गया है तथापि शृंगार, वीर और शांत में से किसी एक को प्रधानता दी गई है। पाश्चात्य महाकाव्यों में जीवन के भौतिक पक्ष को अधिक उजागर किया है जबकि भारतीय महाकाव्यों में व्यक्ति अथवा जाति के आन्तरिक गुणों को प्रतिष्ठापित किया गया है। भारतीय महाकाव्यों का उद्देश्य चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति रहा है। संक्षेप में कहा जाय तो भारतीय महाकाव्य व्यक्ति और जातीय जीवन को उच्च धरातल पर पहुँचाते हैं। जबकि पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक जातीय जीवन के द्वन्द्व, संघर्ष, युद्ध, कूटनीति और नियति में उलझता रहता है और अन्त में पराजित भी। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ० देवीप्रसाद गुप्त का अभिमत है कि—'महाकाव्य की आधारभूत मान्यताओं में यथा-कथा संयोजन, चरित्र सृष्टि, वर्णन-वैविध्य, छंद विधान, भाषा-शैली की गरिमा, जातीय जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, समग्र जीवन चित्रण एवं उद्देश्य की महानता आदि की दृष्टि से पाश्चात्य और पौर्वात्य दृष्टियों में समानता है।''[67]

महाकाव्य के सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वानों के मत

महाकाव्य पर विचार करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षकों ने पूर्ववर्ती और समकालीन महाकाव्यों को आधार बनाया है। आधुनिक भारतीय महाकाव्यों पर विचार करते समय प्राचीन समीक्षकों द्वारा निरूपित लक्षण अपूर्ण सिद्ध होते हैं क्योंकि महाकाव्य के स्वरूप में निरन्तर विकास होता रहा है। अस्तु, आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के स्वरूप पर विचार करते समय हिन्दी के मान्य विद्वानों और समीक्षकों के मतों का अनुशीलन भी आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल महाकाव्य को मानव जीवन का पूर्ण दृश्य मानते हैं। उन्होंने इसके प्रमुख चार तत्व निर्धारित किये हैं—इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, भाव व्यंजना और संवाद।[68] डॉ० विनय महाकाव्य को सांस्कृतिक आदर्शों की रचना मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में—"महाकाव्य का प्रणयन संस्कृति के महत् पुण्य से होता है। महाकवि विश्व के हृदय को अपने हृदय में अनुभव कर उसे जीवन की समग्र विशालता से चित्रित करता है। संस्कृति के पक्ष विशेष का आदर्शात्मक विवेचन महाकवि के प्रमुख लक्ष्य की पूर्ति के लिए महाकवि लोक जीवन के व्यापक आदर्शों को अलंकृत कर महाकाव्य में अनुस्यूत करता है। अतः महाकाव्य में जीवन का व्यापक चित्र होता है।"[69]

डा० श्यामसुन्दर दास ने महाकाव्य का विवेचन करते हुए उसके महान उद्देश्य और आत्मा की सदाशयता पर बल दिया है। उन्हीं के शब्दों में—"...... महाकाव्य में एक महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के आकार-प्रकार और वर्णन-विषय के सम्बन्ध में बड़ी जटिल और दुरूह व्याख्याएँ की गई हैं जिनका आधार लेकर लिखने से बहुत से महाकाव्यों के शरीर अब संघटित हो गए हैं, पर उनमें से बहुत थोड़े से ऐसे हैं जो आत्मा के किसी उदात्त आशय,

सभ्यता के किसी युग प्रवर्तक संघर्ष अथवा समाज की किसी उद्वेगजनक स्थिति को लेकर किसी प्रकाण्ड विचारक या कवि द्वारा लिखे गये हैं, जिन्हें जातीय इतिहास में अनिवार्य स्थान सुलभ हो सकें। 'रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस' आदि की कोटि के सच्चे महाकाव्य शताब्दियों में दो-एक लिखे जाते हैं।"[70] बाबू गुलाबराय जी ने लिखा है—"महाकाव्य को विषय प्रधान काव्य माना है जिसमें किसी लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों के द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन हुआ हो।"[71] डॉ० नगेन्द्र ने महाकाव्यों में मूल तत्त्वों की चर्चा करते हुए लिखा है—"मैं महाकाव्यों के उन्हीं मूल तत्त्वों को लेकर चलूंगा जो देशकाल में सापेक्ष नहीं हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। वे मूल तत्त्व हैं— (1) उदात्त कथानक, (2) उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, (3) उदात्त चरित्र, (4) उदात्त भाव और (5) उदात्त शैली। अर्थात् औदात्य ही महाकाव्य का मूल प्राण है।'[72] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने महाकाव्य को तीन लक्षणों में समाहित कर दिया है। उन्हीं के शब्दों में—'महाकाव्य के तीन प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं। प्रथम, रचना का प्रबंधात्मक या सर्गबद्ध होना। द्वितीय, उसकी शैली का गाभीर्य और तृतीय, उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्त्व। इनके अतिरिक्त भी अन्य उपनियम हो सकते हैं किन्तु मैं उनका समावेश इन्हीं तीनों लक्षणों में करना चाहूँगा।"[73] डॉ० प्रतिपाल सिंह ने बाबू श्यामसुन्दर दास की महाकाव्य विषयक परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में ही महाकाव्य को परिभाषित किया है। यथा—'महाकाव्य वह विषय प्रधान रुचिर रचना है जिसमें जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्गम संगम, युग-प्रवर्तक संघर्ष, महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष, समाज की उद्वेगजनक स्थिति, आत्मा के किसी उदात्त आशय अथवा रहस्य का उद्घाटन किया जावे।'[74] डॉ० शम्भूनाथसिंह ने महाकाव्य की परिभाषा को इतना व्यापक, लचीला और शाश्वत रूप दे दिया है कि उसमें विभिन्न देशों और कालों के महाकाव्यों के लक्षण समाहित हो जाते हैं—'महाकाव्य वह छंदोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त हो, ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्त्वपूर्ण जीवन वृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गंभीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर समग्र जीवन के विविध रूपों पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"[75] एक अन्य महा-

काव्यालोचक डॉ० गोविन्दराम शर्मा लिखते हैं— "महाकाव्य एक ऐसी छंदोबद्ध प्रकथनात्मक रचना होती है जिसमें विषय की व्यापकता और नायक की महानता के साथ-साथ कथावस्तु की एकसूत्रता, छलकता हुआ रस-प्रवाह, वर्णन की विशदता, उदात्त भाषा-शैली, जीवन का यथा साध्य सर्वांगीण चित्रण और जातीय भावनाओं तथा संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति हो।"[76] महाकाव्यकार पंत जी ने 'तारकवध' की भूमिका में लिखा है—'संक्षेप में, महाकाव्य मानव सभ्यता के संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास का जीवन्त पर्वताकार दर्पण होता है, जिसमें अपने मुख को देखकर मानवता अपने को पहचानने में समर्थ होती है।"[77] आधुनिक महाकाव्य के अनुसन्धाता डॉ० श्यामनन्दन किशोर ने लिखा है—"महाकाव्य मर्मस्पर्शी घटनाओं पर आधारित एक कवि की ऐसी छंदोबद्ध कृति है जिसमें मानव जीवन की किसी ज्वलंत समस्या का व्यापक प्रतिपादन, किसी महान उद्देश्य की पूर्ति या जातीय संस्कृति के महाप्रवाह उद्भावना, उदात्त वर्णन शैली व्यंजक भाषा, पूर्ण रसात्मकता और उच्चकोटि के शिल्प विधान द्वारा किया जाता है और जिसका नायक किसी भी लिंग, जाति या वंश का होकर भी अपने गुणों से कवि के आदर्शों को मूर्तिमान करने वाला होता है।"[78]

महाकाव्य के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० देवीप्रसाद गुप्त के अनुसार—"महाकाव्य वह महत् काव्य रूप है, जिसमें व्यापक कथानक, विराट् चरित्र कल्पना, गंभीर अभिव्यंजना शैली विशिष्ट शिल्प विधि और मानवतावादी जीवन दृष्टि से उसका रचयिता युग-जीवन के उन्नत बोध को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिफलित करता है। संक्षेप में श्रेष्ठ महाकाव्य की रचना मानवता के मंगलमय आख्यान और लोक-मानस की चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास होती है।"[79] हिन्दी महाकाव्य के विषय में आधुनिक समीक्षकों की परिभाषाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि सभी समीक्षक महाकाव्यों के स्थायी गुणों और लक्षणों में प्रायः एक मत हैं वैसे शब्दों की फेर बदल, लक्षणों या गुणों के बलाबल में प्रत्येक समीक्षक ने अपनी विशिष्टता दर्शायी है।

इस वैज्ञानिक युग में आम आदमी का बौद्धिक स्तर काफी ऊँचा हो गया है। भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य-साहित्य की विभिन्न विधाएँ यथा—कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, एकांकी, रेडियो रूपक, फीचर, रिपोर्ताज आदि प्रमुख हो गयी हैं। इस रचना प्रवृत्ति का इस युग की महाकाव्य संरचना पर विशेष प्रभाव पड़ा है। एक तरफ महाकाव्य संबंधी मानदंड बदल रहे हैं और दूसरी ओर मानव जीवन विश्वजनीन होता जा रहा है। यद्यपि हिन्दी में अब तक सैकड़ों महाकाव्य रचे जा चुके हैं किन्तु उनमें 'रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस', 'कामायनी' जैसे जातीय जीवन के उदात्त गुणों से युक्त महाकाव्यों का प्रणयन बहुत कम हुआ है। हिन्दी के अधिकांश आधुनिक महाकाव्यों में शिल्प और जीवन दर्शन की वह महार्घता अभिव्यंजित नहीं हुई है, जो आर्ष महाकाव्यों में लक्षित होती है।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि महाकाव्य को किसी भी निश्चित परिभाषा में बाँधना उसके महत्त्व को कम करना है। महाकाव्य के आंतरिक और बाह्य लक्षण सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हुए भी उनमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहे

हैं। इसी दृष्टि से हिन्दी में आधुनिक महाकाव्य और विशेष रूप से स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों की रूप रचना हुई है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में नायक का लोक प्रसिद्ध अथवा उच्चकुलीन होना आवश्यक नहीं है। किसी भी कुल का सामान्य व्यक्ति महाकाव्य का नायक हो सकता है। किसी जाति के सांस्कृतिक जीवन के स्थान पर उसके वशावसाधिक जीवन-संघर्षों, कार्यों, भावनाओं, विचारों का प्रतिनिधित्व हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कथानक लोक-प्रसिद्ध, ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात ही हो। मानव जीवन के किसी भी पक्ष की कल्पना और भावना का आधार देकर लिया जा सकता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि नायक समरवीर हो और अंत में उसकी विजय ही हो। एकलव्य, कर्ण, अम्बेदकर, प्रेमचंद जैसे पात्र महाकाव्य-नायक रहे हैं जिनका जीवन निरन्तर संघर्षपूर्ण रहा है और जो कुलीनों द्वारा पीड़ित रहे हैं। यही कारण है कि महाकाव्यों की रचना के लिए परम्परागत शास्त्रीय लक्षण अनावश्यक हो गए हैं। फिर भी एक बात देखने में अवश्य आती है कि हिन्दी के अधिकांश आधुनिक महाकाव्यों के नायक और कथानक ऐतिहासिक, लोक प्रसिद्ध अथवा परम्परागत हैं। निश्चय ही इन महाकाव्यों में युगानुरूप जीवन की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है।

हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास

हिन्दी में आधुनिक महाकाव्यों की रचनात्मक पृष्ठभूमि में उसकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक धरोहर निहित है। महाकाव्य के आदि स्रोत वेद ग्रंथ हैं। डॉ० शकुन्तला दुबे के शब्दों में— 'वैदिक संहिताओं से इस बात का हमें आभास मिलने लगता है कि उस समय कुछ वर्ग ऐसे अवश्य रहे होंगे जिनका कार्य राजाओं की प्रशंसा एवं उनके वीर कृत्यों का वर्णन करना रहा होगा। क्रमशः परम्परागत आती हुई कथाएँ बराबर जुड़ती चली गईं और धीरे धीरे उनका वृहदाकार स[illegible] हमारे समक्ष प्रस्तुत होता चला गया। जिन आदर्शों को युग अमरत्व प्रदान करना चाहता, उन्हें वह इनमें जोड़ता चला गया। इस प्रकार वीर कृत्यों से लेकर, युग धर्म, देवताओं और राजर्षियों के वर्णन, ऐतिहासिक सामाजिक तथा शास्त्रीय सभी प्रकार के विषय में हमें पुराणों के रूप में संग्रहीत होकर मिले।"[30] एम० विन्टरनिज ने लिखा है कि "वेदों में ऋषियों, देवताओं की प्रशंसा के गीत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के धार्मिक मंत्रों में आख्यान वाले मंत्र भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इन आख्यान सूक्तों से ही महाभारत के संवाद सम्भवतया निर्मित हुए हैं।"[31]

पुराणकाल पुराकथाओं के लिए तो प्रसिद्ध है किन्तु यह महाकाव्यों का काल था। इस काल में लिखी गई पुराण कथाएँ घटना-विस्तार, सृष्टि संहार, विस्तार वंशावली, मनु का समय, चन्द्रवंशी-सूर्यवंशी राजाओं के वर्णन आदि इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनसे उत्तरवर्ती महाकाव्यों को अमित सामग्री उपलब्ध हुई। रामायण और महाभारत भारतीय महाकाव्य परम्परा के आदि स्रोत हैं। रामायण और महाभारत दोनों संकलनात्मक महाकाव्य हैं। दोनों में इस देश के हजारों वर्षों का इतिहास समाया हुआ है। महाभारत प्रारंभिक वीर युग की रचना है और रामायण विकसित [illegible]

महाकाव्य। विद्वानों का मत है कि महाभारत की शैली पुराणो के रूप मे विकसित हुई। इस प्रकार रामायण और महाभारत संस्कृत महाकाव्यो के दो विशाल कथा स्रोत माने गये हैं। इसी को लक्ष्य करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रथों ने कितना प्रभावित किया है, इसका अदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकाश—शायद 90 प्रतिशत—रचनाएँ इन्हीं दोनों ग्रथो के आधार पर हुई है, और आज हो रही है।"[82] प्रस्तुत सदर्भ मे डॉ० देवीप्रसाद गुप्त का भी यही अभिमत है—'महाकाव्यो की सुव्यवस्थित परम्परा का विकास रामायण और महाभारत से होता है। भारतीय वाङ्मय के इन दोनो ग्रन्थो को पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानो ने एक मत से महाकाव्य स्वीकार किया है। हिन्दी महाकाव्य की सपूर्ण परम्परा का विकास रामायण और महाभारत कथा प्रसगो, आख्यानो और उपाख्यानो को लेकर हुआ है। इसीलिये इन दोनो काव्यो को आर्ष ग्रन्थ अभिधान दिया जाता है।"[83]

रामायण और महाभारत के पश्चात् संस्कृत के प्रसिद्ध कवि अश्वघोष और कालिदास का युग प्रारम्भ होता है। अश्वघोष का 'बुद्धचरित', कालिदास के 'कुमारसभव' और 'रघुवश', भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध' और श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' आदि अलकृत महाकाव्यो की रचना इसी काल मे हुई। डॉ० शकुन्तला दुबे ने लिखा है— 'इन सभी महाकाव्यो मे उच्च कलात्मकता के साथ ही काव्यत्व भी पूर्ण रूप से मिला। छदो का सुन्दर विधान, रस का पूर्ण परिपाक, प्रकृति के अलकृत वर्णन के साथ साथ मानव जीवन का सवांगपूर्ण दृश्य इन महाकाव्यो मे अपने पूर्ण कौशल के साथ अकित हुआ। इतिवृत्तात्मक प्रसगों के साथ ही भावात्मक प्रसगो की योजना भी बडी सामजस्य पूर्ण शैली मे यहाँ हुई।"[84] संस्कृत के प्राय सभी महाकाव्यो के कथानक वेदों, पुराणो और इतिहास से लिये गये हैं। इन सब मे अलौकिक तत्वो और वर्णनो की प्रधानता है।

पालि प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य

यद्यपि संस्कृत के महाकाव्य अपभ्रंश के युग तक रचे जाते रहे तथापि उनकी सख्या निरन्तर कम होती गई। प्राकृत मे प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध', वाक्पतिराज का 'गौडवध' (गउड वहो), विमल सूरि का ('पद्म चरित' पउम चरिय), हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित' आदि महाकाव्यो की रचना हुई है किन्तु इनका आकार छोटा और भव्यता का दुर्लभ अभाव है। अपभ्रंश में स्वयभू के 'हरिवश पुराण' एव 'पउम चरिउ', पुष्पदत का 'महापुराण', धनपाल का 'भविसयत कहा', कनकामर का 'करकडु चरिउ' वीर कवि का 'जबूसामि चरिउ', हरिभद्र सूरि का 'णेमिणाह चरिउ' आदि महाकाव्य उल्लेखनीय हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के अधिकाश महाकाव्यो के कथानक जैन पुराणो से लिये गये हैं। कुछ रोमाचक महाकाव्यो मे कवि कल्पना को भी प्रश्रय मिला है। डॉ० शम्भूनाथसिंह का अभिमत है कि—'महती घटना और महच्चरित्र को अपभ्रंश के कवियो ने यथार्थवादी मापदण्ड से नापा है और यह माना है कि कोई जन्मजात आदर्श

चरित्र वाला नहीं होता बल्कि पूर्व जन्मो के कर्मों के कारण और वर्तमान भव के अच्छे कार्यों द्वारा ही उसका आदर्श बनता है, चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या वर्ग का क्यो न हो।"[85] हिन्दी महाकाव्यो पर अपभ्रंश महाकाव्यो की रचना शैली का प्रभूत प्रभाव है।

हिन्दी महाकाव्यो के विकास को हिन्दी भाषा के विकासक्रम को तरह तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—(1) वीरगाथा काल, (2) भक्ति काल, (3) आधुनिक काल। हिन्दी का आदिकाल अपभ्रंश काव्य रूपो मे प्रभावित रहा है। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने लिखा है—'हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी महाकाव्य पर रामायण-महाभारत, बृहत्कथा और परवर्ती संस्कृत-प्राकृत की काव्य शैली का बहुत प्रभाव पड़ा है, पर वह प्रभाव मात्र है। हिन्दी महाकाव्य का विकास वस्तुत अपभ्रंश काव्य की ओर से हुआ है उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो' पर महाभारत और प्राकृत-अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाचक शैली के महाकाव्यो का सम्मिलित प्रभाव दिखलाई पड़ता है।"[86] हिन्दी के महाकाव्यो मे पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड, विजयपाल रासो विकसनशील महाकाव्य हैं। जायसी का 'पद्मावत' और तुलसी का 'रामचरितमानस' भक्तिकाल के दो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं चूंकि रीतिकाल म महाकाव्य की रचना नही हुई इसलिये हम सीधे महाकाव्य के आधुनिक काल मे प्रवेश करते हैं। महाकाव्य का आधुनिक काल 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' से होता है। हिन्दी महाकाव्य के आधुनिक काल को हम दो भागों मे बांट सकते हैं।

1 स्वतन्त्रता पूर्व 1900 से 1947 तक।

2 1947 के पश्चात् या स्वातन्त्र्योत्तर काल।

स्वतन्त्रता पूर्व के प्रसिद्ध महाकाव्यों म प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, वैदेही वनवास, हल्दीघाटी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, साकेत-सत, सिद्धार्थ, महामानव आदि प्रमुख हैं। इन महाकाव्यो मे भारतीय जीवन की आशा-आकांक्षाओ को चित्रित किया गया है। यद्यपि अधिकांश महाकाव्यो का कथानक ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध है तथापि उनमे युग जीवन के सभी पक्षो को चित्रित किया गया है और सामयिक समस्याओ का उद्घाटन हुआ है। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, आल्हखण्ड, रामचरितमानस और कामायनी को ही महाकाव्य के रूप मे स्वीकार किया है। डॉ० गोविन्दराम शर्मा ने कुछ अन्य प्रबन्ध काव्यो यथा प्रियप्रवास, साकेत, कृष्णायन, वैदेही वनवास, साकेत-सत आदि को भी महाकाव्य माना है। इसके विपरीत डॉ० प्रतिपालसिंह, डॉ० श्यामनन्दन किशोर, डॉ० श्यामसुन्दर व्यास आदि शोध समीक्षकों ने उन सभी प्रबन्ध काव्यों को जिनमे युग जीवन के प्रवाह का समग्र चित्रण किया गया है, महाकाव्य स्वीकार किया है। डॉ० देवीप्रसाद गुप्त ने ठीक ही लिखा है—'हिन्दी के महाकाव्यो की रचना विधि (शिल्प), सास्कृतिक चित्रण, जीवन दर्शन सम्बन्धी उपलब्धियों पर विचार किया जाय तो निश्चय ही हिन्दी महाकाव्य प्रगतिपथगामी प्रतीत होता है। अधिकांश महाकाव्यों की विषय सामग्री यद्यपि पौराणिक है तथापि उनमें वर्तमान युग जीवन को प्रेरित करने की अनन्त शक्तियां और सामर्थ्य भी हैं।'[87]

आधुनिक काल मे स्वतन्त्रता पूर्व लिखे जाने वाले महाकाव्य का मूल विषय देश को स्वतन्त्र करना है। इसके साथ ही राष्ट्रीय जीवन को एक सूत्र मे बाँधना, सघर्ष के लिए तैयार करना, देश और समाज के हित मे हर प्रकार की कुर्बानी के लिए तत्पर होना, जातीय जीवन मे उत्साह भरना, देश को समृद्ध करने, धार्मिक, सामाजिक सस्कृतिक और नैतिक जीवन स्तर का ऊँचा करने आदि का भावपूर्ण चित्रण इन महाकाव्यो मे किया गया है। राष्ट्रीय जीवन की समग्रता को महाकाव्यो मे विविध समस्याओ के साथ अभिव्यक्त किया गया है। सास्कृतिक पुनरुत्थान नारी के महत्व को बढाने एव उसकी स्वतन्त्रता का उद्घोष करने मे युग मे महान पुरुषो के महत्व का गौरव निरूपित करने मे यथार्थ जीवन के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाने, दीन-दुखियो दलितो के साथ सवेदनशील दृष्टिकोण आदि तत्त्वो ने इन महाकाव्यो की सृजनात्मकता को प्रेरित किया है। पाश्चात्य विचारधारा से भी हिन्दी के ये महाकाव्य प्रभावित हैं। इन महाकाव्यो मे पाश्चात्य और पौर्वात्य जीवन दर्शन की महनीय उपलब्धियो का समावेश हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो की सर्जनात्मक पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ

स्वतन्त्रता पूर्व के 20-25 वर्षों मे इस देश के प्रत्येक क्षेत्र मे गाँधीजी की विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कृष्णायन' (द्वारका प्रसाद मिश्र) और 'साकेत-सत' (प० बलदेव प्रसाद मिश्र) में एक तरफ भारतीय सस्कृति का गाँधीवाद की पृष्ठभूमि मे निरूपण हुआ है तो दूसरी तरफ पाश्चात्य साहित्य और सस्कृति का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। भारतीय राष्ट्र की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय। परिस्थितियो ने हिन्दी के महाकाव्यकारो को प्रभूतत प्रभावित किया। महाकाव्यकार अपने विवेक से अतीत की क्रोड से विकासमान बिन्दुओ का चयन करता है। वर्तमान को सहेजता है और भविष्य की गहराई मे उतरने का प्रयत्न करता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यकार निश्चित रूप से इस देश की इन परिस्थितियो के प्रति जागरूक रहे हैं और महाकाव्य उसी पृष्ठभूमि म सृजित हुए हैं।

हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यो के शिल्प-विधान, जीवन दर्शन एव सास्कृतिक चेतना को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये महाकाव्य उसी रूप मे अपनी परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं जिस रूप म रामायण और महाभारत के बाद बुद्धचरित, कुमारसभव, रघुवश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधीय चरित, सेतुबन्ध, गोडवहो, पउम चरिउ, पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि ने किया है। यह गद्य प्रधान युग होते हुए भी युग की भाव गगा का प्रवाह महाकाव्य सरचना मे ही प्रवाहित हो रहा है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

1 स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यो के कथानक की बनावट मे युगीन समस्याओ को प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि अधिकाश महाकाव्यो के कथानक ऐतिहासिक, परम्परागत अथवा लोक प्रसिद्ध ही हैं तथापि उनका आतरिक भाव-सयोजन वर्तमान जीवन-सन्दर्भों

से जुड़ा हुआ है। कुछ महाकाव्यों के कथानकों में कवि-कल्पना का समाहार भी हुआ है। जिन महाकाव्यों की कथावस्तु का आधार इतिहास परम्परा अथवा लोक प्रसिद्धि है उनमें महाकाव्यकारों ने ऐसे परिवर्तन किये हैं जिनको देखकर हजारों वर्षों का अन्तराल मिट सा जाता है और उनमें समसामयिक सामाजिक जीवन प्राणवान् होकर प्रदर्शित हुआ है। विक्रमादित्य, अंगराज, वर्द्धमान, झाँसी की रानी, मीराँ, प्रताप, युगदृष्टा प्रेमचन्द, बाणाम्बरी, सरदार भगतसिंह, निराला, कालिदास, चन्द्रगुप्त मौर्य, देवपुरुष गाँधी, छत्रसाल, 'गुरुगोविन्दसिंह, सुभाषचन्द्र, मानवेन्द्र, जननायक, चन्द्रशेखर, बागला देश, डॉ० अम्बेडकर आदि महाकाव्यों के कथानक ऐतिहासिक हैं किन्तु इनकी संरचना में वर्तमान भारत की झलक दिखाई देती है। दैत्यवंश, कैकेयी, रावण, देजार्जुन, पार्वती, दमयन्ती, ऋतम्भरा, उर्मिला, एकलव्य, तारक वध, सेनापति कर्ण, रामराज्य, उर्वशी, शिवचरित, विदेही आदि महाकाव्यों के कथानक रामायण और महाभारत अथवा परवर्ती संस्कृत महाकाव्यों पर आधृत हैं; किन्तु इनमें भी युगानुरूप चित्रण हुआ है। एकलव्य, कालिदास लोकायतन, सारथी, निषादराज आदि में कवि कल्पना की प्रमुखता है।

2 स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों के नायक अद्यतन जीवन दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं। यह आवश्यक नहीं समझा गया है कि महाकाव्यों के नायक देवपुरुष, महामानव, ऋषि या कुलीन ही हों। समानता और स्वतन्त्रता की भावनाओं से प्रभावित महाकाव्यकार मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए निम्न वर्ग के उपेक्षित, दलित, पीड़ित और शोषित नर-नारियों में से किसी को भी नायक नायिका मानकर महाकाव्य रचने लगे हैं। यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों के नायक विश्वजनीन भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। महाकाव्यकार की सहानुभूति ऐसे नायक के साथ होती है जो संघर्षों में पला हो, जिसका हृदय विशाल हो, संकुचित दृष्टिकोण से रहित हो, सहिष्णु हो, धर्म, जाति, छुआ छूत आदि के बन्धनों से ऊपर उठा हो और अपने त्याग तथा मानवीय गुणों से समाज, देश और राष्ट्र का उन्नयन करने वाला हो, ऐसा कोई भी व्यक्ति आज के महाकाव्य का नायक हो सकता है। दैत्यवंश, रावण, अंगराज, रश्मिरथी एकलव्य, युगदृष्टा प्रेमचन्द, कालिदास, निराला, उर्मिला, कैकेयी, मीराँ, दमयंती आदि महाकाव्यों के नायक इसी प्रकार के हैं।

3 स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों में राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति के साथ अनेक वादों को भी जीवन दर्शन के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई है। विश्वजनीन समस्याओं का हल करने के लिए पौरस्त्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिन प्रमुख विचारधाराओं को प्रतिपादित किया है, आज के महाकाव्यकार ने उनको तदनुरूप आत्मसात् करके महाकाव्यों में अभिव्यक्त किया है। गाँधीवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद आदि दार्शनिक विचारधाराएं इन महाकाव्यों में स्पष्ट रूप से लक्षित की जा सकती हैं। महाकाव्यकार ऐसे जीवन दर्शन का उद्घाटन करता है जिसकी समाहृति अन्ततः लोक कल्याण में हो।

4. स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्य समग्र रूप में समस्यात्मक महाकाव्य कहे जा

सकते हैं। विज्ञान और औद्योगिकी के विकास से प्राप्त उपलब्धियों से जीवन के नये मूल्य निर्मित हुए हैं। *समता, समानता, स्वतन्त्रता, विश्व व धुत्व, उदारता, यथार्थवादी* दृष्टिकोण, भौतिक समृद्धि के प्रति लगाव, नव निर्माण की आकांक्षा, क्रांति की अनुगूंज और सगठित प्रयत्न ऐसे ही मूल्य हैं जिनको हिन्दी महाकाव्यकारों ने अपने महाकाव्यों में समायोजित किया है।

5 स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यकारों ने शैली विधान सम्बन्धी नये प्रयोग किये हैं। वैसे इस प्रकार के नवीन प्रयोगों की झलक स्वतन्त्रता पूर्व रचित प्रबन्ध *काव्यों में भी मिलती है किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों की शैली में कुछ नये मोड़ देखे* जा सकते हैं। सर्ग विभाजन, रस परिपाक की प्रक्रिया, मगलाचरण, सन्धि योजना, चतुर्वर्ग फल प्राप्ति आदि की सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है *कि स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यकार शैलीगत औपचारिकताओं के प्रति उदासीन हैं* किन्तु इससे महाकाव्य-सरचना के नये शैल्पिक प्रतिमान ही उजागर हुए हैं।

साकेत सत (बलदेव प्रसाद मिश्र, 1946), अगराज (आनन्द कुमार, 1950), कैकेयी (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' 1950), *वर्द्धमान (अनूप शर्मा, 1951)*, रावण (हरदयालु मिश्र, 1952), जयभारत (मैथिलीशरण गुप्त, 1952), जगदालोक (ठाकुर गोपाल शरण सिंह, 1952), देवार्चन (करील, 1952), विदेह (पोद्दार रामावतार 'अरुण', 1954), *दमयन्ती (ताराचन्द हारीत, 1957)*, ऋतम्बरा (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', 1957), एकलव्य (रामकुमार वर्मा, 1957), उर्मिला (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', 1957), तारकवध (गिरजादत्त शुक्ल, 1958), शक्तिशखनाद (लक्ष्मी चन्द्र मिश्र, 1959), *झांसी की रानी (श्यामनारायण प्रसाद, 1959)*, रामराज्य (बलदेव प्रसाद मिश्र, 1960), बाणाम्बरी (पोद्दार रामावतार 'अरुण', 1961), सारथी (डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', 1961), कालीदास (तिलक, 1961), चन्द्रगुप्त मौर्य (रामखेलावन वर्मा, 1962), प्रियमिलन (नन्द किशोर झा, 1964), सरदार भगतसिंह (श्रीकृष्ण सरल, 1964), चन्द्रशेखर आजाद (श्रीकृष्ण सरल, 1965), मानवेन्द्र (रघुवीर शरण मिश्र, *1965*), निराला, (तिलक, *1966*), गुरु गोविंद सिंह (*श्याम* नारायण प्रसाद, 1967), जननायक (रघुवीर शरण मिश्र, 1969), देवपुरुष गांधी (रमेश चन्द्र शास्त्री, 1969), कैकेयी (चादमल अग्रवाल 'चन्द्र', 1969), निषादराज *(डॉ० रतनचन्द्र शर्मा, 1976), डॉ० अम्बेडकर (बाबूलाल सुमन, 1976), बंगला देश* (तिलक, 1977) आजनेय (डॉ० श्याम नन्दन किशोर, 1978), सीता समाधि (राजेश्वरी अग्रवाल, 1978), सुभाषचन्द्र (श्रीकृष्ण सरल, 1978), आम्रपाली (श्री अमर सिंह, 1978), आजनेय (डॉ० दयाकृष्ण विजय, 1978)।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे अधिगृहीत स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यो का परिचयात्मक एव प्रवृत्तिमूलक विवेचन

सन्त सिपाही—इस महाकाव्य की रचना सन् 1967 मे श्री उदयभानु हस ने *की। सिक्ख सम्प्रदाय के दशम् गुरु गोविन्द सिंह के बहुमुखी व्यक्तित्व का चित्रण इस*

महाकाव्य के प्रणयन का उद्देश्य रहा है। श्री हंस ने इसमें यह प्रतिपादित किया है कि सामाजिक न्याय, मानवी समानता तथा लोकतन्त्री जीवन पद्धति के लिए गुरु गोविंद सिंह आजीवन संघर्षरत रहे। धर्मगुरु होते हुए भी आप महान लोकनायक, युग प्रवर्तक महापुरुष एवं प्रगतिशील समाज सुधारक थे। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण ही वे संत से सिपाही बनने पर बाध्य हुए।

मेधावी—सन् 1947 में डॉ० रांगेय राघव द्वारा रचित इस महाकाव्य में किसी ऐसे ऐतिहासिक या काल्पनिक नायक का चित्रण नहीं है जो किसी जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व करता हो। नायक इतिहास और नायिका-गति के माध्यम से डॉ० रांगेय राघव ने मानव-विकास की गतिशीलता को उसके व्यापक परिवृत्त में निरूपित किया है।

लोकायतन—इस महाकाव्य का कथानक काल्पनिक है किन्तु समकालीन जन-जीवन को उसके व्यापक फलक पर अभिव्यक्त किया गया है। सुन्दरपुर नामक काल्पनिक जनपद के माध्यम से पंत जी ने भावी जीवन दर्शन को रूपायित किया है। यह महाकाव्य श्री सुमित्रानन्दन पंत की काव्य साधना की चरम परिणति है। इसमें लोक-जीवन की वास्तविकता का दार्शनिक उद्घाटन हुआ है। श्री मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में—"पंत जी की यह अभिनव महाकाव्य कृति देशकाल के पुलिनों को डुबाकर, आज के प्रखर किन्तु बध्या बौद्धिक चेतना से ग्रस्त मानव को समग्र काल खंडों निमुक्त तैरने वाला एक नया और स्वस्थ जीवन बोध और एक नयी दृष्टि देती है।"

सारथी—डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' कृत इस महाकाव्य के कथानक में कामायनी के बाद की कथा को रूपायित किया गया है। इस प्रतीकात्मक महाकाव्य की रचना मूलतः युद्ध की समस्या के समाधान के रूप में हुई है। श्री दिनेश ने इस महाकाव्य में यह प्रतिपादित किया है कि मानव अहं का त्याग करके श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित होकर ही त्रिपुर के अन्धकार से मुक्त हो सकेगा।

शक्तिशतनाद—इक्कीस सर्गों में रचित यह महाकाव्य 'राष्ट्रशक्ति के जागरण का पाठ है'। कवि ने विश्व को नियन्त्रित करने वाली पराशक्ति देवी भगवती के तीनों रूपों—महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती—का स्तवन इस महाकाव्य में किया है। दुर्बल राष्ट्रशक्ति साधना से ही पुनः खड़ा हो सकता है। महाराज सुरथ एवं समाधि वैश्य के उपाख्यान के माध्यम से कवि भारतीय राष्ट्र को संगठित होने की प्रेरणा देता है। इस महाकाव्य का प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' है। 'दुर्गा सप्तशती' के पौराणिक उपाख्यान पर आधारित होते हुए भी यह महाकाव्य नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए उपादेय है।

विदेह, वाणाम्बरी, महाभारती और अरुण रामायण

इन चारों महाकाव्यों के प्रणेता पोद्दार रामावतार 'अरुण' हैं। श्री पोद्दार ने इन चारों महाकाव्यों में प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव को उदात्त एवं काव्यमयी वाणी में प्रस्तुत किया है। 'विदेह' अट्ठारह सर्गों में गठित राजर्षिजनक के उदात्त चरित्र

को चित्रित करता है। 'विदेह' में कवि ने योगीराज जनक के बौद्धिक क्रिया कलाप को युग-जीवन के सदर्भ सूत्रो मे जोडने का प्रयास किया है।

'बाणाम्बरी' बीस सर्गों की कृति है। यह रचना उत्तम काव्य-कला, भाषा सौष्ठव एव उदात्त भावाभिव्यक्ति के कारण 'कादम्बरी' का स्मरण दिलाती है। कवि ने बाणभट्ट के जीवन वृत्त को महाकाव्य का रूप दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाणाम्बरी मे बाण के माध्यम से श्री अरुण ने प्रच्छन्न रूप मे स्वय अपनी आत्मा को वाणी दी है।

'महाभारती' 'भारतीय शक्ति, सौन्दर्य और साधना' पर आधृत है। यह वैदिक वाङ्मय की रसमय सर्जना है। वैदिक ऋषित्रय—वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र की तपस्या से उद्भूत ज्ञान, विज्ञान और धर्म के आलोक की वृष्टि से 'महाभारती' आप्लावित है। यह एक सास्कृतिक महाकाव्य है।

'अरुण रामायण' तुलसी के 'रामचरितमानस' के सात काण्डो के नाम सादृश्य के अनुरूप हिन्दी खडी बोली की प्रथम रामायण है। इस राम कथा काव्य मे पूर्ववर्ती कृतियो की अनुरूपता के साथ साथ कवि कल्पित भिन्नताएँ भी व्यजित हुई हैं। राम, सीता और रावण को आध्यात्मिक एव भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रतीक रूप ग्रहण दिया है। रावण को वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक शक्ति का आसुरी रूप दिया गया है जबकि राम मानवीय मूल्यो के शक्ति स्रोत हैं। मूल्यो के इस सघर्ष मे कवि समकालीन जीवन सन्दर्भों से जुड गया है।

तारकवध—श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश विरचित इस महाकाव्य को पत जी ने रहस्यवादी महाकाव्य बताया है। 'तारकवध' मे देव, मानव और दानव की आतरिक एकता को प्रतिपादित किया गया है। उन्नीस सर्गों की इस प्रबन्ध रचना मे कृतिकार ने अतिवादी भौतिकवादी और एकान्त अध्यात्मवाद को नकारते हुए दोनो के समन्वय की स्थापना की है। कवि ने 'ताराकवध मे तारकासुर का हिंसा से वध न करा कर भृगी ऋषि द्वारा उसका हृदय परिवर्तन दर्शाया है जो गाँधीवादी विचारधारा के अनुकूल है। कवि ने कार्तिकेय द्वारा तारकासुर के वध से सम्बन्धित पौराणिक आख्यान को युगीन परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत किया है।

मानवेन्द्र—यह चार खण्डो मे विभक्त चालीस सर्गों म सगठित धीरोदात्त, युगपुरुष प० जवाहर लाल नेहरू के जीवन तत्त्वो स प्रेरित काव्य सरचना है। कवि श्री रघुवीर शरण मिश्र ने सरल भाषा और सरस छन्दो मे प्रतिपादित किया है कि प० जवाहर लाल नेहरू तेजपुज, महान क्रान्तिकारी, कुशल राजनीतिज्ञ, अद्भुत शान्तिदूत और स्वतन्त्रता सग्राम के महारथी थे। ऐसे आलोक-पुरुष की अगुआई मे ही भारतीय राष्ट्र का नवोदय हुआ और विश्व के राष्ट्रो मे प्रतिष्ठा भी प्राप्त की।

पार्वती—डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन कृत इस महाकाव्य मे मगलाचरण, अर्चना और आरती के अतिरिक्त सत्ताइस सर्गों मे निबद्ध शिव की आद्याशक्ति पार्वती का गुणानुवाद है। शिव और पार्वती की कथा-पुराकाल से भारतीय लोकमानस में व्याप्त है। अपने वृहदाकार म यह महाकाव्य भारतीय सस्कृति के शाश्वत मूल्यों

की जीवन्तता का प्रतिपादित करता है। औढरदानी, परमयोगी, मदन विनाशक, ब्रह्म-स्वरूप भगवान शिवपुरुष की तटस्थता के प्रतीक हैं। प्रकृति-स्वरूपा नारी पार्वती घोर तपस्या करके अपनी क्रियाशीलता से पुरुष शिव को प्रसन्न करके सृष्टि का उद्धार करती है। नारी की यह शक्ति उसका चरम विकास है।

जयभारत—श्री मैथिलीशरण गुप्त प्रणीत 47 सर्गों के इस महाकाव्य 'महाभारत' के विशाल फलक में से चयनित विशिष्ट प्रसंगों का नव प्रत्याख्यान है। किन्तु ये प्रसंग कौरव-पांडवों के जीवन-वृत्त को महाभारत के युद्ध से मर्यादित करते हैं जिससे वर्तमान काल के युद्धों की प्रासंगिकता उभरने लगती है। चलचित्रों की तरह चित्रित इन प्रसंगों में भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल और ऊर्ध्वगामी पक्ष उद्घाटित हुए हैं।

जननायक—श्री रघुवीर शरण मिश्र द्वारा रचित इक्कीस सर्गों का विशाल काव्य ग्रंथ है। कवि ने गांधी जी के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त का सरस छन्दों में कलात्मक वर्णन किया है। यह महाकाव्य देश के स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के योगदान का समाख्यान है। 'जननायक' ज्योतिवन्त महापुरुष गांधी के प्रति कवि की श्रद्धांजलि है। यह महाकाव्य इतिहास राजनीति और संस्कृति का समन्वित ग्रंथ है।

प्रियमिलन—पंडित प्रवर नन्द किशोर झा द्वारा विरचित 'प्रियमिलन' 'प्रिय-प्रवास' की तपिश को मिटाने के क्रम में मिलन का उल्लास है। इक्कीस उल्लासों की इस कृति में कृष्ण चरित को आधार बनाया गया है। रुक्मिणी परिणय, कृष्ण-सुदामा मिलन, द्रौपदी-सत्यभामा सम्मिलन, वसुदेव देवकी से कृष्ण बलराम का मिलन, उषा-अनिरुद्ध मिलन आदि सन्दर्भों का कलात्मक गुम्फन इस कृति के भाव पक्ष को पुष्ट करता है।

कैकेयी—श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का महाकाव्य—'कैकेयी' एक नयी दिशा का उद्घाटन करता है। परम्परागत रामकथा में कैकेयी का जो रूप चित्रित किया गया है उससे कुछ भिन्न रूप में श्री प्रभात ने कैकेयी की सृष्टि में उसे नूतन दृष्टि प्रदान की है। कवि ने प्रतिपादित किया है कि कैकेयी अपने समय की प्रबुद्ध, वीर क्षत्राणी थी। उसकी दूरदर्शिता के कारण आरण्यक-ऋषि-तपस्वियों का वध करने वाले अनार्यों का नाश हुआ और राम का चरित्र अनुकरणीय यशस्वी और आदर्श बन सका। राष्ट्रीय चेतना की इस कृति में बौद्धिक चिंतन का आधिक्य है। यह राष्ट्रीय भावनाओं की चिंता पूर्ण प्रतीकात्मक अभिव्यंजना है। इस काव्य में कैकेयी को राष्ट्रीय कर्मनिष्ठ नारी के रूप में चित्रित किया गया है।

श्री प्रभात उपर्युक्त महाकाव्य की तरह श्री चाँदमल अग्रवाल 'चन्द्र' ने भी अपने महाकाव्य 'कैकेयी' में कैकेयी के कलुषित नारी के स्थान पर राष्ट्र-हितैषी, कर्तव्य-परायण और दूरदर्शी नारी के रूप में चित्रित किया है। सत्रह सर्गों की इस कृति में श्री 'चन्द्र' ने कैकेयी के माध्यम से नारी जीवन के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया है। यह कृति रामकथा को मानवीय धरातल पर रखकर ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों को इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि जिसमें कवि का युगबोध स्पष्ट हो जाता है।

दमयन्ती—'दमयन्ती' लोक विश्रुत नल-दमयन्ती की प्रेमकथा का सुसम्बद्ध, अनुभूतिपरक एवं तटस्थ चित्रांकन है। गाँधीवादी विचारधारा इस प्रबन्ध काव्य की दर्शन भित्ति है। चौदह सर्गों में निबद्ध श्री ताराचन्द हारीत कृत यह महाकाव्य युगीन मानवीय आदर्शों की सशक्त प्रबन्ध काव्य कृति है।

जानकी जीवन इक्कीस सर्गों में निबद्ध पं० राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा' का संस्कृत वर्ण-वृत्तों में रचित खड़ी बोली का महाकाव्य है। इस महाकाव्य का कथ्य उत्तर रामचरित का घटनाक्रम है, जिसमें लंका विजय के पश्चात् राम के राज्याभिषेक, जानकी परित्याग, वाल्मीकि-आश्रम में लव-कुश की युद्ध गाथा आदि की समाहृति है।

देवार्चन—श्री 'करील' कृत सत्रह सर्गों की यह रचना गोस्वामी तुलसीदास का चरित्रांकन है। वास्तव में तुलसी के आदर्शों के आधार पर भारतीयता की पुनर्प्रतिष्ठा की स्थापना करना ही कृतिकार का उद्देश्य रहा है।

रावण—सत्रह सर्गों में रचित इस महाकाव्य का आधार पौराणिक आख्यान ही है। कथा आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण से ली गई है किन्तु कवि ने उसे नवीन ढंग से संगठित किया है। विशुद्ध ब्रजभाषा में वर्णित इस महाकाव्य का 'रामायण' अथवा 'रामचरितमानस' के नायक के विपरीत उनका नायक रावण है। कवि ने परम्परा के विरुद्ध रावण का उत्कर्ष दिखलाया है किन्तु इससे राम का अपकर्ष सिद्ध नहीं होता।

रामराज्य—बारह सर्गों की यह काव्य कृति मर्यादा पुरुषोत्तम राम के राजनैतिक आदर्शों का युगीन सन्दर्भों में समाख्यान है। कवि श्री बलदेव प्रसाद मिश्र ने रामकथा के प्रसंगों का इस प्रकार संयोजन किया है जिससे देश के वर्तमान प्रशासन में सुधार और सुराज्य की स्थापना हो सके।

चन्द्रगुप्त—महाकाव्य भारत के प्रथम इतिहास सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के महान और उज्ज्वल चरित्र का आलेख है। कवि श्री राम सेलावन वर्मा ने चन्द्रगुप्त मौर्य को तत्कालीन भारत की स्वतन्त्रता, अखण्डता और राष्ट्रीयता का संरक्षण करने वाला चित्रित किया है। विशाल कलेवर विविध कथा प्रसंगों, परिस्थितियों और घटनाक्रम के चित्रण से यह महाकाव्य घटना-प्रधान हो गया है। इस महाकाव्य में नन्दवंशीय सम्राटों की विलासिता, पश्चिम भारत के छोटे राज्यों का पारस्परिक वैमनस्य एवं विग्रह, अलक्षेन्द्र और शैलाक्ष के आक्रमण, भारतीय और यूनानी सैनिकों का पारस्परिक संघर्ष और सम्पर्क, चाणक्य, वररुचि, शकटार की कूटनीतियों के घात-प्रतिघात, वरलोमा-चित्रसेन, चन्द्रगुप्त हेलन आदि की प्रेम कथाओं का चित्रण है।

अंगराज—पच्चीस सर्गों में प्रणीत यह महाकाव्य श्री आनन्द कुमार का 'मानस पुत्र' है। महाभारत के प्रचलित स्वरूप में कर्ण पालित सूत पुत्र हैं। उन्होंने अन्यायी कौरवों का पक्ष लेकर पाण्डवों के विरुद्ध घोर संघर्ष किया। कौरव राज दुर्योधन ने कर्ण के व्यक्तित्व को परखा और पाण्डवों के विरुद्ध खड़ा करने हेतु उन्हें अंगराज बना दिया। महावीर कर्ण ने इस उपकार के बदले में मृत्युपर्यन्त दुर्योधन का साथ दिया। महावीर कर्ण ने विरोधी और संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में अपना वर्चस्व स्थापित

किया था। पुरुषार्थी ही अपने व्यक्तित्व का मुक्त विकास कर सकते हैं। महावीर कर्ण जैसे व्यक्तित्व आज के राजनीतिक खोखलेपन को ठोस धरातल प्रदान कर सकते हैं, यही अगराज के सर्जक का उद्देश्य रहा है।

एकलव्य—चौदह सर्गों में सयोजित यह महाकाव्य छायावादी अभिव्यंजना की श्रेष्ठतम कृति है। कवि श्री रामकुमार वर्मा ने इस महाकाव्य में प्राचीन संस्कृति के इतिहास को मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः एकलव्य तत्कालीन समाज के शिव का अमृत रूप है। इस महाकाव्य का आधार महाभारत में वर्णित उपाख्यान एकलव्य की कथा है। श्री वर्मा ने एकलव्य के माध्यम से निषाद संस्कृति को उदात्त रूप में प्रस्तुत किया है। तत्कालीन अभिजात वर्ग के सामन्ती आदर्शों का खोखलापन दर्शाया है। निषादराज के पुत्र एकलव्य की अनन्य गुरु भक्ति के सम्मुख सामन्ती आदर्श नहीं टिक सके।

कालिदास—लोक विश्रुत महाकवि कालिदास के जीवन-वृत्त का श्री तिलक ने इस महाकाव्य में चित्रण किया है। वज्रमूर्ख कालिदास विद्योत्तमा से अपमानित होकर कालिदेवी की कृपा से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजकवि बन गये और साधना द्वारा अपनी काव्य कला का चरम उत्कर्ष कर सके।

निराला—कालिदास की तरह श्री तिलक ने 'निराला' महाकाव्य में भी इस युग के क्रान्तिकारी कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की जीवनी को काव्य निबद्ध किया है।

साकेत संत—चौदह सर्गों की यह कृति रामकथा पर आधृत है। किन्तु इस महाकाव्य में डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने रामायण के उन्हीं कथा प्रसंगों को ग्रहण किया है जिनसे भारत के चरित्र की उदात्तता एवं महत्ता प्रतिपादित हो सके।

उर्मिला—महाकाव्य का आधार रामकथा ही है किन्तु इसमें परम्परागत रामायणी कथा प्रसंगों एवं घटनाओं को ग्रहण नहीं किया गया है। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इस महाकाव्य में राम कथा के उन्हीं प्रसंगों का चयन किया है जिनसे उपेक्षिता उर्मिला के सपूर्ण जीवन का उत्कर्ष चित्रित हो सके।

उर्वशी—स्वर्गीय शिवपूजन सहाय ने 'उर्वशी' महाकाव्य को राष्ट्रभाषा हिन्दी का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' बताया है। श्री दिनकर के इस महाकाव्य का आधार पुरुरवा और उर्वशी का वैदिक पुराख्यान है। श्री दिनकर ने इसमें पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से नर-नारी के शाश्वत सम्बन्धों की गहराई को काव्यबद्ध किया है। पुरुरवा की आकुलता, तर्क, द्वन्द्व, ऐन्द्रिकता उर्वशी के भावना प्रवण हृदय में रसाभिसिक्त होकर अतीन्द्रिय जगत् में शान्त हो जाती है। 'उर्वशी' प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द का अनुभूति-परक महाकाव्य है। वस्तुतः यह श्री दिनकर के काव्य हृदय का नवनीत है।

देवपुरुष गाँधी—'देव पुरुष गाँधी' श्री रमेश चन्द्र शास्त्री का सरल, सरस और सुन्दर काव्य ग्रंथ है। इसमें गाँधी जी के समग्र जीवन का अद्भुत कौशल से चित्रण किया गया है। गाँधी जी के जीवन निर्माण सम्बन्धी सभी तत्त्वों को काव्यात्मक वाणी दी गयी है। असत् पर सत् की विजय ही इस महाकाव्य का मूल कथ्य है।

आंजनेय—डॉ० श्याम नन्दन किशोर कृत इस महाकाव्य में अनन्य राम भक्त महावीर हनुमान के जीवन की गाथा का निरूपण किया गया है। कवि ने पौराणिक पात्र को आधुनिक जीवन सन्दर्भों में चित्रित किया है। महावीर हनुमान शक्ति-पुंज और शिवत्व भावना से अनुप्राणित थे। 'आंजनेय' का महत्व इसी सन्दर्भ में आज भी उपादेय है।

सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और सुभाषचन्द्र बोस—राष्ट्रीय भावों और विचारों से ओत-प्रोत ये तीनों महाकाव्य श्रीकृष्ण 'सरल' द्वारा रचे गए हैं। इनमें शहीद सम्राट सरदार भगतसिंह, क्रान्ति गगन के धूमकेतु चन्द्रशेखर आजाद एवं *अमर सेनानी सुभाष चन्द्र बोस के राष्ट्र प्रेम और अमर बलिदान का निर्भीक चित्रण* है। श्रीकृष्ण 'सरल' द्वारा प्रणीत ये तीनों महाकाव्य राष्ट्रीय भावों और विचारों से ओत-प्रोत हैं। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में शहीद होने वाले अनेक वीरों के राष्ट्र-प्रेम और आत्म-बलिदान की कथा की सरस अभिव्यक्ति इन महाकाव्यों में हुई है।

झांसी की रानी—बाईस सर्गों (हुंकार) में सगठित यह महाकाव्य झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन का आद्योपांत चित्रण है। कवि श्री श्याम नारायण प्रसाद ने लक्ष्मीबाई की जन्मजात प्रतिभा, निर्भीक प्रकृति, अदम्य उत्साह, अद्भुत वीरता, कुशल सैन्य सचालन शक्ति, उत्कट स्वातन्त्र्यप्रियता का गौरव गान किया है।

गुरु गोविन्द सिंह—श्री श्याम नारायण प्रसाद कृत 'गुरु गोविन्द सिंह' भी सिक्खों के दशम् गुरु गोविन्द सिंह के जीवन और कृतित्व का अनुभूति चित्र है। गुरु गोविन्द सिंह जैसे अद्वितीय त्यागी, ताप पूत कर्मयोगी एवं महान् जननायक के जीवन-चरित्र को आधार बनाकर 23 सर्गों में महाकाव्य की रचना हुई है।

अम्बेडकर—इस महाकाव्य में बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर के जीवन-वृत्त को काव्यात्मक रूप दिया गया है। बाबा साहब ऐसे दिव्य स्वरूप महामानव थे, जिन्होंने स्वतन्त्र भारत के संविधान में निम्न वर्ग के दीन दुखियों को शोषण के विरुद्ध अधिकार दिलाकर उनका उद्धार किया। उन्होंने शूद्रों, अछूतों और विशेष रूप से भारतीय नारी समाज के उत्थान हेतु 'हिन्दू कोड बिल' पास कराने का भरसक प्रयत्न किया। निम्न वर्ग में उत्पन्न दुःख-दारिद्र्य में पालित श्री भीमराव अम्बेडकर अपने अथक परिश्रम से विश्व पांडित्य के पद पर आसीन हुए। वास्तव में उनकी प्रतिभा से भारत भी गौरवान्वित हुआ है। ग्यारह सर्गों के इस महाकाव्य में 'श्री बाबूलाल सुमन' ने भीमराव अम्बेडकर के माध्यम से भारत के शूद्रों—शोषित पीडित अछूतों—को वाणी देने का प्रयत्न किया है।

जगदालोक—डॉ० गोपालशरण सिंह की इस कृति में महात्मा गांधी के जीवन की प्रमुख घटनाओं के सन्दर्भ में समकालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। बीस सर्गों के इस महाकाव्य में महात्मा गांधी की साधना देश-महिमा, राष्ट्र प्रेम और सेवा-भावना के प्रसाद गुण का सहज चित्रण है।

निषादराज—महाकाव्य का आधार रामायण की छोटी सी घटना निषादराज गुह का कथानक है। श्री रत्नचन्द्र शर्मा ने चौदह सर्गों की इस कृति में निम्नवर्गीय

निषाद जाति के गुह की स्वामिभक्ति और मर्यादा पुरुषोत्तम राम का उसके प्रति सख्य प्रेम का चित्रण किया है।

बंगला देश—यह एक चिंतन प्रधान महाकाव्य है। इसमे नूतन राष्ट्र के जनक शेख मुजीबुर्रहमान के भावो और उनके चितन को काव्य निबद्ध किया है। वस्तुतः कवि श्री तिलक ने पच्चीस सर्गों के इस महाकाव्य मे शेख मुजीब के संघर्षपूर्ण जीवन के माध्यम से राजनीतिक दर्शन को उजागर किया है।

सीता समाधि—इस महाकाव्य का आधार रामकथा से सम्बन्धित अनेक काव्य ग्रंथ हैं। राम कथा की नायिका सीता ही इस महाकाव्य का प्राण है। राम और सीता भारतीय संस्कृति के शाश्वत प्रतीक हैं। अनादिकाल से चली आ रही हमारी सास्कृतिक यात्रा वर्तमान मे आकर अवरुद्ध हो गई है। इस सांस्कृतिक ह्रास को ही कवयित्री राजेश्वरी अग्रवाल ने 'सीता समाधि' के रूप मे प्रस्तुत किया है। लेखिका ने राम को यहाँ की आदर्श राज्य सत्ता के और सीता को प्रेम, त्याग, भूमि, संस्कृति आदि का प्रतीक माना है।

कल्पान्त—स्वर्गीय श्री शम्भूदयाल सक्सेना द्वारा विरचित तेरह सर्गों की इस कृति में आधुनिक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की ओर अर्थपूर्ण ढग से संकेत किया गया है। इसमे मानवता के उज्ज्वल भविष्य को दिशा-दृष्टि प्रदान की गई है।

ऋतंबरा—इस प्रबन्ध काव्य का कथानक सृष्टि से भी पूर्व पूर्ण प्रलय के साथ प्रारम्भ होता है और मानव के गत्यात्मक जीवन की यात्रा करता हुआ आधुनिक युग के पड़ाव पर रुकता है। सोलह सर्गों की इस रचना मे श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने मानवता की अनन्त परम्परा मे ऋत के रूप मे शाश्वत सत्य का उद्घाटन करने का सरस प्रयत्न किया है।

वर्द्धमान—भक्ति और वैराग्य का काव्य है। प० अनूप शर्मा ने यह महाकाव्य संस्कृत वृत्तों और संस्कृत बहुल भाषा मे रचा है। यह जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन और व्यक्तित्व पर आधृत भावात्मक महाकाव्य है।

तीर्थंकर भगवान महावीर—श्री वीरेन्द्र कुमार जैन कृत इस महाकाव्य मे तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन-चरित्र की सरलता और ऋजुता का आडम्बर रहित भाषा मे चित्रण हुआ है।

पार्श्व-प्रभाकर—इस प्रबन्ध काव्य मे श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के पावन चरित्र का उद्घाटन किया है।

आंजनेय—डॉ० दयाकृष्ण विजय विरचित नौ सर्गों का यह महाकाव्य—भक्ति, सेवा और विक्रम की विभूति अंजनिपुत्र हनुमान इस महाकाव्य के नायक हैं। अंजनि पुत्र हनुमान के अद्भुत चरित्र पर आधारित आजनेय हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। इसमे राम के परम भक्त वीर ब्रह्मचारी हनुमान के पराक्रम का वर्णन है। यह पवित्र, धार्मिक एवं सांस्कृतिक महाकाव्य है। इसकी भाषा एवं शैली सात्विक है। आजनेय सनातन राम कथा का अंग है। आधुनिक कवि की रचना होने के कारण सामयिक भावों और अभिप्रेतो का कला पूर्ण समावेश है। आजनेय के चरित्र की दिव्य, उदात्त और

ओजस्वी भावनाएँ—महाकाव्य को समर्थता प्रदान करती हैं। हनुमान के चरित्र में बुद्धि, ज्ञान और योग के साथ पराक्रम का संगम है। धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न नायक हैं। हनुमान का व्यक्तित्व उत्तम सांस्कृतिक आदर्श का मूर्त रूप है। हनुमान रुद्रावतार थे। यह महाकाव्य भाव की महिमा और तत्त्व का गौरव लिये हुए हैं।

युगस्रष्टा प्रेमचन्द और मीरां—परमेश्वर द्विरेफ प्रणीत इस महाकाव्य में हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचन्द को युगस्रष्टा के रूप में चित्रित किया गया है। द्विरेफ जी राजस्थान के ऐसे प्रथम महाकाव्यकार हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का महत्त्वांकन किया है, यद्यपि 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' आठ सर्गों का लघु महाकाव्य है तथापि इसकी गरिमा और वैचारिक प्रभाव अप्रतिम है। श्री द्विरेफ ने प्रेमचन्द को मजदूरों का बन्धु और विश्व का सत्साहित्यकार-सम्राट घोषित किया है। महाकाव्य की भाषा और भावभूमि सरस है। श्री द्विरेफ का दूसरा महाकाव्य 'मीरां' राजस्थान की प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरांबाई के आख्यान को लेकर 13 सर्गों में विरचित है। मीरां महाकाव्य में मीरांबाई के जीवन-चरित्र को मार्मिक रूप में चित्रित किया है।

आम्रपाली—16 सर्गों का यह महाकाव्य श्री अमरसिंह द्वारा प्रणीत है। इस कृति में वैशाली गणराज्य की गणवधू आम्रपाली के व्यक्तित्व का भावपूर्ण अंकन किया गया है। वास्तव में कवि ने आम्रपाली के माध्यम से ह्रासोन्मुख समाज में संघर्षशील नारी चेतना का चित्रण किया है। कवि के शब्दों में—"आम्रपाली एक भाव कथा है इतिहास के धूमिल पृष्ठ पर जाज्वल्यमान नक्षत्र जिसने अपने प्रकाश से नारी जाति के चिर सतीत्व एवं नारीत्व की रक्षा की और वह भी नगरवधू के बंधे हुए निकृष्ट जीवन में रहकर।"

प्रताप—21 सर्गों में रचित इस महाकाव्य में स्वतन्त्रता सेनानी, वीर शिरोमणि, महाराणा प्रताप के साहस शौर्य और त्यागपूर्ण जीवन की काव्य गाथा अनुबद्ध है। कवि श्री रणवीर सिंह शक्तावत 'रसिक' ने इस महाकाव्य में तत्कालीन सामाजिक जीवन का भी निरूपण किया है।

वीरायन—'वीरायन' 15 सर्गों का महाकाव्य है। श्री रघुवीरशरण मिश्र द्वारा रचित इस महाकाव्य में भगवान महावीर की महिमा का विलक्षण समाख्यान हुआ है। कवि ने तीर्थंकर महावीर के जीवन-वृत्त के माध्यम से महात्मा गांधी के चेतना प्रभावों को रूपायित किया है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और जीवन मूल्यों की व्यंजना के साथ आधुनिक भावबोध के सन्दर्भ इस महाकाव्य को अप्रतिम काव्य-गौरव प्रदान करते हैं।

उत्तरायण—9 सर्गों के इस महाकाव्य में डॉ० रामकुमार वर्मा ने लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व को राम कथा के कथ्य सन्दर्भों में उद्घाटित किया है। 'उत्तरायण' महाकाव्य में राम कथा के मार्मिक प्रसंगों का विलक्षण काव्यात्मक चित्रण किया गया है। नौ सर्गों में विभक्त इस महाकाव्य के पद लालित्य, विषय गाम्भीर्य और लोकमंगल तत्त्वों की उद्भावना युगानुरूप है।

नारी—इस महाकाव्य मे श्री अतुल कृष्ण गोस्वामी ने नारी को उसके विविध रूपों मे चित्रित किया है। शैशव से लेकर वृद्धावस्था, आद्या शक्ति से लेकर दुष्ट विनाशिनी प्रेमिका, वत्सला और मातृत्वधारिणी मे लेकर कुट्टिनी, मायाविनी आदि सभी रूप 'नारी' महाकाव्य में उपलब्ध हैं किन्तु इस महाकाव्य में राजनीतिक चेतना के सन्दर्भों का ऐकान्तिक अभाव है।

विरहिणी—बारह सर्गों के इस महाकाव्य मे श्री मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने जीवात्मा की परमात्मा से वियुक्ति एव विरह दशाओ के उतार चढाव का चित्रण किया है। जीव के प्रभु से पुन मिलन पर ही मुक्ति सम्भव है। वस्तुत यह दार्शनिक महाकाव्य है, जिसमे जीवन के गूढ तत्वों का निदर्शन हुआ है। इस महाकाव्य में राजनीतिक चेतना का सर्वथा अभाव है।

मृगदाव—त्रिवेदी रामानन्द शास्त्री कृत बाईस सर्गों के इस महाकाव्य मे भगवान गौतम बुद्ध के जीवन वृत्त का काव्यात्मक समावसन हुआ है। भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम ऋषि पत्तन—'मृगदाव' म ही अपना दिव्य सदेश दिया और धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। 'मृगदाव' मे भगवान बुद्ध की करुणा का महाप्रवाह और काव्य कौशल दोनो ही श्लाघनीय है।

निष्कर्ष—स्वातन्त्र्योत्तर काल मे रचे गये महाकाव्यो का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य सृजन की धारा अविच्छिन्न और अबाध है। जिस विपुल मात्रा म इस अवधि म महाकाव्य रचे गये हैं उनस महाकाव्य विधा के विकास की सम्भावनाएँ ही पुष्ट हुई हैं। स्वतन्त्रता पूर्व के जातीय एव राष्ट्रीय जीवन की अवरुद्धता को जैस नवीन उन्नयन की गतिशीलता प्राप्त हो गई है। समकालीन जीवन की बहुआयामी जटिलताओ को कोई भी महाकाव्यकार एक ही कृति म समाहृत नही कर सकता है। अत स्वतन्त्र भारत की नव रचना के समस्यामूलक सदर्भों को लेकर अनेक महाकाव्य रचे गये हैं। स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यकारों ने काल के अन्तराल को मिटाकर युग युग के जीवन प्रवाह को समकालीन ज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जीवन से जोड दिया है। इस अवधि के अधिकांश महाकाव्यो मे चित्रित जीवन दर्शन मानवतावादी है। उनमे विश्वजनीन भावनाओ का सुष्ठु एव मनोरम आकलन हुआ है। महाकाव्यकार की सहानुभूति निम्न वर्ग के उपेक्षित, पीडित और शोषित मानव के प्रति रही है। उनमे राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति के साथ अनेक दार्शनिक वादों का भी निदर्शन हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यकारो न शैली विधान म परम्परागत सीमाओ का अतिक्रमण करके महाकाव्य सरचना के नवीन मौलिक प्रतिमान स्थापित किये हैं। निश्चय ही स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों की सृजना महाकाव्य विधा के गौरान्वित पक्षों को उजागर करने वाली है।

पाद टिप्पणी

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 पृ० 923
2 रुद्रट काव्यालंकार, पृ० 16-2
3. आचार्य विश्वनाथ—साहित्य दर्पण, पृ० 315-29

4. डॉ० गोविन्दराम शर्मा—हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य पृ० 23
5. वाल्मीकि रामायण—उत्तर काण्ड पृ० 1653
6. डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन पृ० 3
7. डॉ० रामरतन भटनागर—सरस्वती सवाद महाकाव्य विशेषांक, वर्ष 8 अंक 1 अगस्त 1959
8. डॉ० विनय—महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर प्रभाव पृ० 7 [illegible]
9. The subject of the epic poem must be some one great complex action The principal peronages must belong to the high places of society must be grand and elevated in their ideas The measure must be of a sonorous dignity befitting the subject The Epic devoloped by a mixture of diologue soliloguy and narrtion

   —C V Vaidya—The Mahabharata A criticism P 40
10. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक—चिंतन के क्षण पृ० 37
11. डॉ० गोविन्दराम शर्मा—हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य पृ० 28
12. ' The Epic poet [illegible] rarist kind of artist

    —Abercrombie—The Epic, P 41
13. डॉ० शकुन्तला दुबे—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० [illegible]
14. डॉ० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० 41
15. रामधारीसिंह दिनकर—अर्ध नारीश्वर, पृ० 46
16. डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन पृ० 9
17. आलोचना 1951—अंक 1 पृ० 9 (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख—'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा')
18. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च तत् ।
    अग्राम्य-शब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम् ॥
    मन्त्र दूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयस्च यत् ।
    पंचाभि सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥

    भामह—काव्यालंकार परि० 1 19 23
19. These songs in praise of men probably soon developed into epic poems of considerable length i e heroic songs and into entire cycles of epic songs centering around one hero or one great

    —M Winternitz—A History of Indian Literature Vol I P 314
20. डॉ० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० 49
21. डॉ० शकुन्तला दुबे—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास पृ० [illegible]
22. "सर्ग बन्धो महाकाव्य मुच्यते तस्य लक्षणम् ।
    आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
    इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
    चतुर्वर्ग फलायत्त चतुरोदात्त-नायकम् ।
    नगरार्णव शैलर्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनैः ।
    उद्यान सलिल क्रीडामधुपान रतोत्सव ।
    विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय-वर्णनैः ।
    मन्त्रदूत प्रयाणानि नायकाभ्युदयैरपि ॥

> अलङ्कृतम् सङ्क्षिप्तं रसभाव-निरन्तरम् ।
> सर्गैरनति विस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥
> सर्वत्र भिन्न-वृत्तान्तैः रुपेतं लोकरञ्जनम् ।
> काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥
> न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
> यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद् विदः ॥"
>
> —दण्डी-काव्यादर्श, परि० 1, 14 20

23 डा० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 50

24 डा० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० 54

25 हेमचन्द्र सूरी—काव्यानुशासन—आठवाँ अध्याय ।

26
> ' सगबन्धो महाकाव्य तत्रै को नायक सुर ॥315॥
> सद्वंश क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित ।
> एक वंश भवा भूपा कुलजा बहवोपि वा ॥316॥
> शृंगार वीर शान्तेनामे कोऽङ्गी रस इष्यते ।
>
> —आचार्य विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, परि० 6 315 से 325

27 शचीरानी गुर्टू—वैचारिकी, पृ० 94-95

28 डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० 12-13

29 "Epic and adjective, Gr epikos from Gr epos, which first meant word , but then as on word leads to another, come to mean story, then the long narrative poem "

—Dictionary of word origin, P 72

30 "epos (Gr)—(a word, a song)

1 A long narrative poem with a dignified style and certain formalities of structure, about the deed of a traditional hero or heros as the Iliad and odyssey

2 A prose narrative, play etc regarded as having the qualities of an epic

3 A series of events regarded as a proper subject for an epic '

—Webster's New world Dictionay, P 252

31 डॉ० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 73

32 गोपीकृष्ण गोपेश (अनुवादक)—विदेशी के महाकाव्य भूमिका, पृ० 13

33 डॉ० शकुन्तला दुबे—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास

34 डॉ० नगेन्द्र—अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० 127

35 डॉ० नगेन्द्र—अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० 132

36 "By an epic plan I mean a fable composed of many fables, as if any one, for instance, should take the entire fable of the Iliad for the subject of a tragedy In the epic poem, the length of the whole admits of a proper magnitude in the parts, but in the drama, the effect of such a plan is far different from what is expected "

—Edited By T A Moxon—Aristotle's Poetics, Part II, P 36

37 "The surprising is necessary in tragedy, but the epic poem goes further and admits even the improbable and incridible from which the highest sense of surprising results The poet should prefer impossibilities which appear probable to such things, as though possible, appear improbable"
—Edited by T A Moxon—Aristotle's Poetics, Part III, P 46 47 50

38 डॉ० शम्भुनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 70

39 "Le Bossu defined epic, therefore, as—"a composition inverse intended to form the manners by instructions disguised under the allegories of an important action"
—M Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P 2

40 'The heroic poem narrative is called an epic poem said Hobbes 'The heroic poem dramatic is tragedy"
— M Dixon—English Epic and Heroic poetry, P 22

41 F B Gummere—Hand book of Poetics, P 15-16

42 "An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandeur and importance and come from a life of action, especially of violent action such as war It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievements and in the dignity and nobility of man"
—C M Bowra—From Virgil to Milton, P 1

43 "What epic quality, detached from epic proper, do these poems possess than—apart from the mere fact that they take up great many pages ? It is simply a question of their style of their conception and the style of their writing the whole style of their imagination infact They take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominent noticeable symbolic purpose presides out each poem, moulds it greatly and informs it throughout"
—Lascelles Abercromoie—The Epic, P 41 42

44 'W P Ker—Epic & Romance, P 17

45 "Use alone has prefixed the name of epic particularly to those poems wh ch relate some great action Let the action be simple for complex Let it lie in one single place, as in the Iliad, or let the hero wander all the world over, as in the odyssey, let there be one single hero, or a great many, happy of unfortu nate, furious as Achilles, or pious as Aeneas, let them be kings or generals, or neither of them, let the scene lie upon the Indian Occean, as in the lusiada of Camoens, In the west Indies, as in the Arancana of Alonzo of Ericilla in Hell, in

Heaven, out of the limits of our nature, m m Milton, the poem will equally deserve the name of epic, unless you have a mind of honour it with another title proportionate to its merit"

—Quoted by M Dixon—English Spic & Heroic Poetry, P 9

46 "The first Epic requirement is the simple one of high quality and of high seriousness"

—E M W Tillyarde—The epic strain in English Novel, P 5

47 "The second epic requirement can be roughed out by vague words like amplitude, breadth, inclusiveness and so on"

—Ibid, P 6

48 "The third requirement has been hinted already though what I said about fortuitous concatenations This exercise of will and belief in it (Paradise lost) which are corollary of our third Epic requirement, help to associate epic poetry with the largest human movements and solidest human institutions In creating what we call civilization the sheer human will has had a major part'—Ibid, P 6

49 "The fourth Epic requirement can be called choric The Epic must express the feeling of a large group of people living in or near his own time But that feeling must include the condition that behind the Epic another is a big multitude of men whose most serious convictions and de r habits he is mouth piece"—Ibid, P 12

50 "I want to insist that true Epic creates a Heroic impression"

—Ibid, P 10

51 "As to contents, the writer must seem to know every thing before his mission to speak for a multitude can be ractified He must also spen a corresponding width of emotions, if possible one embracing the simplest sensualities at one end and a sense of the numinous at the other"

—E M W Tillyard—The Epic Strain in English Novel, P 16

52 डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० 20-21

53. डॉ० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 105 107

54 गोपीकृष्ण (अनुवादक)—विदेशों के महाकाव्य, पृ० 5

55 वृहद् हिन्दी शब्दकोश, पृ० 1058

56. सं० सत्यप्रकाश, बलभद्र प्रसाद मिश्र—मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश, पृ० 458

57 स० डॉ० नगेन्द्र—मानविकी पारिभाषिक कोश, पृ० 105 106

58 शची रानी गुर्टू—वैचारिकी, पृ० 95

59 रवीन्द्रनाथ टैगोर—मेघनाथ वध—महाकाव्य, भूमिका, पृ० 157-58

60 "Epic poetry of epos, terms rather loosely used to designate a

widely extent form of narrative verse conspicious for its length and its elevated heroic mood"

—Encyclopaedia Britanica, Vol 8, Ed 1962, P 645

61 'An epic is a long narrative poem which recounts heroic actions, usually of one principal hero, it may have a strong national significance"

—Colliers—Encyclopaedia, Vol 7 (Ed 1960), P 112

62 "Epic is spacious in scope, lofty in style and elebrate in structure"

—Encyclopaedia Amricana, Vol XIX, Ed 1963, P 707

63 'A very long narrative poem presenting adventures on a grand heroic scale organically united through a central figure of heroic proportions The adventures are made up of episodes which contribute to the formation of a race or nation"

—The Reader's Encyclopaedia, P 317

64 "Epic pirtaining to that kind of narrative poetry which cele brates the achievements of some heroic personage of history or tradition"

—The Oxford Universal Dictionary, Vol I, P 621

65 "Applied to a long narrative poem that relates heroic events in elevated style Characteristic of an epic poem, Epic poetry as a genre, a story comparable to that of an epic poem, especially a long adventure novel of film'

—Chamber's Twentieth Century Dictionary, P 438

66 "Yet heroic poetry in one, whether of East or West the North or South its blood and temper are the same, and the true epic, wherever created, will be a narrative poem, organic in struc ture, dealing with great actions and great characters in a style with the lordliness of its theme which tends to idealise these characters and actions and embellish its subject by means of episode and amplifications"

—M Dixon—English Epic and Heroic Poetry, P 24

67 डा० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन पृ० 23

68 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—(क) जायसी ग्रंथावली, पृ० 84

(ख) हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 171

69 डॉ० विनय—महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर प्रभाव, पृ० 78

70 डॉ० श्यामसुन्दर दास—साहित्यालोचन (12वाँ संस्करण—सं० 2014)

71 डॉ० गुलाबराय—काव्य के रूप (चतुर्थ सं०) पृ० 89

72 डॉ० नगेन्द्र—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० 16

73 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य (द्वितीय संस्करण), पृ० 106-107

74 डॉ० प्रतिपालसिंह—बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य पृ० [illegible]

75 डॉ० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० 108

76 डॉ० गोविन्दराम शर्मा—हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० 43

77 पंत—प्राक्कथन, पृ० 1

78. डॉ० श्याम नन्दन किशोर—आधुनिक हिन्दी महाकाव्य का शिल्प विधान, पृ० 60

79 डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० 30

80 डॉ० शकुन्तला दुबे—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० 46

81. These songs in praise of men probably soon developed into epic poems of considerable length i e. heroic songs, and into centering around one hero or one great. ."
—M Winternitz—A History of Indian Litiriature, Vol I, P. 314

82. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा-आलोचना, अ० 1, 1951

[illegible] डॉ० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० 54

[illegible] डॉ० शकुन्तला दुबे—काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० 51

85 डा० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 194

86 डा० शम्भूनाथसिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० 196 197

87. डा० देवीप्रसाद गुप्त—हिन्दी महाकाव्य सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ० 57

2

स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक चेतना का विकास

राजनीतिक चेतना का उदय एवं विकास

मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही उसने विकास की मंजिलें तय की हैं। वैसे वह स्वयं भी अगणित प्रेरणाओं और संभावनाओं का स्रोत रहा है। प्रत्येक समाज में अनेक समुदाय, संघ या संगठन भी होते हैं। आदिम साम्यवादी अवस्था के पश्चात् मानव समाज में उच्छृंखलता के कारण व्यक्ति की सुरक्षा, स्वतन्त्रता एवं विकास की गति में अवरोध आ गया और मानव समुदाय ने एक ऐसे संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया जो उस समस्त समाज का हित साधन करे, सभी आन्तरिक संघों समुदायों में सामंजस्य स्थापित करे और बाह्य शत्रुओं से रक्षा की भी व्यवस्था करे। कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों में मनुष्य के मन में राजनीतिक संगठन की चेतना का उदय हुआ। 'राज्य इसी प्रकार का संगठन है। इसका एक कर्त्तव्य विभिन्न वर्गों के आचरण में सामंजस्य उत्पन्न कर सामान्य हितों का संवर्धन करना भी है। बिना राज्य संस्था के शान्ति तथा सुव्यवस्था असम्भव है और शान्ति तथा सुव्यवस्था के अभाव में प्रगति एवं सभ्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार राज्य सभ्य जीवन की पहली आवश्यकता है।'[1]

राज्य ने ही समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया है। राज्य का उदय सामाजिक शक्तियों के बीच हुआ है। यह नियंत्रण और दण्ड का केन्द्रित आगार है। इसका लक्ष्य मानव उन्नति और निःश्रेयस के निमित्त समस्त आवश्यक बाह्य उपकरणों की व्यवस्था करना है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा की विशालधारा से प्रभावित होने के कारण स्वभावतः राजनीति का सम्बन्ध मानव हृदय और आत्मा से है। पृथ्वी के संरक्षण और विवर्धन के क्रिया-कलापों का शास्त्र होने के साथ ही राजनीति मानव आत्मा के विकास का इतिहास भी उपस्थित करती है क्योंकि बाह्य प्रवृत्तियों और चेष्टाओं के पीछे मानव-संकल्प और ऋतु का प्रकाशन विद्यमान है। इसलिए कभी-कभी राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानव की आत्मिक अभिव्यक्ति के साथ किया जाता है।'[2] सामाजिक विकास के प्रारंभिक युगों में राजनीतिक चेतना का स्वरूप पूर्णतः उभर नहीं पाया था। दण्ड और राजशक्ति के क्रमिक उपयोग से ही राज्य का प्रभुत्व बढ़ता गया। राज्य जन-समाज व

जन-समुदाय का सबसे उत्कृष्ट रूप है। अतः राज्य का प्रयोजन केवल यही नहीं है कि मात्स्य न्याय से मनुष्य की रक्षा की जाय, अपितु यह भी है कि वह मनुष्य की चौमुखी उन्नति मे सहायक हो।[3] इसी अनुक्रम मे डॉ० वर्मा का अभिमत भी उल्लेखनीय है कि—"विभिन्न कालो मे मनुष्य स्वधर्म प्रेमी है या स्वभावतः ही वह एक राजनीतिक प्राणी है, या उसके डरपोकपन के कारण ही राजकीय शक्ति की आवश्यकता है, या स्वभावतः वह सुखानुशयी और दुःखदूरापसारी प्राणी है, या वह परम स्वार्थ साधक है—इस प्रकार की अनेक स्थापनाएँ मानव-स्वभाव के विषय में की गई हैं और इन्हीं के आधार पर राजकीय व्यवस्थाओ के स्वरूप और लक्ष्य भी कल्पित हुए है।"

भारत में राजनीतिक चेतना का प्रसार

भारतीय इतिहास के प्राचीन युग मे राजनीति महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी थी। उस काल मे राजनीति का दण्डनीति, राज धर्म, नय शास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि विविध नामो द्वारा प्रयोग हुआ है। मनुष्य मे सामुदायिक प्रवृत्ति राज्य की उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान थी तथा इसी प्रवृत्ति के विकास के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई। डॉ० के० के० शर्मा लिखते हैं—'मनुष्य मे धर्म, आर्थिक जीवन व युद्ध की आवश्यकताओ के साथ ही अपनी रक्षा तथा हित के लिए सगठन, व्यवस्था और नियन्त्रण की जो आदत पड जाती थी वह शान्ति के समय भी विद्यमान रहती थी। इसमे मनुष्य धीरे-धीरे उस राजनीतिक चेतना को प्राप्त करने लगा जो राज्य संस्था का मूल आधार था। इस प्रकार सामुदायिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य समूहो मे रहने लगे और सजातता, धर्म आदि ने इन समूहो को सुसगठित होने मे सहायता दी। राजनीतिक चेतना के कारण ये प्रारम्भिक समुदाय सुसंगठित राज्य संस्था के रूप मे परिवर्तित होना शुरू हो गये।'[5]

राज्य और राष्ट्र

राष्ट्र और राज्य प्राय समानार्थी है। राष्ट्र मे भावात्मक एकता या एकानुभूति की भावना रहती है। सजातीयता, धर्म, आर्थिक जीवन और शत्रु से रक्षा (युद्ध) की प्रवृत्तियो ने मानव मे राजनीतिक चेतना का विकास किया है। वेदो मे 'राष्ट्र मे देहि', 'राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे दत्त'[6] के उद्घोष मानव के राजनीतिक सगठन को ही सकलित करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण मे प्रजा को ही राष्ट्र की सज्ञा दी गई है।[7] ऐतिहासिक अनुसधान के आधार पर ज्ञात होता है कि आर्यों से पहले यहाँ द्राविड जाति के लोग रहते थे जो आर्यों के समान ही सभ्य और सगठित थे। देश की रक्षा के लिए आर्यों को लम्बे समय तक अनार्यों से सघर्ष करना पडा था। इसमे स्पष्ट होता है कि द्राविडो और आर्यों मे राजनीतिक चेतना पर्याप्त रूप मे विकसित हो चुकी थी। कालान्तर मे आर्य विजयी हुए और उन्होने विशाल साम्राज्यो की स्थापना की।

"पृथिव्ये समुद्रपर्यन्ताया एक राष्ट्र"[8] की घोषणा आर्यों के समुद्र पर्यन्त समस्त भूभाग पर एक ही राज्य होने की उनकी कामना को लक्षित करती है। वेदों के 'दश-

राजसूय, अश्वमेध यज्ञ—चक्रवर्ती कहलाने की अभिलाषा भी समस्त देश पर शासन करने की भावना है जो राजनीतिक संगठन की सुदृढ़ता को इंगित करती है। राजाधिराज, सम्राट, चक्रवर्ती, सार्वभौम इत्यादि कई शब्दों का प्रयोग प्राचीन वाङ्मय में आता है और जो सिद्ध करता है कि पुराने समय से ही भारतीय राजनीतिक एकता के आदर्श और महत्व को भलीभाँति जानते थे।[9] महाभारत काल में समस्त भारत में राजनीतिक उथल पुथल हुई थी। राष्ट्र में अनीति और अन्याय की वृद्धि हो रही थी। महाभारत में लिखा है कि जब दण्ड नीति निर्जीव हो जाती है तब वेदत्रयी डूब जाते हैं और वृद्धि प्राप्त अन्य धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। राजधर्म में ही समस्त त्याग देखे जाते हैं और सब दीक्षाएँ राजधर्म में ही मिली हुई हैं, सब विद्याएँ राजधर्म में ही कही गई हैं और सब लोक राजधर्म में ही केन्द्रीभूत हैं।[10] महाभारत वृहद अनेक शास्त्रों का आकलन ग्रन्थ है किन्तु उसमें राजनीति पर पर्याप्त विमर्श हुआ है। राजा ही राज्य का शासक होता था और उसी से राज्य का अस्तित्व था। शान्तिपर्व में कहा गया है—समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए, उत्पीड़न की दुर्स्थिति के लिए, वर्ण व्यवस्था को रोकने के लिए तथा लोक मर्यादा की रक्षा के लिए राजा की परम आवश्यकता है। सभी राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजा की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया है और इसी कारण देवांशों से उसकी सृष्टि का विधान निश्चित किया है। राजा शब्द के अर्थ से उसकी आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है। राजा शब्द का अर्थ प्रजा का रंजन करने वाला, धर्म की मूर्ति तथा दीप्तिमान है और यही उसका सर्वप्रधान लक्षण एवं कर्त्तव्य है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा राजा शब्द की व्याख्या करने का आग्रह किये जाने पर भीष्म उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रजा को प्रसन्न करने के कारण उसे राजा कहते हैं।[11]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा की उत्पत्ति युद्ध में नेता की आवश्यकता के परिणाम स्वरूप हुई।[12] मनुस्मृति में भी राज्य के सप्तांगों का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड तथा बल राज्य के सात अंग हैं।[13] बार्हस्पत्य सूत्र में राजधर्म का उद्देश्य निर्धारित करते हुए लिखा है कि राज्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति है।[14] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजनीतिक चेतना के परिपाक का वर्णन मिलता है। कौटिल्य स्वयं राजनीति के मूर्त रूप थे। उनके अर्थशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का निरूपण हुआ है। जब प्रजा मात्स्य न्याय से पीड़ित हुई तो उसने मनु को अपना राजा बनाया। राजा की सेवाओं के उपलक्ष्य में सुवर्ण आदि का दसवाँ भाग और धनधान्य का छठा भाग कर के रूप में देने का वचन दिया। इसके उपलक्ष्य में मनु ने प्रजा के कल्याण एवं रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।[15] राजा के दैवी स्वरूप का सिद्धान्त अति प्राचीन है और यह सिद्धान्त गुप्त काल तक प्रचलित रहा। सभी प्राचीन राजशास्त्रवेत्ताओं एवं आचार्यों ने राजा को देवांशों से निर्मित बताया है तथा उसको उन्हीं देवों के समान आचरण करने का आदेश दिया है जिनके अंशों से उसका सृजन हुआ है। राजा को देवताओं के स्वरूप में तभी तक देखा जाता है जब तक वह उनके समान आचरण करता

था।[16] याज्ञवल्क्य स्मृति में राजा की योग्यता, उसके कर्त्तव्यों आदि के बार में विशद् वर्णन प्राप्त होता है।[17] निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि भारत के नागरिकों में राजनीतिक चेतना का स्तर ऊँचा था। विदेशी आक्रमण को यहाँ के गणराज्यों की जनता ने मिलकर रोका और भारत की स्वाधीनता की रक्षा की थी।

मध्यकालीन राजनीतिक चेतना का स्वरूप

मध्य युग में राजनीतिक चेतना का स्वरूप वह नहीं रहा जो सार्वभौम केन्द्रीय सत्ता या कहीं कहीं गणतन्त्रीय था। वास्तव में इस काल में राजनीतिक चेतना सामन्तिक राज्यों के माध्यम से विकसित हुई। विदेशी आक्रमणों से पाटलिपुत्र (मगध) का केन्द्रीय शासन छिन्न भिन्न हो गया। वहाँ के केन्द्रीयकरण में स्थानीय स्वशासन को उचित मान्यता दी गई थी। किन्तु जब तक केन्द्रीय सत्ता सबल हाथों में रही सम्पूर्ण साम्राज्य सुदृढ़ रहा और विदेशियों के आक्रमण असफल सिद्ध होते रहे। सार्वभौम स्वरूप के नष्ट होते ही स्थानीय प्रशासक अमीर उमराव, राजा राव, जागीरदार आदि (जिन जिन के पास जैसी भी शक्ति थी) अपने अधिकार क्षेत्र में छोटे छोटे शासक बन गये। सामन्तिक राज्य शृंखलाबद्ध संगठित थे। सबसे ऊँची कड़ी राजा तथा सबसे नीची कड़ी दास होते थे। विजेता सरदार अधिकृत प्रदेश को अपने साथियों या सगे सबन्धियों में बाँट देता था और वह स्वयं राजा तथा शेष उसके सामन्त हो जाते थे। ये सामन्त अपनी जागीर के पूर्ण स्वामी होते थे पर राजा का आधिपत्य उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। ये सामन्त समय समय पर राजा की सैनिकों द्वारा अथवा धन से सहायता करते रहते थे। सामन्ती राज्य व्यवस्था में उत्तराधिकार पूर्ववत् था। अवसर पाते ही ये सामन्त भी राजा बन जाते थे।[18]

मध्य युग में तुर्कों के लगातार आक्रमणों से भारत की राजनीतिक दशा चिन्ताजनक हो गई थी। सर्वप्रथम मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। हिन्दुओं की पारस्परिक फूट के कारण विदेशी आक्रमणकारियों को बढ़ावा मिला। सिंध और मुल्तान के लोगों ने गजनी तथा मध्य एशिया से आने वाले मुसलमानों का साथ दिया। पंजाब के राजा जयपाल सजग होते हुए भी तुर्कों का सामना करने में असमर्थ रहे। कश्मीर में आन्तरिक अशान्ति थी, अतः वह शीघ्र ही विदेशियों का शिकार हो गया। कन्नौज के प्रतिहारों की भी यही दशा हुई। बंगाल के पालवंश के राजाओं और कन्नौज के पारस्परिक वैमनस्य का लाभ भी विदेशियों को ही मिला। बुन्देलखण्ड के चन्देल मालवा के परमार दक्षिण के चोल चालुक्यों में भी पारस्परिक संघर्ष चलते रहे। तात्पर्य यह है कि देश के सभी छोटे छोटे राज्य आपसी लड़ाइयों से स्वयं को निर्बल बना रहे थे उनमें संयुक्त होकर विदेशी आक्रान्ताओं से लड़ने की उत्सुकता नहीं थी और पृथक पृथक् रूप में वे शक्तिशाली तुर्कों का मुकाबला करने में सर्वथा अक्षम थे।[19] डा० जे० के० शर्मा के शब्दों में— राजनीतिक दृष्टि से यह युग संगठित शक्ति का नहीं वरन् विशृंखलता का है। देश में कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जो देश में दूर दूर तक बिखरे हुए छोटे छोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधने

मे समर्थ होती 19वीं तथा 10वीं सदी में भारतवर्ष में बहुत से छोटे बड़े राज्य थे जिनमे उत्तर के कन्नोज, नेपाल, काश्मीर, चन्देल, राजपूत, चौहान तथा दक्षिण के चालुक्य, चोल आदि राज्यों की शक्ति तथा शौर्य का उपयोग पारस्परिक ईर्ष्या तथा द्वेष मे होता था।[20]

मध्य युग मे राजनीतिक चेतना अति क्षीण हो गई। सामन्तो के आश्रय मे रहकर लोग उनको प्रसन्न करने मे लगे रहते थे। वर्ण और जातीय संकुचित दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन मे विकृतियाँ उत्पन्न हो गई थी। वर्ण-व्यवस्था की घोर विकृति के कारण प्रत्येक वर्ण मे सैकडो भेदोपभेद बनते जा रहे थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों मे बहुत-सी उपजातियाँ बन गई थी जो ऊँच-नीच तथा पारस्परिक द्वेष के कारण युद्ध का रूप ले लेती थीं। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय सकट के समय क्षत्रिय और शूद्र एक साथ नही लड सकते थे। दक्षिण के धार्मिक आन्दोलन का भी उत्तर भारत पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब राष्ट्रीय जीवन म कुठा आ गई और राजनीतिक चेतना दब गई तो उसे धर्म, भक्ति आदि सास्कृतिक रूपों म मुखरित होने का अवसर मिला। योगियो, नाथो, सिद्धो का सामन्ती व्यवस्था के साथ गठबधन हो गया था। समाज म निरक्ति, नैराश्य, धार्मिक कट्टरता, महासुख कामना की प्रवृत्तियाँ घर कर गई थी। मुसलमानो के सतत आक्रमणों स राजपूत राजा कुछ सजग अवश्य हुए, किन्तु उनकी सजगता, वीरता पारस्परिक सघर्ष मे ही नष्ट होती गई। इस काल म वीरोत्तेजक भावनाएँ, स्वाभिभक्ति, भूमि-प्रेम, राजपूती गौरव व आन के लिए मर मिटने की भावनाएँ तो पर्याप्त मात्रा म उभरी किन्तु व्यापक राजनीतिक दृष्टिकोण को स्थान नही मिल पाया। आम जनता राजनीतिक जीवन से एकदम तटस्थ हो गई थी।[21]

देश मे धार्मिक कट्टरता और कर्मकाण्ड पद्धति के प्रसार स सामान्य लोग उदासीन हो गए। उनका जीवन सर्वथा आडम्बर रहित था। जनवादी चेतना सामन्तवादी राजनीति मे खोसी गई। झूठे आदर्शों, रूढियों और जड परम्पराओ के परिवृत्त मे घिरे हुए आम आदमियो न राजा-सामन्ता और उच्च वर्ग के तथाकथित आडम्बरयुक्त वर्ग के लोगों से उदासीनता की भावनाएँ उत्पन्न हो गई। लोक धर्म और लोक-नीति को त्यागकर लोग सकुचित जीवन व स्वार्थों की पूर्ति म सलग्न हो गये। 'ब्राह्मणवाद की कट्टरता का राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक सगठन छिन्न-भिन्न हो गया। यदि यह सगठन छिन्न भिन्न न होता तो हमारी राजनीतिक स्वतत्रता बनी रहती।"[22] डॉ० हरदयाल ने लिखा है—"ब्राह्मणो की अनुदारता तथा जात-पात के क्षुद्र बधनो ने स्वर्ग तुल्य इस भारतभूमि को परतत्रता के महान् गर्त म धकेल दिया।"[23] इस प्रकार मध्य युग मे सम्पूर्ण देश मे राजनीतिक पराजकता छायी हुई थी।

लगातार 300 वर्ष तक सघर्ष करते-करते हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थकने से लगे थे। एक तरफ हिन्दुओ की राजनीतिक शक्ति क्षीण हो रही थी और दूसरी तरफ मुसलमान भी अनुभव करने लगे थे कि हिन्दुओ स सतत् सघर्ष करने पर वे यहाँ टिक नहीं सकते। अत मुगलकाल मे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परस्पर नजदीक आये और धार्मिक सहिष्णुता को प्रश्रय मिला। अकबर ने धर्म के स्थान पर राजनीतिक

शासन को प्रमुखता दी और हिन्दुओं को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया। अफगान, तुर्क आदि मुसलमान शासकों को यहाँ की आम जनता का सहयोग तथा समर्थन नहीं मिल पाया क्योंकि उनका शासन सैनिक तथा सामन्तवादी था जो भारत की प्राचीन परम्परा के विरुद्ध था। 16वीं शताब्दी तक देश में ग्राम पचायतों की वजह से जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित रही। अफगान सुल्तानों ने ग्रामों के स्थानीय स्वशासन में हस्तक्षेप करने का कोई प्रयत्न नहीं किया ' युद्ध में विजयी होने वाले को कर देना प्रत्येक किसान अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता था। सर्वसाधारण जनता पर उनके आधिपत्य का कोई विशेष असर नहीं होता था। इस प्रकार ग्राम अपनी स्वायत्त शासन प्रणालियों सहित अछूते रहे। दिल्ली के गृहयुद्धों और राजनीतिक क्रान्तियों ने उसे प्रभावित नहीं किया और अब तक ग्रामीण प्रजातन्त्र अपने स्वशासन में स्वतंत्र रहे।[24] इस प्रकार आम जनता देश की राजनीति से तटस्थ हो गई। मध्य युग की राजनीतिक चेतना की इसी तटस्थता को तुलसीदास जी ने लक्षित किया है—' कोऊ नृप होऊ हम का हानी। दासी छाँडि न होऊ महारानी।।''[25] गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में आदर्श रामराज्य की कल्पना की थी। यद्यपि उनका रामराज्य एकतंत्र शासन प्रणाली पर आधारित था तथापि उसका आदर्श इतना उच्च था कि उसकी तुलना श्रेष्ठ लोकतंत्र से की जा सकती है। प० रामचन्द्र दुबे ने लिखा है कि—''जिस आदर्श प्रणाली का सूत्रपात मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी और उनके पूर्व पुरुष कर गये थे, वह उनके साथ विलीन नहीं हुई, वरन् दीर्घकाल तक भारत की भूमि को सुख शांति प्रदान करती रही।''[26]

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सांस्कृतिक नव जागरण और सन् 1857 की राष्ट्रीय क्रांति

मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के समय समस्त देश में राजनीतिक विश्रृंखलता व्याप्त थी। उसकी धर्मान्धता के कारण न केवल हिन्दू अपितु कुछ मुसलमानों के धार्मिक विश्वासों को भी ठेस लगी। औरंगजेब के उत्तराधिकारी इतने योग्य प्रमाणित नहीं हो सके कि वे केन्द्रीय शासन को संगठित कर सकते। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने देश की राजनीतिक अवस्था को और भी आघात पहुँचाया। इन्हीं परिस्थितियों के फलस्वरूप विदेशियों ने दूरदर्शिता से काम लिया और असंगठन तथा अराजकता से लाभ उठाकर देश को धीरे धीरे अपने अधिकार में कर लिया।[27] अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के आधार पर समस्त देश को धीरे धीरे अपने अधिकार में कर लिया। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि—''भारत विजय में अंग्रेजों को सौ साल लग गये। यहाँ के रुपयों और यहीं के आदमियों को लेकर अंग्रेजों ने भारत में छोटी-बड़ी 111 लड़ाइयाँ लड़ी तब कहीं जाकर भारत उनके अधीन हुआ।''[28] अंग्रेजों की झूठ, फरेब, धोखाधड़ी और कुचक्री नीति के सामने बंगाल के नवाब, मैसूर के हैदरअली और टीपू सुल्तान, मराठे, सिक्ख आदि सभी पराजित हुए। क्लाइव, डलहौजी आदि के राजनीतिक षड्यन्त्रों के कारण देश के अनेक राजा तथा नवाब

अधिकार च्युत कर दिये गये थे। इससे अनेक विद्वान्, पंडित, मौलवी आदि भी असंतुष्ट थे। अंग्रेज शासकों की दोहरी नीति से भारतीय जनता का शोषण बढ़ रहा था।"[29]

भारतीय नरेशों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं हुआ अपितु उनको अपमानित भी होना पड़ा। ऐसे ही राष्ट्रीय असंतोष का विस्फोट सन् 1857 की क्रान्ति के रूप में हुआ। पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि—"सन् 1857 का विद्रोह अंग्रेजी सत्ता को मिटा देने का महान उद्योग था जिसका प्रभाव कालान्तर में स्पष्ट हुआ।"[30] सन् 1857 ई० में अंग्रेजी शासन और सत्ता के विरुद्ध जो क्रान्ति हुई वह मात्र सैनिक विद्रोह या सामन्तवादियों का विद्रोह नहीं था। इस क्रान्ति में सैनिक, राजा, नवाब और देश की अधिकांश हिन्दू-मुसलमान जनता ने दिल खोलकर बड़े उत्साह के साथ सहयोग दिया और अंग्रेजों को देश से निकालने के लिए भरसक प्रयत्न किया। देश को स्वतन्त्र कराने के निःस्वार्थ उद्देश्य से प्रेरित होकर ही यह प्रथम राजनीतिक संगठन क्रान्ति के रूप में मुखरित हुआ था। श्री वेणीप्रसाद वाजपेयी के शब्दों में—'यह महान् क्रान्ति सार्वजनिक थी, जिसमें राजाओं से लेकर रंक तक सब साथ थे और सभी केवल *इस भावना से उठ खड़े हुए थे कि अपने देश से विदेशी शासन उखाड़ फेंकना है और पवित्र भारत भूमि को घोर अत्याचारी और धूर्त अंग्रेजों से रहित कर देना है—* इसमें हिन्दू और मुसलमान राजे और महाराजे और ताल्लुकेदार सभी साथ थे।"[31] यद्यपि सन् 1857 की क्रान्ति सफल नहीं हुई तथापि देश के राजनीतिक जीवन में इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय कुछ अपनी दुर्बलताओं के कारण और कुछ अंग्रेजों की विशेषताओं के कारण देश को स्वतन्त्र नहीं कर सके किन्तु सावरकर ने ठीक ही लिखा है कि सन् 1857 का वर्ष एक दीर्घकालीन रात्रि की निद्रा के बाद का प्रातःकाल था। जिन्होंने भावी भव्य दिवस की कल्पना को साकार होते हुए देखना चाहा था। वे जागृत हुए और अपना विस्तरों को त्याग दिया।[32] मन्मथनाथ गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि—"गदर असमानुषिक अत्याचारों द्वारा दबा जरूर दिया गया किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतवासी दब गये। सच बात तो यह है कि इन अत्याचारों से भारतवासी 'भारतवासी' हो गये।"[33] इस प्रकार यह कहना सर्वथा उचित है कि सन् 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए किये जाने वाले संघर्षों का प्रथम प्रयास था।[34]

सांस्कृतिक नवजागरण

अंग्रेजों का शासन सन् 1857 तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल चुका था और भारतीय राजनैतिक चेतना जो अब तक क्षीण और सुप्तप्राय रही, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप में प्रकट होने लगी। यातायात के साधनों का राष्ट्रीय स्तर पर विकास हुआ। अंग्रेजों की कपट नीति शोषण और उत्पीड़न का प्रभाव अधिकांश भारतवासी महसूस करने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने भारतीय शिक्षित वर्ग को पाश्चात्य विचारों के निकट पहुँचाया। देश के प्रबुद्ध वर्ग ने वस्तु स्थिति को समझा और पराधीनता के अपमान को महसूस करने लगे। अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार से

बार कहा था—'ऐ भारत इस बात को मत भूल कि निम्न वर्ग के लोग जो अज्ञ हैं, गरीब हैं, अशिक्षित हैं—मोची, हरिजन सब तेरे ही रक्त, मास से निर्मित हैं, तेरे ही भाई हैं। बहादुर बनो और एक भारतीय होने का गौरव अनुभव करो और सम्मान के साथ उद्घोषित करो कि सभी भारतीय भाई-भाई हैं, कि भारतभूमि मेरे लिए स्वर्ग है और भारत का कल्याण ही मेरा कल्याण है।[39] महाराष्ट्र मे प्रार्थना समाज के माध्यम से महादेव गोविन्द रानाडे ने सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। श्री रानाडे मे देशप्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। उन्होने सास्कृतिक आधार पर जो कार्य किये उनसे राष्ट्रीय भावनाओ के विकास मे बहुत सहायता मिली।

हिन्दी भाषा एव साहित्य के माध्यम से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी भारतीय जनजीवन मे नवीन राजनीतिक चेतना का विकास करने का प्रयास किया। इस प्रकार देश मे अनेक व्यक्तियो, शक्तियो और सस्थाओ के द्वारा नवीन राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था। गुरुमुख निहालसिंह ने—"भारत का सवैधानिक एव राष्ट्रीय विकास" नामक पुस्तक मे राष्ट्रीय आदोलन को जन्म देने वाली निम्नलिखित बातो का उल्लेख किया है—

1 पश्चिम के राजनीतिक आदर्शों की प्रेरणा।
2. धार्मिक पुनरुत्थान और भारत के प्राचीन वैभव के प्रति श्रद्धा का भाव।
3 आर्थिक असतोष और ब्रिटिश आश्वासनो के पूर्ण न किये जाने के कारण निराशाजनक भाव।
4 भारतीय समाचार पत्रो और देशी साहित्य का प्रभाव।
5. सचार साधनो का विकास और साम्राज्य के दरबारों का आयोजन।
6 अग्रेज शासकों के उद्धत एव अहकारपूर्ण व्यवहार के कारण जातीय भावनाओं की कटुता मे वृद्धि, लार्ड लिटन के प्रमत्त एव अविवेकपूर्ण शासन और 'इलबर्ट बिल' के सम्बन्ध मे यूरोपियनो तथा आग्ल भारतीयो द्वारा उग्रता और सगठित तीक्ष्ण प्रचार का प्रदर्शन।[40] इस काल मे कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, लाहौर आदि प्रमुख स्थानो मे अनेक राजनीतिक सस्थाओ की स्थापना हुई और धीरे-धीरे जनमानस मे यह भावना दृढ होती गई कि देश को स्वतन्त्र कराने के लिए राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था का निर्माण होना चाहिये। फलत सन् 1885 मे इडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और मिस्टर ह्यूम के प्रयत्नों से बम्बई मे कांग्रेस का पहला अधिवेशन किया गया। कांग्रेस के प्रारम्भ करने में राजनीतिक उद्देश्य के साथ साथ राष्ट्रीय पुनरुत्थान की भावना भी निहित थी। 'कांग्रेस का इतिहास' मे पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है—"कांग्रेस मूल रूप म अपने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सात लाख गाँवों मे बिखरे हुए करोड़ों मूक, अर्धनग्न और भूखे-प्राणियों की प्रतिनिधि है। यह आवश्यक रूप से किसानो की सस्था है तथा चर्खासघ आदि कई रचनात्मक कार्यों के रूप मे हम गाँवो मे प्रवेश कर चुके हैं।[41]

कांग्रेस की स्थापना के प्रारम्भिक काल में देश राजनैतिक जीवन पर उदारवादी नेताओं का प्रभाव रहा। उदारवादी विचारक पश्चिमी संस्कृति, सभ्यता तथा शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक विरासत तथा संस्कृति के उच्च तत्वों को महत्त्व नहीं दिया। पश्चिम की भौतिक उन्नति ने उनकी दृष्टि को धूमिल कर दिया। नये निर्माण तथा जागरण के लिए भारत के अतीत को वे भुला बैठे किन्तु अत्यधिक पश्चिमीकरण को भारत आत्मसात नहीं कर सकता, इसे वे नहीं समझ सके। भारत की साधारण जनता में धार्मिक, सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा आत्म-सम्मान जाग्रत हो चुका था और वे एक विदेशी सरकार को अधिक समय तक स्वीकार नहीं कर सके थे। उदारवादी विचारक जनता की उभरती हुई सामयिक, राजनीतिक भावनाओं के साथ नहीं चल सके। फलतः देश की राजनैतिक बागडोर उग्रवादियों के हाथ में चली गई।

भारतीय राजनीतिक जीवन में उग्र राष्ट्रवादी चेतना का विकास

बीसवीं सदी का प्रारम्भ होते होते कांग्रेस में उग्र दल के नेताओं का प्रभाव बढ़ गया था। बाल गंगाधर तिलक इनमें सबसे आगे थे। तिलक के साथ साथ लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल भी उग्र दल के प्रतिभाशाली नेता थे।[42] उग्र दल वालों का विचार था कि कांग्रेस अनुनय विनय की वृत्ति को छोड़कर सख्ती से काम ले जिससे अंग्रेजी सरकार को झुकना पड़े। सन 1908 में कांग्रेस के लिए एक विधान बना जिसमें उसका उद्देश्य इस प्रकार बताया गया— 'भारत की जनता भी ऐसी शासन प्रणाली प्राप्त करे जैसा ब्रिटिश साम्राज्य में स्वराज्य प्राप्त उपनिवेशों में है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्तमान शासन प्रणाली में लगातार सुधार करके तथा देश में बौद्धिक, नैतिक आर्थिक तथा औद्योगिक साधनों का सगठन करके वैध उपायों से प्रयत्न किया जाएगा।'[43] अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की कुछ घटनाओं ने भी राजनैतिक चेतना को आगे बढ़ाया। सन् 1896 में इटली को एबीसीनिया के निवासियों ने परास्त किया।[44] सन् 1905 में जापान ने रूस को हराया। इटली और रूस की पराजय से यूरोपीय श्रेष्ठता और अजेयता के प्रति लोगों का विश्वास उठ गया और भारत ही नहीं समस्त एशिया में आम लोगों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। अंग्रेजी शासन में देश में कुछ ऐसे कार्य किये गए जिनसे कि लोगों का असंतोष बढ़ता गया। सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट बना जिसमें विश्वविद्यालयों पर अधिक नियन्त्रण और उसकी सीनेट तथा शासन समिति का यूरोपीयकरण हुआ।[45] सन् 1905 में बंगाल विभाजन किया गया जिससे हिन्दू मुसलिम द्वेष को बढ़ावा मिला और बंगाल के एकीकरण के लिए देश भर में आन्दोलन किया गया। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जा रहा था उससे भी ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को पुष्टि हुई। उग्रवादी नेताओं ने स्वराज्य प्राप्ति हेतु निम्नलिखित तरीके अपनाए थे—

1 स्वदेशी आन्दोलन,
2 बहिष्कार आन्दोलन,

3 राष्ट्रीय शिक्षा।

सन् 1916 में तिलक ने भारतवासियों के लिए एक नया मन्त्र, एक नया संदेश दिया था, जिसकी गूंज सदा हमारा पथ आलोकित करती रही है—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है उसे हम लेकर रहेंगे।"

सन् 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व द्वारा अंग्रेज सरकार की सहायता की। गांधीजी को विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार इस सहायता के बदले भारत को स्वराज्य दे देगी। सन् 1916 में लखनऊ-कांग्रेस में हिन्दू-मुस्लिम राजनैतिक समझौता हुआ। सन् 1917 में रूस में जो क्रांति हुई उसका विश्व व्यापी प्रभाव पड़ा। भारत की जनता भी इस क्रान्ति से बहुत प्रभावित हुई। सन् 1900 से लेकर 1917 तक देश की राजनीतिक चेतना को उभारने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रमुख हाथ रहा है। असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन कांग्रेस के अन्तर्गत चले। क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों ने देश में एक नयी जान फूंक दी जिसमें आम जनता के दिलों में उनके प्रति श्रद्धा और आदर की भावना बढ़ गई। उनके बलिदानों ने सैकड़ों भारतीय युवकों के हृदयों में स्वतन्त्रता संग्राम को प्रखर करने के भाव उद्वेलित हुए। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है—'जिस समय वन्दे मातरम कहने पर लोग मारे जाते थे, जब आन्दोलन जब स्वप्न था उस जमाने में इन लोगों ने (क्रान्तिकारियों) जो हिम्मत की कोई अंधा, मूर्ख, कायर भले ही उसे छोटा बताए पर तु हमारी जाति के मन पर उसका जो असर पड़ा वह बहुत महत्वपूर्ण है।"[46]

आधुनिक उद्योग और व्यापार के विकास के साथ-साथ लोग अपने परम्परागत धन्धों को छोड़कर मिलों खानों, दफ्तरों आदि में काम करने लगे। इन परिस्थितियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय कहलाने वाले उच्च वर्ग के लोगों ने भी साधारण पेशों को अपनाया। इससे जाति प्रथा विरोधी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अछूतों का उद्धार एक राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया। सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली भी टूटने लगी। बुद्धिवाद के प्रभाव से समाज में नवीन सुधार होने लगे। प्राचीन ग्रंथों और आदर्शों को नयी कसौटी पर कस कर उन्हें युगानुकूल बनाया गया शिक्षित समुदाय की वृद्धि से रूढ़ियों और हानिकारक परम्पराओं और गतानुगतिकता का विरोध हुआ।[47] डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म के इसी परिवर्तित स्वरूप को प्रकट किया।

अंग्रेजों की भेद नीति के कारण सरकारी नौकरियों में अधिकांश पद हिन्दुओं को दिए गए थे। भारतीय उद्योगों के नष्ट होने से आम मुसलमानों—शिल्पी और बुनकर की रोजी रोटी छिन गई। इसके साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में भी मुसलमानों को नुकसान हुआ। अंग्रेजी पद्धति से चलने वाले स्कूलों में अरबी, फारसी को कोई स्थान नहीं था। सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात मुसलमान सत्ता प्राप्ति करने के प्रयत्नों से पहले ही निराश हो चुके थे। इन बातों से हिन्दू मध्यम वर्ग में सत्ता प्राप्त करने की भावनाएँ जागृत हुई। उग्रवादियों के आन्दोलनों को दबाने में अंग्रेजों ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भेद उत्पन्न कर दिया। इससे सन् 1906 में भारतीय मुस्लिम लीग

की स्थापना हुई। सन् 1909 के सुधारों से मुस्लिम साम्प्रदायिकता को और भी अधिक बढ़ावा दिया गया। इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालकर देश विभाजन की नींव डाली। यद्यपि राष्ट्रवादी मुसलमानों ने पृथक निर्वाचन का विरोध किया।[48]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज इस समय अपनी कमजोरियों के प्रति सजग हो गया था। जाति प्रथा का उन्मूलन, अस्पृश्यता निवारण, हरिजन आन्दोलन, नारियों पर होने वाले अत्याचारों का विरोध और नारी सुधार आन्दोलन चले। अंग्रेज शासकों की कुटिल नीति का पर्दा हटने लगा और साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। शिक्षा प्रसार और प्राचीन भारतीय गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया गया। कला और साहित्य में भी नवीन विकास होने लगा। 19वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही नवोत्थान और नवजागरण के भावों का उदय होने लगा था। बंगाल ने इस क्षेत्र में पहल की थी। बंगाल में बंकिम, गुजरात में नर्मदाशंकर, महाराष्ट्र में चिपलूणकर, हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उर्दू में हाली इसके प्रतिनिधि थे। संगीत कला में दिगम्बर पलुस्कर और चित्रकला में राजा रवि वर्मा ने बहुत प्रसिद्धि पाई। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तो आधुनिक भारतीय चित्रकला के पिता ही माने जाते हैं। संस्कृत साहित्य के गौरव का पाश्चात्य विद्वानों ने उद्घाटन किया जिससे उसकी उत्कृष्टता और महत्ता प्रकट हुई। हमें इससे अपनी अमूल्य निधि का बोध हुआ और अभिमान भी। प्रेस और समाचार प्रकाशन से शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना के प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली।

पश्चिमी सम्पर्क का भारतीय सामाजिक राजनीतिक जीवन पर प्रभाव

भारत में 18 वीं शती के प्रारम्भ में ही अंग्रेजी शासन स्थापित होने लगा था। सन् 1757 ई० में प्लासी के युद्ध के परिणामस्वरूप बंगाल में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गई और 19वीं सदी के मध्य तक अंग्रेजों का शासन सम्पूर्ण भारत में सुदृढ़ हो गया। हमारा पश्चिम से सम्पर्क अंग्रेजों और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हुआ। यों तो संसार के इतिहास में नवजागरण का प्रारम्भ 18वीं सदी में हुआ जबकि यूरोप में औद्योगिक उन्नति और राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं। सन् 1789 में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। इससे पूर्व अधिकांश देशों में स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजाओं का शासन था। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता और भ्रातृ भाव की प्रवृत्तियों का विकास हुआ। औद्योगिक और राजनीतिक क्रान्तियों के कारण यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हुआ, जिसे इतिहास में आधुनिक युग (Modern Age) कहा गया है।[49] अंग्रेज पादरियों ने जब यहाँ के आध्यात्मिक जीवन के खोखलेपन को उभारना चाहा और ईसाई धर्म का प्रचार किया तभी भारत में पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ। पश्चिम के इस आक्रामक रुख के कारण यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग में वैचारिक प्रतिक्रिया हुई। यद्यपि इस प्रतिक्रिया का स्वरूप आध्यात्मिक था, फिर भी बौद्धिक, कलात्मक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी इसके दूरगामी प्रभाव परिलक्षित हुए। धार्मिक और सामाजिक-

पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन प्रारम्भ हुआ।

पुनर्जागरण से भारत मे धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक सहिष्णुता तथा उदार भावनाओ का विकास हुआ। राजनीतिक गतिविधियों से देश के शिक्षित मध्यम वर्ग मे स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के भावो का विकास हुआ। राजनीतिक आन्दोलनों को इन विचारों से गति मिली और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष तेज हुआ। सन् 1942 के भारत छोडो आन्दोलन के पश्चात् भारतीय जनता की स्वतन्त्रता के लिए आशाएँ-आकांक्षाएँ इतनी तीव्र हो गईं कि मजबूर होकर सन् 1947 मे अंग्रेजो को यहाँ से जाना पड़ा। व्यक्ति-व्यक्ति और देश देश मे समानता के आधार पर ही सम्बन्ध स्थापित हो और सभी लोग बंधुत्व की भावना से जुडे हो इसी प्रकार के भाव भारतीय जनता मे उत्पन्न हुए।

नारी जागरण—भारतीय समाज में यो तो नारी को बहुत सम्मान दिया गया है। उन्हें सीता, सावित्री, मैत्रेयी कह कर भी व्यवहार मे नारी का स्थान अति निम्न, यहाँ तक कि क्रीतदासी का रहा है। पाश्चात्य सपर्क के साथ ही भारतीय समाज मे नारी जागरण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। राजा राममोहनराय ने सती प्रथा बंद करवायी। विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया और बाल विवाह बंद करवाए। बहु-विवाहो पर भी रोक लगी। नारी को पुरुष के बराबर अधिकार दिलाए जाने के लिए अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भारतीय नारियो के द्वारा सहयोग देने पर काँग्रेस ने करांची के अधिवेशन म यह घोषणा की कि भारतीय राष्ट्र मे नवविधान मे स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त होगे। लिंग भद की दृष्टि स स्त्री-पुरुषों के अधिकारो मे कोई भेद न होगा। पाश्चात्य देशो म नारियो को पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त हैं। वहाँ आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण नारियाँ स्वयं अपना विकास करती हैं। उन्हे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकार वैधानिक रूप म प्राप्त हैं। भारतीय संविधान मे मौलिक अधिकारो म वैधानिक रूप से स्त्रियों के स्वत्व और अधिकार स्वीकार किए गए हैं। डॉ० लोहिया न नारी के सक्रिय सहयोग के बिना समाजवादी आन्दोलन को पक्ष वधूहीन विवाह कहा है।[30] सन् 1937 ई० म भारत की विधान सभा म हिन्दू महिलाओ का सम्पत्ति पर अधिकार सम्बन्धी कानून (Hindu women's Right to property Act) पास किया गया। इसके द्वारा पहली बार हिन्दू विधवाओ को अपने पति की सम्पत्ति म हिस्सा माँगने तथा बँटवारा कराने का अधिकार दिया गया। जून 1956 ई० म हिन्दू उत्तराधिकार कानून (Hindu Succession Act) द्वारा हिन्दू स्त्री की सम्पत्ति को उसकी स्वतन्त्र सम्पत्ति मान लिया गया तथा हिन्दू स्त्रियो के उत्तराधिकार के सम्बन्ध म सामान्य नियम उल्लिखित किए गए हैं।[31]

सन् 1874, 1929 एव 1939 ई० मे स्त्रियो के लिए उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकारों की प्राप्ति के कानून बनाए गए किन्तु स्वतन्त्र भारत मे सन् 1955 एव 1956 म ही ऐसे अधिनियम बने जिनके आधार पर पुत्र और पुत्री दोनों को उत्तराधिकार के समान अधिकार प्राप्त हुए। इन दो वर्षों मे स्त्रियो की मुक्ति के लिए तीन कानून

अस्तित्व में आए—एक हिन्दू विवाह और तलाक का कानून, दूसरा गोद लेने का नियम तथा तीसरा हिन्दू उत्तराधिकार नियम। इनके पारित होने से हिन्दू समाज में नारी को कानून के अनुसार पुरुष के बराबर का दर्जा प्राप्त हो गया है।[52]

शोषण का विरोध—भारतीय समाज का प्रारम्भिक ढाँचा सामन्तवादी रहा है। पाश्चात्य सम्पर्क होने से यहाँ के मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग में वैचारिक परिवर्तन आया। जातीय भेदोपभेदों के कारण हिन्दू जाति खंडित हो रही थी। उच्चकुलीन निम्न वर्ग का शोषण करते थे। अंग्रेजी शासक वर्ग ने भी विजेता होने के कारण भारतीय समाज का आर्थिक शोषण किया। ईसाई पादरियों ने यहाँ के निम्न वर्ग के लोगों का धार्मिक शोषण किया। भारतीय पुनर्जागरण के समय यहाँ के शिक्षित वर्ग ने धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। सन् 1917 की रूसी क्रान्ति का भारत के लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि स्वतन्त्रता, समानता के साथ समाजवाद की व्यवस्था लाने के लिए आन्दोलन तेज हुआ। अंग्रेजों और भारतीय पूँजीपतियों द्वारा इस देश में जो पूँजीवादी उत्पादन का ढाँचा खड़ा किया गया था उसके विरुद्ध मजदूर, किसानों के संगठित आन्दोलन प्रारम्भ हुए।[53] मजदूर-किसान अपने अधिकारों की रक्षा के लिए हड़तालें करके राजनीतिक और आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। परिणामस्वरूप सन् 1926 में सर्वप्रथम बंगाल में मजदूर किसान पार्टी की स्थापना हुई जिसे शासकीय मान्यता भी प्राप्त हुई।[54] किसान-मजदूरों के शोषण के विरुद्ध अनेक संगठित आन्दोलन चले। साहित्य में भी 'प्रगतिवाद' के नाम से जो आन्दोलन चला उसका उद्देश्य भी शोषण के विरुद्ध जन-चेतना का निर्माण हुआ।

मताधिकार—सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन के पश्चात् भारत के प्रान्तों के शासन सीधे अंग्रेजी पार्लियामेंट के अधीन चला गया। देशी रियासतों में यद्यपि सत्ता राजाओं के हाथ में थी तथापि सभी रियासतें ब्रिटिश सम्राट या साम्राज्ञी के आदेशानुसार चला करती थीं। राष्ट्रीय कांग्रेस की अगुआई में आजादी के आन्दोलन की गति जब तेज हुई और पूर्ण आजादी का नारा बुलन्द किया गया तब सन् 1935 के विधान के अनुसार मताधिकार की माँग को स्वीकृति प्राप्त हुई। प्रान्तों की व्यवस्थापिका समितियों के समस्त सदस्य निर्वाचित होते थे। निर्वाचन विधि प्रत्यक्ष रखी गई थी। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की भी व्यवस्था की गई थी। मुसलमान, सिक्ख, ऐंग्लो-इण्डियन और भारतीय ईसाइयों को साम्प्रदायिक सीटों के लिए खड़े हुए उम्मीदवारों के लिए पृथक मतदान करने का अधिकार था। निर्वाचन हेतु स्त्रियों को भी विभिन्न साम्प्रदायिक विभागों में विभाजित कर दिया गया था। दलित वर्ग के प्रतिनिधियों के लिए भी साम्प्रदायिक निर्वाचन को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया था; किन्तु पूना समझौते द्वारा इसमें संशोधन कर दिया गया था।[55]

मताधिकार के लिए विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न योग्यताएँ मान्य थीं। साधारणतः वे व्यक्ति जो आय कर अथवा मकान का किराया या मालगुजारी देते थे अथवा निर्धारित शैक्षिक योग्यताएँ प्राप्त किये हुए थे या जो म्युनिसिपल या मोटर कर देते थे,

प्रभाव में लिया और तब से यह अनवरत रूप से किसान और मजदूर आदि निम्न वर्गों में फैलती जा रही है। ज्यो-ज्यों यह राष्ट्रीय चेतना व्यापक होती गई है, उसकी बढ़ती हुई शक्ति के सामने अंग्रेजी सरकार को समझौता करने पर विवश होना पड़ा है।[4] हमारे देश में साम्प्रदायिक समस्या का रूप बड़ा विषम रहा है। राष्ट्रीय चेतना जब-जब निम्न वर्ग के मर्मो को स्पर्श कर सकी है तब-तब साम्प्रदायिकता मिटती सी दिखलाई पड़ी है; परन्तु महत्वाकांक्षी उच्च या मध्यमवर्ग के नेताओं ने इसे उछाल कर अन्त में देश विभाजन करवा ही दिया। इस विभाजन के पश्चात् स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीतिक चेतना के नये दौर का समारम्भ हुआ।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीतिक चेतना का स्वरूप

समस्याएँ—15 अगस्त सन् 1947 को भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। अब तक भारत में राजनीतिक चेतना का केवल एक ही आयाम था कि येन-केन प्रकारेण भारत को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त किया जाय। यह कार्य राष्ट्रीय कांग्रेस की अगुआई में पूरा हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस में स्वतन्त्रता पूर्व तक विविध विचारधाराओं के लोग सम्मिलित थे। यद्यपि विचार वैभिन्य के कारण कांग्रेस में ही कई गुट निर्मित हो गये थे तथापि स्वतन्त्रता संग्राम सब ने मिल कर लड़ा। अंग्रेज देशी और विदेशी दबाव के कारण भारत छोड़ने को मजबूर तो हुए किन्तु वे नव स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र के सामने अनेक समस्याएँ छोड़ गये। प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार थी—साम्प्रदायिक दंगों और उपद्रवों का शमन, विस्थापितों को स्थापित करना तेलंगाना के किसानों का बलवा, निजाम हैदराबाद के खिलाफ पुलिस कार्यवाही, अंग्रेजी जमाने की नौकरशाही और सेनाओं का विश्वास और वफादारी प्राप्त करना, असंतुष्ट प्रादेशिक और राजनीतिक समूहों को संतुष्ट करना तथा देशी रियासतों का एकीकरण करना।[5] इसके साथ ही कुछ अन्य समस्याएँ भी थी; जैसे—गरीबी, अशिक्षा, बेकारी, बेरोजगारी, जनसंख्या वृद्धि आदि।

एक तरफ देश के नेतागण इन समस्याओं के सुलझाने में लग गये और दूसरी तरफ देश के भावी राजनीतिक स्वरूप को निर्धारित करने के लिए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माण के लिए विधान निर्मात्री परिषद् का गठन हुआ। 26 नवम्बर सन् 1949 को उचित संशोधनों के साथ भारत का नया संविधान पारित हुआ। अपने स्वातन्त्र्य दिवस—26 जनवरी, जिसको कि देश प्रतिवर्ष 1930 से 1947 तक मनाता चला आ रहा था, की स्मृति में हमारे इस संविधान का श्रीगणेश 26 जनवरी, 1950 को किया गया।[6] संविधान की पूर्वपीठिका घोषित करती है कि "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोक-तान्त्रिक गणराज्य बनाने तथा इसके नागरिकों को; सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय; विचार, प्रकाशन, विश्वास, धर्म तथा पूजा की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा व अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सब में भ्रातृ भाव को जो व्यक्ति की मर्यादा तथा राष्ट्र की एकता का विश्वास दिलाता है, बढ़ाने का निश्चय करके अपनी संविधान परिषद् में

26 नवम्बर 1949 के दिन इस संविधान को स्वीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हैं।"[67]

इस प्रकार नव स्वतन्त्र भारत का एक ऐसा संविधान प्राप्त हुआ जिसके अन्तर्गत भारत की आम जनता को बालिग मताधिकार के आधार पर राजनयन के कार्य मे भागीदार होने का अवसर प्राप्त हुआ। श्री गोविन्द राम वर्मा के शब्दो में—"सन् 1947 के बाद राजनीति विशिष्ट वर्ग तक सीमित न रहकर सामान्य जनता तक पहुँच गई। इसमे सबसे महत्वपूर्ण योगदान गाँधी का रहा। इस काल मे आधुनिकता तथा परम्परा दोनो विद्यमान है परन्तु आधुनिकता को मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। परम्पराओ के आधुनिकीकरण का प्रयास किया जा रहा है लेकिन परम्परा की भूमिका से इन्कार नही किया जा सकता। जाति और धर्म के प्रभाव के रूप में परम्परा राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है।"[68]

रजनी कोठारी ने ठीक ही लिखा है कि—भारत जैसे नव स्वतन्त्र राष्ट्र के राजनीतिक विकास का अर्थ यह होता है कि एक प्राचीन देश अपनी पुरानी परम्परा और विविधता को बनाये रखते हुए आधुनिक युग की सबसे अच्छी बातो को ग्रहण करने की कोशिश करता है। इस प्रकार भारत ने आधुनिक युग मे लोकतन्त्र के आदर्श को ग्रहण किया है और इसके लिए स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक संस्थाएँ स्थापित की हैं।[69]

राजनीतिक चेतना का स्वरूप विश्लेषण

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राजनीति का स्वरूप अन्य विकासोन्मुख देशो की भाँति परम्परा तथा आधुनिकता के बीच संघर्ष और समन्वय का रहा है। भारत में राज्य-राजनीति म भी परम्परा और आधुनिकता का समन्वय पाया जाता है। संघीय व्यवस्था मे राष्ट्रीय राजनीति और इकाई राज्यो की राजनीति के स्वरूप में सामान्य रूप से अन्तर देखने को मिलता है। हमारे देश में संघीय व्यवस्था होने से राजनीति के अलग-अलग तीन स्तर हो गय है—राष्ट्रीय राजनीति, इकाई राज्यो की राजनीति और स्थानीय राजनीति। इकाई राज्यो की राजनीति का स्तर संघ और स्थानीय राजनीति के मध्य का होने से दोनो को प्रभावित करता है।[70] भारतीय राजनीति के स्वतंत्रता के पश्चात् एक ही दल कांग्रेस का सत्ता मे प्रभुत्व रहा है। वैसे अनेक छोटे-छोटे दलो का उदय स्थानीय एव प्रादेशिक आधार पर हुआ। अनेक दलो को राष्ट्रीय दल की भी मान्यता प्राप्त हुई किन्तु ये दल नाम मात्र को ही राष्ट्रीय दल रहे है।

कांग्रेस की विचारधारा के मुख्य तत्व—उपनिवेशवाद का विरोध और सभी पराधीन देशो की स्वतन्त्रता का समर्थन, लोकतन्त्र, समानता और सामाजिक न्याय (विशेषकर दलित वर्गों और गाँवो की गरीब जनता के साथ)' साम्प्रदायिक मेलजोल (खासकर हिन्दू मुसलिम एकता), अल्पसंख्यको के धर्म और रीति-रिवाजो के प्रति सहिष्णुता, भाषावार प्रान्तो की स्थापना, आयोजित आर्थिक विकास, आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निपटाने में हिंसा का त्याग।[71] कांग्रेस के इन उद्देश्यो को व्याव-

हारिक रूप देने में राष्ट्रीय आन्दोलन और दीर्घकालीन समन्वयकारी, सांस्कृतिक परम्पराओं का विशेष योगदान रहा है। इससे भारत की एकता दृढ़ होती गयी और नवीन व्यवस्था में दृढ़ता आती गयी तथा परिवर्तन और ग्रहणशीलता दोनों की प्रवृत्ति एक साथ चलती रही।

पंडित जवाहरलाल नेहरू एवं अन्य मजे कांग्रेसी नेताओं ने समझदारी और सूझबूझ से स्वतन्त्रता के पश्चात् समस्याओं को हल करने में सफलता प्राप्त की। विरोधी और भिन्न मतों के साथ समाधान किया गया। इनसे समस्याएँ आसानी से सुलझ सकीं। भारत सरकार ने शीघ्र ही योजना कमीशन की स्थापना की। इससे पंचवर्षीय योजनाएँ बनाने तथा आर्थिक विकास को गति देने में सहायता मिली। केन्द्रीय सरकार ने अस्पृश्यता निवारण का कानून भी पास करवाया। राज्यों में जमींदारी उन्मूलन के कानून बनाये गये। श्रमिकों के हितों की रक्षा के कानून बनाये गये। सन् 19.6 में प्रथम पंचवर्षीय योजना पूरी हुई और दूसरी उससे भी बड़ी बनी। सन् 1955 में आवडी अधिवेशन में कांग्रेस ने समाजवादी ढाँचे का ध्येय स्वीकार किया।[72]

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीति का सबसे सुप्रसिद्ध रूप उसका जन जीवन को आच्छादित कर लेता है अर्थात् नवीन संविधान व अन्तर्गत लोकतन्त्र और समाजवाद के आधार पर देश की राजनीति का निर्माण हो रहा है। एक ऐसे देश में जो अनेक जातियों और सम्प्रदायों में बँटा हुआ है और जिसमें ऊँच-नीच व भेदभावों से भरी हुई सामाजिक सम्बन्धों की शृंखला पायी जाती है, यह और भी आवश्यक हो जाता है कि जनता को पग-पग पर लोकतन्त्र के सिद्धान्तों की याद दिलायी जाय। लोकतन्त्र अभ्यास और परम्परा की वस्तु होती है। जब तक वर्तमान सामाजिक ढाँचे को सहारा देने वाले मिथ्या विश्वासों और आस्थाओं का अन्त न करेंगे तब तक हम अपने देश में लोकतन्त्र की स्थापना की आशा न करनी चाहिए।[73]

नवीन संविधान को व्यावहारिक रूप देने के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू ने भरसक प्रयत्न किया। पं० नेहरू राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में ही लोकतन्त्र और समाजवाद के कट्टर पोषक थे। उन्होंने प्रजातन्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा था— प्रजातन्त्र वह साधन है जिससे विशिष्ट साध्य को प्राप्त किया जा सकता है। हमारा साध्य क्या है? शायद मेरे विचार से कोई सहमत न हो किन्तु मैं कहना चाहता हूँ कि हमारा साध्य भारत के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तम जीवन उपलब्ध कराना है। इसका स्वरूप कैसा होगा, इस सम्बन्ध में कई मत हो सकते हैं लेकिन उत्तम जीवन का तात्पर्य उस जीवन से है जिसमें अनिवार्य आर्थिक आवश्यकताओं की तुष्टि हो सके, जो उसे लगातार उत्पीड़न से मुक्त करे और उसे रचनात्मक क्षमताओं के विकास का अवसर दे सके।[74]

नेहरू जी ने आर्थिक लोकतन्त्र की प्राप्ति के लिए राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना को प्राथमिकता दी है किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि बिना आर्थिक लोकतन्त्र के राजनीतिक लोकतन्त्र का कोई महत्व नहीं है। उन्हीं के शब्दों में पीड़ित, दबे हुए और भूखे व्यक्ति के लिए मात्र मत देना ही काफी नहीं होता। ऐसा व्यक्ति मत

देने की बनिस्पत भोजन प्राप्ति में अधिक रुचि लेगा। इसलिए राजनीतिक लोकतन्त्र स्वय मे प्रर्याप्त नही है। हाँ यदि राजनीतिक लोकतन्त्र का उपयोग आर्थिक लोकतन्त्र की प्राप्ति के लिए किया जाय तो उचित होगा। जीवन की उत्तम वस्तुएँ अधिसख्यक लोगो को प्राप्त होनी चाहिए और व्याप्त विषमताएँ दूर होनी चाहिए। यह प्रक्रिया उन देशो मे प्रारम्भ हो गयी है जहाँ कि राजनीतिक लोकतन्त्र स्थापित हो गये हैं।"[75] भारत मे भी राजनीतिक लोकतन्त्र का उपयोग आर्थिक विषमताओ को दूर करना है।

सवैधानिक स्थिति—भारत मे नवीन सविधान के अन्तर्गत लोकतांत्रिक समाजवाद को स्थापित करने का उद्देश्य निर्धारित किया गया है। वैसे अभी भारतीय समाज मे राजनीति का आयाम सीमित है। अनेक प्रकार से राष्ट्रीय लक्ष्यो और साधनों की प्राथमिकता का निर्धारण राजनीतिक निर्णयो मे होना है। देश के नेताओं के सामने एक सघीय केन्द्र की स्थापना करना, उसके प्रतीको का प्रसार करना, दूसरे इकाई राज्यो को साधन-सुविधाएँ देकर सघ के साथ तालमेल बैठाना, जनता मे नयी सरकार के प्रति निष्ठा और अपनपन की भावना पनपाना आदि मुख्य कार्य हैं ताकि भारतीय जनता देश के राजनयन के कार्य मे सक्रियता के साथ भागीदार हो सके।

कांग्रेस प्रशासन सन् 1947 से 1977 तक—स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान-मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू ने 15 अगस्त 1947 से स्वतन्त्र राष्ट्र के शासन की बाग-डोर सँभाली। प० नेहरू का व्यक्तित्व और कृतित्व इतना प्रभावशाली और महिमा-मय था कि देश को उनके नेतृत्व में पूरा विश्वास था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही कांग्रेस पूर्णतया एक राजनीतिक सस्था बन गयी थी जिसके कारण अन्य विचारधाराओं के व्यक्तियों के लिए इस सस्था मे कोई स्थान नही रह गया था। अत. मत वैभिन्य के कारण अनेक व्यक्तियो ने कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।[76] प्रथम चुनाव के पूर्व तक कांग्रेसी सरकार शरणार्थियो की समस्या सुलझाने और भारतीय रियासतों के एकी-करण मे लगी रही। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की 562 देशी रियासतों को देश की मुख्य धाराओ के साथ जोडने तथा एकीकरण का काय बडी कुशलता से तत्कालीन गृहमन्त्री स० वल्लभभाई पटेल ने किया। कांग्रेस दल को देश की जनता का विश्वास प्राप्त था क्योंकि यह स्वतन्त्रता से पूर्व तक एकमात्र पार्टी थी जिसकी अगुवाई मे स्व-तन्त्रता आन्दोलन चलाया गया था। इस पार्टी को देश के महान नेताओं—तिलक, गोखले, प० मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि का पूर्ण सहयोग एवं विश्वास प्राप्त था। चूँकि पश्चिमी देशो की तरह भारत मे आजादी से पूर्व दलीय व्यवस्था और ससदीय शासन प्रणाली नहीं थी, विरोधी पार्टियों के बनने और लोकतांत्रिक प्रणाली की शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं था। कांग्रेस पार्टी का विकास उस एकछत्र दल के रूप मे हुआ जिसमे सम्मिलित होकर सभी प्रकार के मत और विचारो के लोगों ने आजादी की लडाई लडी।[77]

सन् 1952 में स्वतन्त्र भारत मे नवीन सविधान के अन्तर्गत वायस्क मताधिकार के आधार पर देश मे प्रथम आम चुनाव हुए और केन्द्र एव राज्यों मे कांग्रेस पार्टी सत्ता मे आयी। प्रथम चुनाव से पूर्व देश मे राजनीतिक दलो की कोई व्यवस्था नहीं थी;

वैसे अन्य राजनीतिक दल भी थे यथा भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, हिन्दू महा सभा, मुस्लिम लीग आदि, किन्तु इन सब मे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का वर्चस्व था। 30 जनवरी सन् 1948 को महात्मा गाँधी धर्मान्धता के शिकार हुए। उनकी शहादत ने एक बार तो सम्पूर्ण देश को झकझोर दिया। गाँधीजी की मृत्यु के पश्चात् भारत के प्रबुद्ध लोगों मे काँग्रेस पार्टी के प्रति पहले जैसी श्रद्धा नहीं रही। सत्ता म रहते हुए काँग्रेस पार्टी ने लगभग प्रथम दश वर्ष तक कई ऐसे कार्य किये, जिनसे देश मे लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हो सकी। काँग्रेस के रचनात्मक कार्य निम्नलिखित थे—

1 हिन्दू-मुसलिम एकता,
2. अस्पृश्यता का अन्त,
3 मद्यपान निषेध,
4 स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार,
5 ग्राम उद्योग,
6 प्राथमिक शिक्षा की उचित व्यवस्था।[18]

काँग्रेसी शासन तन्त्र मे मिश्रित अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देश म पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली पनपती गयी। अंग्रेजी शासन न लम्बे समय तक देश के औद्योगिक विकास को नही पनपने दिया। किन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस देश म पूँजीवादी जड़ें मजबूत होती गयी। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति से उत्पादन के विकास म अत्यधिक वृद्धि तो होती है किन्तु उससे आम जनता सुखी नही होती। देश की पूँजी कुछ ही लोगों क हाथो म केन्द्रित हो गयी है। अमीर और गरीब की खाई निरन्तर गहरी होती जा रही है। पूँजीवाद क प्रभाव के साथ ही राजनीतिक सत्ता भी पूँजीपतियो स प्रभावित होने लगी है और देश की अधिसंख्यक जनता पूँजीपतियो के शोषण का शिकार बन गयी है।[19] प० जवाहरलाल नेहरू ने देश के आर्थिक विकास के लिए पचवर्षीय योजनाओ का प्रारम्भ किया था। इन पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा देश मे आश्चर्यजनक औद्योगिक विकास हुआ। विशालकाय कल-कारखाने निर्मित हुए। नदी-घाटी योजनाएँ बनी, बाँध और बिजलीघर बने। देश का वैज्ञानिक और तकनीकी विकास उस सीमा तक पहुँचा जहाँ से भारत अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अपना स्थान बना सका।

हमारे देश मे यह तो हम देख ही रहे हैं कि वास्तव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ किन लोगो को मिल रहा है। सविधान के अनुसार भारत का कोई भी नागरिक मत देने का अधिकारी है और स्वय विधान सभा, राज्य सभा, लोक सभा आदि के निर्वाचन के लिए निर्वाचित हो सकने का अधिकारी है। किन्तु धनाभाव के कारण कर्त्तव्यनिष्ठ, ईमानदार और उपयुक्त व्यक्ति राजनयन के कार्य मे आगे नही आ पा रहे हैं। राजनीति आज पूँजीपतियो और उनसे प्रभावित लोगों के हाथ का खिलौना बन कर रह गयी है। केवल धनी, प्रभावशाली, चालाक और सुविधाभोगी व्यक्ति ही सत्ता म आ पाते हैं। पूँजीवादी जनतन्त्र मे वही राजनीतिक दल पनपते हैं, वही अखबार चल निकलते हैं, वही राजनीतिज्ञ प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं जिन्हें पूँजीपतियो का

समर्थन प्राप्त होता है। गरीब आदमी तो मात्र धनिक वर्ग के इशारो का वाहक होता है। प्रो० वर्मा के शब्दो मे—"पूँजीवादी जनतन्त्र मे चुनाव होते हैं, राजनीतिक दल बनते हैं और बिगड़ते हैं, धारा सभाएँ बड़ी धूमधाम से और जोशीली वक्तृताओ के बीच लम्बे-चौड़े कानून बनाती हैं, मन्त्री-मण्डल घोषणाएँ करते हैं, पर यह सब कठ-पुतलियो के उस तमाशे के समान होता है जिसके सूत्र कुछ अदृश्य व्यक्तियो के हाथो मे होते हैं जिनके इशारे पर नाटक के दृश्यो मे परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार के शासन तन्त्र को कोई भी नाम दिया जा सकता है पर उसे जनतन्त्र कहना जनतन्त्र की भावना का उपहास करना है।"[80] इस प्रकार से कांग्रेस पार्टी के सत्ता मे रहते हुए पूँजी-वादी जनतन्त्र की सभी बुराइयाँ हमारे देश मे घर कर गयी हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ही विश्व दो शक्ति केन्द्रो मे बँट गया था। एक गुट का नियन्त्रण अमेरिका के शासको के हाथ मे था और दूसरे का नतृत्व रूस कर रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी मे ब्रिटेन अमेरिका के शिविर मे रहा है। इससे हमारी विदेश नीति मे रूस और अमेरिका दोनो की तरफ झुकाव रहा किन्तु उसमे स्थिरता नही रही। पड़ोसी देश पाकिस्तान से हमारे सम्बन्ध कभी भी अच्छे नहीं रहे हैं। एशियाई देशो मे चीन सबसे बड़ा देश है और पुराना भी। उसके साथ सदा ही हमारे अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। नेहरू के पचशील सिद्धान्तो के आधार पर चीन से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए थे। 20 अक्टूबर सन् 1962 को चीन ने भारत पर आक्रमण किया और भारतीय क्षेत्र का काफी भूभाग दबा लिया।

भारत जैसे विशाल जनसख्या वाले नव स्वतन्त्र विकसनशील देश म लोकतन्त्र की सफलता पर पाश्चात्य विद्वानो ने सन्देह प्रकट किया था। उनका मत था कि भारत शीघ्र ही विघटित हो जायगा क्योकि जनसाधारण को राजनीतिक अधिकार देने से उनका दुरुपयोग होता है। पहले आम चुनाव के दो वर्ष बाद मानचेस्टर गार्जियन ने लिखा था कि एशिया म ससदीय व्यवस्था सफल नही हो सकती। किन्तु भारतीय लोकतन्त्र बावजूद अनेक विपरीत परिस्थितियो के सफलतापूर्वक चल रहा है। सन् 1967 मे आम चुनाव से पूर्व टाइम्स के भारत स्थित सवाददाता ने कई लेखो मे यह कहा था कि चौथे आम चुनाव ही भारत मे आखिरी चुनाव होंगे। इस भविष्यवाणी का पश्चिम मे सहानुभूतिपूर्वक स्वागत किया गया था।[81] भारत मे न तो राजनीतिक गतिविधियो पर रोक है, न उस पर अल्पसख्यक उच्च वर्ग का कब्जा है। इसके विप-रीत आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी निर्णय राजनीतिक वाद-विवाद और लोकतत्रीय प्रक्रिया से किये जाते हैं। भारत मे विकास का काम प्रशासन के विक-सित और सुगठित ढाँचे के अन्तर्गत शुरू हुआ। जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम बने, औद्योगिकीकरण, सामुदायिक विकास, शिक्षा, खेती का विकास, यहाँ तक कि स्थानीय स्वशासन सब इसी नौकरशाही या प्रशासनतन्त्र के द्वारा सचालित थे। अब इसमे राज-नीतिक तत्त्वों और मूल्यो का प्रवेश हो रहा है।[82]

विदेशी आक्रमण—कांग्रेस के शासन म देश को एक बार चीन एव दो बार पाकिस्तान के आक्रमणो का सामना करना पड़ा है। इन आक्रमणो के कारण देश की

स्थिति निरन्तर बिगड़ती रही है। देश का विकास अवश्य हुआ है किन्तु उसकी समृद्धि का अधिकांश भाग युद्धों में झोंक दिया गया। नेहरू जैसे निष्ठावान ईमानदार और सच्चे देशभक्त के चुम्बकीय व्यक्तित्व की अगुआई का लाभ मई 1964 तक प्राप्त होता रहा। उन्होंने इस देश को बिखरने और टूटने से बचाया, लोकतन्त्र और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय राजनीति को ढालने का प्रयास किया और बावजूद अनेक कठिनाइयों के देश की नाव को खेते रहे। प० नेहरू का साथ देने वाले बहुत से निष्ठावान कांग्रेसी कार्यकर्त्ता थे जिनके कारण संघ एवं राज्यों में कम से कम पहले दो दशकों तक देश का राजनीतिक एवं आर्थिक विकास सफलतापूर्वक होता रहा। सन् 1957 में पंचायती राज योजना भी प्रारम्भ हुई।

स्वतन्त्रता के लगभग दो दशकों तक केन्द्र तथा राज्यों में लगातार एक ही दल का शासन रहा। कांग्रेस के चुनाव यन्त्र पर राज्य और जिलों के नेताओं का बहुत हद तक नियन्त्रण रहता रहा। पश्चिम बंगाल, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु आदि कुछ राज्यों में कांग्रेस विरोध प्रबल रहा। 27 मई सन् 1964 में प० नेहरू के देहावसान के पश्चात् श्री लालबहादुर शास्त्री सर्वसम्मति से कांग्रेस दल के नेता एवं प्रधानमन्त्री बने। सन् 19 5 में पाकिस्तानी आक्रमण का वीरतापूर्वक मुकाबला किया गया। श्री शास्त्री ने अपनी कर्मठता, कुशलता और कूटनीतिज्ञता के द्वारा देश का सफल नेतृत्व किया। किन्तु अल्पकाल में ही रूस की मध्यस्थता में पाकिस्तान से समझौता वार्ता करते समय 11 जनवरी 1966 को मास्को में श्री लालबहादुर शास्त्री का देहावसान हो गया। श्री शास्त्री के पश्चात् कांग्रेसी दल और सत्ता की बागडोर श्रीमती इन्दिरा गाँधी के हाथों में आयी।

श्रीमती गांधी का प्रभाव—चौथा आम चुनाव स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक इतिहास में विभाजक रेखा बन गया है। वैसे तो कांग्रेसी एकाधिकार की सत्ता में धीरे धीरे पिछले तीन चुनावों से ही कमी होती गयी थी लेकिन जब चतुर्थ आम चुनावों में आठ राज्यों में कांग्रेस की सरकार बनने की सम्भावना न रही तो सामान्य जनता को भी यह पता चला कि कांग्रेस का अब सत्ता पर एकाधिकार नहीं रहा है। इस परिवर्तन का प्रभाव केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि करीब-करीब सभी राज्यों में वही दल शासन करता था जो केन्द्र में शासन करता था।[13] श्रीमती गांधी के प्रधानमन्त्री बनने के बाद कांग्रेस का विभाजन हुआ, किन्तु श्रीमती गांधी को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। श्रीमती गांधी के सम्मुख अनेक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी थीं, यथा—उत्पादन और वितरण पर कोई नियंत्रण नहीं रहा, बेरोजगारी बढ़ती ही जा रही थी, महँगाई का अनुपात भी बढ़ रहा था, श्रम शक्ति का पूरा उपयोग नहीं हो पाता था, मुद्रा-स्फीति निरन्तर बढ़ती जा रही थी, घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनानी पड़ रही थी, विदेशी कर्जे चुकाने में ही सन् 1966 में 27 प्रतिशत (निर्यात की (रकम का) ब्याज चुकाना पड़ा था। सदियों से चली आ रही सेनिहर मजदूर-किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ था, नई सहायता विवश होकर लेनी पड़ती है, युद्धों का बोझा काफी बढ़ गया। सन् 1973 के बाद तेल की कीमतों में निरन्तर वृद्धि हो गई। इस प्रकार

बिगड़ती अर्थ-व्यवस्था के साथ राजनीतिक व्यवस्था भी बिगड़ती गई। सर्वत्र अस्थिरता व्याप्त हो गई।

सन् 1969 का वर्ष कांग्रेस के लिए अशुभ था। संसद में दो तिहाई सदस्य होने पर भी कांग्रेसी सदस्यों का आपस में मतभेद था। एक ओर प्रगति के सामान्य पथ पर चलने वाले और दूसरी ओर समाजवादी विचारधारा वाले। दोनों एक दूसरे को खींच रहे थे। कांग्रेसजन महात्मा गाँधी एवं लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत जा रहे थे। यही नहीं, इस मतभेद को कम करने का प्रयास नहीं किया गया। यह मतभेद कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही गया। श्रीमती गाँधी ने मोरारजी से वित्त विभाग छीन लिया। इस प्रकार मोरारजी ने सरकार से त्यागपत्र दे दिया।[84] कांग्रेस विभाजन की यही अगली कड़ी थी। इस अवधि में देश को भीषण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। मुद्रा स्फीति की दर पिछले दशक की तुलना में तीन गुनी बढ़ गई। काले धन का प्रसार व्यापक पैमाने पर होने लगा। भ्रष्टाचार और शोषण तो सीमा तोड़ गए। महगाई ने सामान्य जन की कमर तोड़ दी। रुपये का मूल्य घटकर 29 पैसे मात्र रह गया। सारे देश में असंतोष की लहर चल उठी। इस स्थिति में जनाक्रोश और जन आन्दोलन भड़क उठे। जयप्रकाश जी ने सम्पूर्ण क्रान्ति का आह्वान किया। बिहार और गुजरात में विद्यार्थी आन्दोलन प्रारम्भ हुए। 8 अप्रैल 1974 को जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार सर्वोदय मंडल, शांति सेना और छात्र संघर्ष समिति के संयुक्त प्रयत्नों से पटना में एक मौन जलूस आयोजित किया गया। शान्तिपूर्ण ढंगों में विश्वास करने वाले, सभी धर्मों में समान निष्ठा, भ्रष्टाचार मुक्त समिति, समाज कल्याण और हित, महगाई, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और वर्तमान शिक्षा में आमूल परिवर्तन सभी वर्गों ने मिलकर इस मौन जलूस में बिहार की धरती पर एक ताजगी उडेल कर रख दी।[85]

देश की राजनीति में लोकनायक जयप्रकाश का नारा 'सम्पूर्ण क्रान्ति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है' गूंजने लगा। 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की लहर देश के अन्य राज्यों में भी फैलने लगी। बिहार और गुजरात में तो इस आन्दोलन का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। 6 मार्च सन् 1975 के जन मार्च प्रदर्शन में लाखों व्यक्तियों ने भाग लिया। इस दिन दिल्ली के प्रमुख बाजार बन्द रहे। देश के अन्य राज्यों से लाखों प्रदर्शनकारी इस क्रान्ति यात्रा में भाग लेने आए। इस प्रकार यह आन्दोलन जन-जागृति और लोक शक्ति में चेतना उत्पन्न करने के लिए प्रभावकारी रहा। इसके पश्चात् देश की राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती ही गई और 26 जून सन् 1975 को श्रीमती गाँधी ने देश में आपात स्थिति की घोषणा कर दी।[86]

चौथे आम चुनावों के पश्चात् राज्य राजनीति को संयुक्त दलीय सरकारों अथवा मिली-जुली सरकारों की राजनीति भी कहा जाता है। संयुक्त दलीय सरकारों ने दल-बदल को और दल बदल ने संयुक्त दलीय सरकारों के निर्माण में सहायता दी। इस प्रकार सन् 1967 से 1971 के मध्य की राज्य राजनीति दल बदल और संयुक्त दलीय सरकारों की राजनीति के घनघोर बादलों से आच्छादित रही। इन बादलों ने न केवल दलीय व्यवस्था बल्कि संसदीय शासन प्रणाली तथा संघवाद के मूल सिद्धान्तों को भी

आघात पहुँचाया।[87] डॉ० ओमप्रकाश अवस्थी के शब्दों में—"सातवाँ दशक भारत की राजनीति का कुरुक्षेत्र है।" देश के अन्दर विरोधी दलों में संघर्ष उत्पन्न हुए। सत्ता-सरकार का विभाजन, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, गरीबी हटाओ, समाजवाद लाओ आदि घटनाओं और नारों ने देश की जनता में टूटन पैदा की। राजनीतिज्ञ नगर केन्द्रित हुए। भौतिकवादी विलासिता आवश्यक अंग हुई। राजनीति का प्रवेश हर क्षेत्र में हुआ, उसके प्रभाव में कर वृद्धि हुई महँगाई बढ़ी तो आन्दोलन शुरू हुए, तनख्वाहें बढ़ीं। सेवाकालीन स्थितियाँ पुष्ट हुई तो हर स्थान में कामचोर, निकम्मे, बातूनी कर्मचारी पैदा हुए। राजनीतिज्ञों ने हर क्षेत्र में अपनी प्रमुख साधना का मार्ग उन्मुक्त किया। समाचार पत्रों में सर्वाधिक घटनाएँ मोटे अक्षरों में राजनीतिज्ञों की छपती हैं। आंदोलनों में राजनीतिज्ञ ही सक्रिय होते हैं। यूनियन, दल, संघ, सभा का निर्माण राजनीतिज्ञ ही करते हैं। हड़ताल, तालाबन्दी में राजनीतिज्ञों का हाथ होता है। विद्यार्थी आंदोलन राजनीतिज्ञ कराते हैं।[88]

अन्य नेतागण—स्वाधीन भारत की राजनीतिक चेतना के निर्माण में जयप्रकाश नारायण, विनोबा भावे, आचार्य कृपलानी आदि स्वतन्त्र विचारकों और विविध राजनीतिक दलों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जयप्रकाश जी को प० नेहरू ने भी अपने मन्त्रिमण्डल में लेने का आग्रह किया था, किन्तु उन्होंने स्वतन्त्र रहकर ही जन-चेतना के विकास हेतु कार्य किया। उन्होंने विनोबाजी के साथ रहकर सर्वोदयी समाज की संकल्पना को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। जयप्रकाश जी ने आपात्काल की तानाशाही के विरुद्ध जनतन्त्रवादी चेतना को जागृत किया और जनता पार्टी के निर्माण में उन्हींकी प्रेरणा रही थी। श्री जयप्रकाश नारायण ने आपात्काल में जेल की यत्रणा सही। उन्होंने जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, सुराज्य और ग्राम स्वराज्य के चित्र को साकार रूप प्रदान करने के लिए बिहार राज्य में सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन को प्रेरित किया। जेल में रहते हुए भी श्री जयप्रकाश जी ने इन्दिरा सरकार के विरोध में विरोधी दलों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात किया और कालान्तर में जनता पार्टी को सगठित होने तथा सत्ता में आने की प्रेरणा दी। आचार्य विनोबा भावे महात्मा गांधी के सर्वोदयी दर्शन को व्यवहार रूप में लाने वाले चिन्तक हैं। ग्रामदान, भूदान, सम्पत्तिदान, जीवन दान आदि कार्यक्रमों का संचालन श्री भावे ने सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिए ही अपनाया है। भारत की ग्रामीण जनता में जागृति उत्पन्न करने में श्री भावे का प्रमुख हाथ रहा है। आचार्य कृपलानी गाँधीवादी राजनीतिज्ञ रहे हैं। सत्ता से दूर स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में श्री कृपलानी समय समय पर भारतीय जनजीवन को अनुप्राणित करते रहे हैं। इस प्रकार दलगत राजनीति में आपातिक परिवर्तनों ने राजनीतिक चेतना के नये-नये आयाम उद्घाटित किये।

अन्य राजनीतिक दल और उनका प्रभाव

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीतिक चेतना के विकास में विभिन्न राजनीतिक दलों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि आजादी के बाद तीस वर्ष तक देश में

कांग्रेस की सत्ता रही तथापि अन्य राजनीतिक दलो ने भी सत्ता का विरोध करके लोक-सभा या विधान सभाओ मे अपने-अपने दलों की नीति को प्रस्तुत किया। सरकार की असफलता के मुद्दो पर आन्दोलन चलाये। इससे जन साधारण मे राजनीतिक चेतना विकसित हुई और व्यक्ति राजनयन के कार्यों मे स्वतन्त्र रूप से भागीदार होने लगा। कांग्रेस पार्टी के अलावा देश मे प्रमुख राजनीतिक दलो को दो भागों में विभाजन किया जा सकता है—(1) राष्ट्रीय राजनीतिक दल, (2) क्षेत्रीय राजनीतिक दल।

राष्ट्रीय राजनीतिक दल—(1) प्रजा समाजवादी दल, (2) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, (3) मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, (4) हिन्दू महासभा, (5) जनसघ, (6) रामराज्य परिषद, (7) स्वतन्त्र पार्टी और (8) मुसलिम लीग।

क्षेत्रीय राजनीतिक दल—(1) 'द्रविड मुनेत्र कडगम' अथवा (और) 'अन्नाद्रमुक' जो तमिलनाडु तक ही सीमित है किन्तु तमिलनाडु मे इनका सर्वाधिक प्रभाव है, और सत्ताधारी पार्टी है। (2) 'शिरोमणि अकाली दल' भी पजाब राज्य तक सीमित है और सिक्खो की साम्प्रदायिक राजनीति का सचालन करती रही है। (3) 'नेशनल कान्फ्रेंस' का कार्यक्षेत्र जम्मू-कश्मीर है। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला इसके नेता और प्रेरणा स्रोत हैं।

राष्ट्रीय राजनीतिक दलो मे प्रथम तीन को छोडकर शेष दल साम्प्रदायिक अधिक रहे हैं, राजनीतिक कम। इन दलो का कार्यक्रम भी प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक है। फिर ये सभी दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से ही निकले हुए हैं। हिन्दू और मुसलमान इस देश की दो प्रमुख बहुसख्यक जातियां हैं। मुसलिम लीग मुसलमानो के हितो को ही महत्त्व देती है और शेष हिन्दू महासभा, जनसघ, रामराज्य परिषद् तथा स्वतन्त्र पार्टी हिन्दुओ को। 'हिन्दू महासभा' हिन्दुओ के अधिकारो की रक्षा के लिए बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे सगठित हुई। प० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय और वीर सावरकर जैसे महानुभावो का इसे समर्थन प्राप्त था। गांधी-हत्या के पश्चात् इसका प्रभाव कम हो गया। फिर भी हिन्दुओ के अधिकारो के लिए अब भी यह सक्रिय है। 'भारतीय जनसघ'—डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने सन् 1951 मे इसकी स्थापना की। इस दल के कार्यक्रम की चार बातें प्रमुख हैं—(1) देश की सीमाओ की रक्षा और राष्ट्रीय एकता, (2) शासन की दक्षता और शुद्धि, (3) बढते हुए मूल्यो को स्थिर करना और (4) शिक्षा का सुधार। जनसघ के कार्यकर्त्ताओ ने विदेशी आक्रमणो के समय सरकार को सकट से उबारने मे काफी सहायता की। चोथे आम चुनावों में जनसघ को काफी सफलता भी मिली किन्तु कांग्रेस, वामपन्थी दल इसे साम्प्रदायिकवादी मानते हैं। रामराज्य परिषद' तो नाम-मात्र को राजनीतिक है। स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना सन 1959 मे श्री राजगोपालाचारी के नेतृत्व में हुई। मसानी, रगा और गायत्री देवी इसके मुख्य नेता हैं। यह दल व्यक्तिवाद के पक्ष में कार्यरत है।[89] ऐसी स्थिति मे दीर्घकाल तक कांग्रेस पार्टी के विरोध मे कोई एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल उभर नही सका है। वामपथी साम्यवादी दल, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को अभी तक इस देश की धरती में जड़ें जमाने का

अवसर नहीं मिल सका है बल्कि सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी ने अर्सेदराज तक वामपंथी दलों के नारों को अपनाकर भारतीय जनवादी चेतना को गुमराह ही किया है। ऐसी स्थिति में साम्यवादी दल या दलों को कुछ ही राज्यों में राजनीतिक सफलता मिल सकी है।

समाजवादी आन्दोलन सर्वप्रथम कांग्रेस पार्टी में रहते हुए ही उसके नेताओं जयप्रकाश नारायण लोहिया, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन, मसानी आदि ने चलाया था।[30] मार्च 1948 के नासिक कन्वेंशन में समाजवादी विचारों के ग्रुप ने कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और पृथक से समाजवादी दल का निर्माण किया। बाद में किसान-मजदूर पार्टी और समाजवादी पार्टी ने मिलकर सन् 1952 में प्रजा समाजवादी दल का निर्माण किया। लोहिया जी व जयप्रकाश नारायण का सहयोग इस दल को प्राप्त होता रहा, किन्तु इस दल को सत्ता में आने का कभी अवसर नहीं मिला। नेहरू जी के व्यक्तित्व और समाजवादी विचारों के सामने प्रजा समाजवादी दल को सफलता नहीं मिल सकी।

सन् 1971 से 1979 तक राजनीति स्थिति काफी फेर-बदल की रही है। कुछ नवीन राजनीतिक दलों की स्थापना हुई है और केन्द्र में कांग्रेस का वर्चस्व एक बार अल्पावधि के लिए समाप्त भी हुआ। भारतीय क्रान्ति दल, लोकदल, जनता पार्टी, कांग्रेस फार डेमोक्रेसी आदि राजनीतिक दलों की गहमा गहमी में देश की राजनीतिक चेतना उत्तेजित हो उठी। आपात्काल में एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि 'प्रजातन्त्र' ही खतरे में पड़ गया। इस अवधि में शासन ने अप्रजातान्त्रिक साधनों का सहारा लिया। परन्तु कुल मिलाकर भारत में प्रजातन्त्रीय संस्थाओं के प्रति गहरा लगाव रहा है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सन् 1977 के लोक सभाई चुनाव हैं। मतदाताओं ने 'तानाशाही बनाम लोकतन्त्र' में से प्रजातन्त्र को चुना। स्वातन्त्र्योत्तर युग की यह सबसे बड़ी देन है। इस काल में शक्तिशाली केन्द्र की भावना भी दृढ़ हुई है। स्वातन्त्र्योत्तर युग में विशेष रूप से सन् 1962 के चीनी आक्रमण के बाद सुरक्षा पर विशेष जोर दिया गया। सन् 1965 और विशेष रूप से सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि हम अपनी सुरक्षा अपने आप कर सकते हैं।[31]

जनवरी 1977 में आम चुनावों की घोषणा के बाद कांग्रेस पार्टी के विरोध में कई पार्टियों का ध्रुवीकरण हुआ और जनता पार्टी निर्मित हुई जिसकी विजय से केन्द्र में नई सरकार स्थापित हुई। किन्तु जनता पार्टी में सम्मिलित जनसंघ, लोकदल, कांग्रेस (यू) आदि घटक अपने पृथक अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहे और शीघ्र ही पतन भी हुआ। श्रीमती इन्दिरा की कांग्रेस पुनः चुनाव जीतकर सत्ता में आई और देश में पुनः राजनीतिक चेतना के नए आयाम उद्घाटित हुए।

राष्ट्रीय जीवन में उग्रजनवादी एवं क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रवृत्तियों का उदय एवं प्रभाव

स्वतन्त्र भारत की साठोत्तरी युवा पीढ़ी में जड़ता, निराशा और शिथिलता

ने घर कर लिया था; फलस्वरूप धीरे-धीरे राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती जा रही थी और सुविधाभोगी राजनीतिक नेतागण अपने स्वार्थों की सिद्धि हेतु देश के आर्थिक जीवन में जोंक की तरह चिपक गये थे। इसी अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव भी बढ़ रहा था। छात्र शक्ति का विस्फोटक आन्दोलन फ्रांस, इंग्लैण्ड अमेरिका आदि की राजनीति को पंगु बना रहा था। इसी समय भारत में भी अराजकता की स्थिति बढ़ने लगी। मजदूर आन्दोलन, छात्र आन्दोलन और मध्यम वर्गीय शिक्षित किन्तु बेकारी से पीड़ित युवा वर्ग के आक्रोश से भारतीय राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बनने लगा।

चौथे आम चुनावों के पश्चात् श्रीमती गांधी ने देश की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया, किन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। इन परिस्थितियों में भारत में उग्र क्रान्तिकारियों में आनन्द मार्गी, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और नक्सलपंथी प्रमुख दलों के रूप में उभरे। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और आनन्द मार्गी हिन्दू धर्म और संस्कृति से प्रभावित साम्प्रदायिक दल हैं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और आनन्द मार्गी उग्रवादी अवश्य रहे हैं। री, आर० एस० एस० की शाखाओं के द्वारा प्रचार प्रसार अवश्य हुआ। भारत पर हुए तीन विदेशी आक्रमणों में आर० एस० एस० के कार्यकर्त्ताओं ने देशभक्ति का परिचय दिया जिससे जनता का विरोध इनके प्रति कम अवश्य हुआ। भारत के उग्र वामपंथियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद प्रेरणा का स्रोत रहा है, जिसके मूल में मार्क्सवादी दर्शन हैं। क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद तब पैदा होता है जब राजनीति फेरबदल होती है और जब वर्ग अन्तर्विरोध तेजी से सामने आते हैं और जब पहले की निष्क्रिय जनता राजनीतिक रूप से सचेष्ट होना शुरू करती है, किन्तु यह तभी होता है जब आगे के मार्ग का कोई साफ परिदृश्य पास में नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में संक्षिप्त मार्ग (Short Cuts) और फौरी क्रान्तिकारी नुसखे खोजे जाते हैं और सिद्धान्त जो उन स्थितियों में ही ठीक होते हैं, तत्काल स्वीकृति पाते हैं।[92]

भारत के उग्र वामपन्थी क्रान्तिकारियों को चेगुएवारा से भी प्रेरणा मिली है। ये लोग साहस के साथ आत्मबलिदान देकर भी देश को भयानक संकट से निकाल ले जाने के लिए कृत संकल्प हुए। नक्सलपंथ को पनपने का अवसर बंगाल, बिहार, आसाम, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में मिला है। बंगाल, आसाम आदि राज्यों के चाय बागानों के मालिकों ने मजदूरों का अत्यधिक शोषण ही नहीं किया अपितु उन पर भीषण अत्याचार भी किये। अक्सर धनी जमींदारों और चाय बागान के मालिकों को सत्ताधारी सरकारों की पुलिस का भी संरक्षण प्राप्त होता रहा है और पुलिस के अत्याचारों में मजदूर और किसान निरन्तर पिसते रहे। इन्हीं अत्याचारों की आग से झुलसे हुए कुछ पढ़े-लिखे और वामपंथ से प्रभावित युवकों ने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उग्र क्रान्तिकारी पथ अपनाया। चारू मजूमदार, कनु सान्याल और इनके अन्यान्य सहयोगियों ने नक्सलपंथ को अपनाया और हिंसात्मक मार्ग द्वारा पुलिस, जमींदारों, मिल मालिकों एवं उन समस्त पूंजीपतियों का सफाया करने का संकल्प

किया जो देश के जीवन को पंगु बना रहे थे। चाय बागान के मालिकों, धनी जमींदारों एवं कुछ अन्य अत्याचारियों की हत्याएँ करके नक्सलपंथियों ने देश में आतंक की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। किन्तु केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने नक्सलपंथियों को निर्ममता से समाप्त किया। जनता का इनको समर्थन नहीं मिल पाया। वैसे केरल में आज भी ये लोग क्रियाशील हैं और चारू मजूमदार के अनुयायी होकर पुलिस को अपना प्रथम शत्रु मानते हैं।[93] इस देश की जनता धर्म-परायण और अहिंसक प्रवृत्तियों में विश्वास करने वाली रही है। उग्र क्रान्तिकारी भावनाएँ यहाँ के लोगों को रास नहीं आयी। अतः जो भी परिवर्तन होने होते हैं, बिना खूनी क्रान्ति के ही हो जाते हैं। फिर भी समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवादी साम्यवाद आदि वामपंथी विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का भारतीय जनता पर निरन्तर प्रभाव बढ़ रहा है। देश की राजनीति का मोड़ उग्र क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता जा रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विकसित राजनीतिक चेतना का प्रवृत्तिमूलक वैशिष्ट्य

देश को स्वतन्त्र हुए आज 33 वर्ष हो चुके हैं। इस अवधि में देश की राजनीति में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव आये हैं। नव-स्वतन्त्र देश के सम्मुख जो-जो कठिनाइयाँ आ सकती हैं, भारत ने उन सभी का दृढ़ता से सामना किया है और विश्व में विकसनशील राष्ट्रों में अपना प्रमुख स्थान बनाया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक चेतना को विभिन्न प्रवृत्तियों में आँका जा सकता है—

1 लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हुई हैं।
2 संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए नवीन राजनीतिक दलों का उदय हुआ है।
3 केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों में परिवर्तन
4 चुनावों के चौंका देने वाले परिणाम
   (क) सन् 1950 से 1966
   (ख) सन् 1966 से 1979
5 दलबदलू राजनीति का उदय
6 राजनीति की सर्वोपरिता
7 मूल्यभ्रष्ट राजनीति का विकास
8 आतंकवादी एवं साम्प्रदायिक शक्तियों का जोर
9 राष्ट्रीय महत्त्व के पर्वोत्सव
10 ग्रामोत्थान की चेतना—पंचायती राज्य का प्रसार
11 भाषा की राजनीति
12 प्रतिबद्ध साहित्य का सृजन

1. लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हुई हैं

भारत में 26 जनवरी सन् 1950 से नवीन संविधान (सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न

लोकतन्त्रात्मक गणराज्य) लागू हुआ था। इस नवीन संविधान के अन्तर्गत ही भारत मे जनतन्त्र का विकास हुआ है। हमारे लिए जनतन्त्र का तात्पर्य है—आर्थिक परिवर्तन, स्वशासन और सामाजिक तथा धार्मिक एकता।[34] आर्थिक परिवर्तन से यही तात्पर्य है कि देश की अधिसंख्यक जनता का जीवन स्तर ऊँचा हो। विकास के लिए सभी को समान आर्थिक अवसर प्राप्त हों। देश में धन का मत मे समान वितरण हो। कांग्रेसी शासन मे पचवर्षीय योजनाओ द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि हुई है। अवाडी अधिवेशन मे जनतन्त्रीय समाजवाद का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। पचायती राज व्यवस्था स्थापित की गई है। इससे गाँव से लेकर नगर तक की जनता शासन-तन्त्र मे भाग ले सकती है। सामाजिक और धार्मिक एकता की स्थापना के लिए संविधान की धारा 15, 16 व 17 म स्पष्ट प्रावधान है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, जाति, वर्ण या वर्ग के आधार पर विभेद नहीं करेगा और सबको राज्य के पदो की प्राप्ति मे समान अवसर देगा।

भारत मे अनेक जाति, वर्ण, धर्म व सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। कई बार इनमें किसी न किसी बात को लेकर सघर्ष भी होते रहे हैं। साम्प्रदायिक झगडो स तो देश को बराबर खतरा रहा है। देश ने तीन बार विदेशी आक्रमण का भी मुकाबला किया है; किन्तु इन कठिनाइयो के रहते हुए भी जनतान्त्रिक आधार कमजोर नही हुआ है। जनता ने समय-समय पर कांग्रेसी सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करते हुए भी अनुशासन की मर्यादा को कभी नही तोडा है और जो जनतन्त्र विरोधी शक्तियाँ देश मे हैं उन्हें एक सीमित रूप में ही अपना समर्थन दिया है।···कांग्रेस की नीति से ज्यो-ज्यो असन्तोष फैलता जाएगा, जनता के उन राजनैतिक दलो की ओर झुकने की ही अधिक आशा है जो वैधानिक ढग से उसकी आलोचना कर रहे हैं और जनतान्त्रिक ढग से उस पर कब्जा करना चाहते हैं।[35] सन् 1977 के चुनावो मे ऐसा ही हुआ। आपात्काल मे कांग्रेस सरकार की तानाशाही को देश की जनता ने सन् 1977 के चुनावो द्वारा समाप्त किया। इससे सिद्ध है कि देश मे जनतन्त्र की जडें मजबूत हुई हैं।

2. संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए नवीन राजनीतिक दलो का उदय

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के नवीन संविधान मे ससदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। हमारे संविधान मे बहु-दलीय व्यवस्था का प्रावधान है। एक से अधिक राजनीतिक दल होने से ही ससदीय प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। हमारे देश मे 26 जनवरी सन् 1950 स नवीन संविधान लागू हुआ। सर्वप्रथम कांग्रेस पार्टी चुनावो मे जीती और सत्ता मे आयी। लगभग 30 वर्ष तक कांग्रेस पार्टी ने शासन किया, यद्यपि कांग्रेस पार्टी का दो बार विभाजन भी हुआ। सन् 1977 के चुनावों मे कांग्रेस पार्टी पराजित हुई और नवीन राजनीतिक पार्टी—जनता पार्टी सत्ता मे आई।

कांग्रेस पार्टी के अलावा अन्य राजनीतिक दल—प्रजा समाजवादी पार्टी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, जनसघ, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद, स्वतन्त्र पार्टी, मुसलिम लीग, भारतीय क्रान्ति दल, लोकदल, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, जनता पार्टी।

क्षेत्रीय राजनीतिक दल—नेशनल कान्फ्रेंस, अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कडगम।

राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टियों में कांग्रेस का ही सर्वाधिक वर्चस्व रहा है। जनता पार्टी अल्पावधि के लिए ही सत्ता में आई। शेष दल ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में हैं।

3. केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों में परिवर्तन

हमारे देश में संघीय शासन व्यवस्था है। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् केन्द्र में लगभग तीस वर्षों तक कांग्रेस का शासन रहा है तथापि राज्य सरकारों में अन्य दल भी सत्तारूढ़ रहे हैं। संसद (लोक सभा एवं राज्य सभा) के पास सारी शक्तियाँ हैं और मन्त्रि परिषद इसके प्रति उत्तरदायी है। "यदि कोई राज्य संघीय कार्यपालिका के उन निदेशों का पालन करने या लागू करने में असफल रहता है, जिन निदेशों के जारी करने का अधिकार इस संविधान के अधीन संघीय कार्यपालिका को था, तो भी राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि इस संविधान के अनुसार राज्य में सरकार नहीं चलाई जा सकती और वहाँ का शासन अपने हाथ में ले सकता है तथा वहाँ के विधान मण्डल के अधिकारों को पार्लियामेंट को सौंप सकता है।[86] केरल में 31 जुलाई 1959 को ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति ने मन्त्रिमण्डल को तोड़ दिया, विधान सभा भंग कर दी। इसके बाद नये चुनाव करवाये और उत्तरदायी सरकार स्थापित हुई। चौथे आम चुनावों के पश्चात् हरियाणा, पंजाब उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा पाण्डिचेरी में संयुक्त या मिली-जुली सरकारें ठीक तरह से कार्य न कर सकीं, इसलिए वहाँ राष्ट्रपति शासन घोषित किया गया। सन् 1971 में पंजाब, गुजरात, मैसूर और बंगाल में भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था।[87]

केन्द्र और राज्य या राज्यों में भिन्न राजनीतिक दल की सरकार बनने में संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। केन्द्र सरकार राज्य सरकारों पर हावी रहती है। पंजाब, बंगाल, केरल उत्तर प्रदेश, हरियाणा गुजरात, आदि राज्यों में संवैधानिक संकट उत्पन्न होने का कारण यही रहा है कि केन्द्र और इन राज्यों में भिन्न दलों की सरकारें रही हैं। सन् 1977 के चुनावों में जब जनता पार्टी शासन में आयी तब भी जिन राज्यों में कांग्रेसी सरकार का शासन था, संकट उत्पन्न हो गया था और पुन निर्वाचन करा कर संकट दूर किया गया था। यही स्थिति सन् 1979 के चुनावों में रही जब जनता पार्टी केन्द्रीय सत्ता से हट गई और राज्य सरकारों में सत्ता में रही। इन राज्यों में भी पुन चुनाव करवाये गये और अधिकांश में कांग्रेस दल को विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार केन्द्रीय और राज्य सरकारों में परिवर्तन की राजनीति प्रारम्भ हो गई है।

4 स्वतन्त्र चुनावों के चौंका देने वाले परिणाम

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व और उसके कुछ वर्ष बाद तक पाश्चात्य देशों को यह भ्रम रहा कि भारत में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली सफल नहीं होगी और देश शीघ्र ही बिखर जायगा अथवा तानाशाही कायम हो जायगी। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, कांग्रेस पार्टी का 30 वर्ष तक देश में वर्चस्व बना रहा। हाँ कुछ राज्यों में भिन्न राजनीतिक

दलों की सत्ता स्थापित हुई। केरल में वामपन्थी सरकार कायम हुई। राष्ट्रपति शासन रहा और संयुक्त दलीय शासन भी रहा। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी दल की सरकार अब भी सत्ता में है। तामिलनाडु में अन्ना द्रविड मुनेत्र कडगम, पंजाब में अकाली दल, जम्मू-काश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस सत्तारूढ है। उत्तर प्रदेश में भारतीय क्रान्तिदल, लोकदल अथवा संयुक्त दलीय सरकार बनती रही है। सन् 1977 में जनता पार्टी की सरकार केन्द्र में और बाद में राज्यों में भी बनी। किन्तु चुनावों के चौंका देने वाले परिणाम सन् 1979 में भी देखने को मिले जब पुनः इन्दिरा कांग्रेस सत्तारूढ हुई। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति में चुनावों के परिणाम न केवल आश्चर्यजनक रहे हैं अपितु जागृत राजनीतिक चेतना के भी परिचायक हैं। सन् 1977 और 1979 के चुनावों में दल-बदलू राजनीतिक का खेल तो आश्चर्य में डाल देने वाला रहा है। कांग्रेस के 30 वर्षों के शासन का अन्त, जनता पार्टी का अल्पकालिक वर्चस्व और पुनः इन्दिरा कांग्रेस का सत्ता में आना इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

5 दलबदलू राजनीति का उदय

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दलबदलू राजनीति का उदय भी एक अनोखी घटना ही है। कांग्रेस दल में वर्षों तक आन्तरिक गुट या ग्रुप बनते रहे। परिणामतः कांग्रेस विभाजित होती रही। समाजवादी दल, प्रजा समाजवादी दल, किसान मजदूर पार्टी अथवा संयुक्त समाजवादी दल कांग्रेस के ही अंग रहे हैं जो बाद में व्यक्तिवादी अहम्मन्यता के कारण समय-समय पर अस्तित्व में आते रहे और विघटित भी होते गये। वामपन्थियों में भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, तथा अन्य वाम मार्गी छोटे-छोटे दल बनते रहे हैं। अकाली दल के भी दो दल—मास्टर तारासिंह और सन्त फतेहसिंह के नेतृत्व में पृथक्-पृथक् बने। तामिलनाडु में द्रविड मुनेत्र कडगम और अन्ना द्रविड मुनेत्र कडगम भी एक ही दल के दो भाग हुए।

स्वतन्त्र पार्टी, भारतीय क्रान्ति दल, लोकदल, कांग्रेस फार डेमोक्रेसी, कांग्रेस यू०, इन्दिरा कांग्रेस भी ऐसे ही राजनीतिक दल हैं, जिनमें व्यक्तिवादी आकांक्षाओं के कारण दलबदलू होती रही है। वैसे दलबदलू राजनीति में सैद्धान्तिक मुखौटे के नाम पर व्यक्तिवादी प्रभाव ही परिलक्षित हुआ है। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, हरियाणा, पंजाब, केरल, गुजरात, कर्नाटक आदि में दलबदलू राजनीति को काफी प्रश्रय मिला है।

6 राजनीति की सर्वोपरिता

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीति को महती प्रभुता प्राप्त हो गई है। स्थानीय ग्राम पंचायतों से लेकर स्कूल कालेजों में मजदूर संगठनों, सरकारी कर्मचारियों, शिक्षक संगठनों, इंजीनियरों, डाक्टरों सभी में राजनीति की सर्वोपरिता को सहज रूप में स्वीकार कर लिया गया है। कौन किस राजनीतिक दल से जुड़ा हुआ है, किस दल में किसका कितना प्रभाव है, यही ध्यान में रखकर संगठनों के चुनाव लड़े जाते हैं। देश की राजनीति में जिस दल या व्यक्ति का अधिक प्रभुत्व होता है, वही इन संगठनों में

अपना अधिकार प्राप्त करने में सफल होना है। दफ्तरों, अस्पतालों, न्यायालयों, सचिवालयों आदि में सामान्य रीति से किसी का कोई कार्य नहीं होता, राजनीतिक जैक की आवश्यकता पड़ती है। किसी विशिष्ट संस्था में दाखिला पाने में योग्यता के स्थान पर राजनेताओं की सिफारिश अधिक कारगर होती है। नौकरी प्राप्त करना, विदेश भ्रमण, श्रेष्ठता अथवा वरिष्ठता का पद पाने में भी राजनेताओं का ही सहारा फलदायी होता है। इस राजनीतिक सर्वोपरिता के कारण देश में योग्य ईमानदार और चरित्रवान लोगों को नकारा जाता है।

7 मूल्य भ्रष्ट राजनीति का विकास

स्वतन्त्रता के पश्चात् इस देश में मूल्य भ्रष्ट राजनीति का विकास हुआ है। देश के जन जीवन में राजनीति की घुसपैठ से अलगाव, विभाजन, पारस्परिक वैमनस्य, टूटन, कुंठा, कपट-कूटनीति आदि को बढ़ावा मिला है। राजनयन के कार्यों में योग्य, ईमानदार, निष्पक्ष, सच्चे और निष्ठावान लोग नहीं पहुँच पाते, मात्र स्वार्थी कपटी, चालाक और अयोग्य ही सफल होते हैं जिनके लिए मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता। ऐसी स्थिति में नैतिक, आर्थिक सांस्कृतिक, चारित्रिक ह्रास होते जाना स्वाभाविक है। राजनेता थोथे आश्वासन देते हैं झूठे वायदे करते हैं और निर्वाचित होने के बाद स्वार्थों की पूर्ति में मलग्न हो जाते हैं। अब राजनीतिक नेतागण पदलोलुप, स्वार्थी, मक्कार, झूठे बेईमान, दुष्ट और भ्रष्ट हो गये हैं। मूल्य भ्रष्ट राजनीति में चरित्र की उदात्तता के लिए स्थान नहीं। हमारे पतन का मार्ग विस्तृत होता जा रहा है।

8 आतंकवादी और साम्प्रदायिक शक्तियों का प्राबल्य

नवीन संविधान के लागू होने पर कांग्रेस पार्टी केन्द्र और राज्यों में सत्ता में आयी। कांग्रेस को आगामी 30 वर्षों तक सत्ता में बने रहने का लाभ मिलता रहा। संसदीय प्रणाली में कार्य धीरे धीरे होता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश का विभाजन हुआ और साम्प्रदायिक अग्नि भड़क उठी। विस्थापितों को बसाने की भी समस्या आ खड़ी हुई। खाद्यान्न संकट को भी दूर करना था। साथ ही अशिक्षा, गरीबी व बेरोजगारी को भी मिटाना था। स्वतन्त्र होने के बाद देश के लोगों में कर्त्तव्य के स्थान पर अधिकार भावना ही प्रबल होती गई। आशाओं आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर लोगों में निराशा व्याप्त हो गई। आभावों की खाई निरंतर बढ़ती ही गई। पढ़े लिखे बेकार लोगों में अनास्था, कुंठा, आक्रोश आदि भावनाएँ बढ़ने लगी।

ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक और आतंकवादी शक्तियों का प्राबल्य हो गया। जनसंघ, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दुओं के तथा जमायत इसलाम मुसलमानों के संगठन अधिक क्रियाशील हुए जो अपने में कट्टर धार्मिक और साम्प्रदायिक थे। इन संगठनों ने उग्र रूप धारण किया और समय-समय पर साम्प्रदायिक झगड़े होते रहे। वैसे कांग्रेस और अन्य जनवादी दलों ने इनको दबाने में सरकार का साथ दिया। दूसरी तरफ देश की समस्याओं को शीघ्र ही हल करने के लिए नक्सलपन्थी और आनन्द

मार्गी भी सक्रिय हुए। इनके कार्यों मे हत्या, लूटपाट और भय फैलाना सम्मिलित था। अन्त मे जनता ने इनका साथ नही दिया।

9 राष्ट्रीय महत्त्व के पर्वोत्सवो का आयोजन

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सभी सम्प्रदायो, जातियो व धर्मों के लोगो मे नवोदित राष्ट्र के प्रति एकता की भावनाएँ पनपने के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय महत्त्व के पर्वोत्सवो के आयोजन की परम्परा स्थापित की। 15 अगस्त सन् 1947 को देश स्वतन्त्र हुआ था। इस दिन देश भर मे खुशियो की लहर फैल गई और राष्ट्र भर मे यह दिन धूमधाम से मनाया गया। तब से 15 अगस्त आजादी का पर्व बन गया है और राष्ट्र भर मे इसी रूप मे मनाया जाता है। इसी दिन हम शहीदो के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं और देश की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए सकल्प दोहराते हैं।

सन् 19.9 को रावी नदी के तट पर काग्रेस के अधिवेशन मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति का सकल्प किया गया था और 26 जनवरी सन् 1930 को सारे भारत में स्वतन्त्रता दिवस बडी धूमधाम से मनाया गया था।[69] इसी दिवस की स्मृति में 26 जनवरी सन् 1950 को देश का नया सविधान लागू किया गया। अब यह पर्व प्रतिवर्ष गणतन्त्र दिवस के रूप मे देश भर मे मनाया जाता है। इसी दिन हम अपनी प्रगति का लेखा-जोखा लेते है और नूतन प्रेरणा प्राप्त करके आगे कदम बढाते हैं।

इसी प्रकार 2 अक्टूबर को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का जन्मोत्सव मना कर उनके महान् कार्यों से प्रेरणा ली जाती है। अब तो स्व० श्रीलालबहादुर शास्त्री का जन्म दिवस भी इसके साथ जुड गया है महान् देशभक्त, स्वतन्त्रता सेनानी और स्वतन्त्र देश को दिशा निर्देश देने वाले प० जवाहरलाल नेहरू ने अपना जन्म दिवस राष्ट्र के बच्चो को समर्पित किया था। तभी से 14 नवम्बर प० नेहरू का जन्म दिवस 'बाल-दिवस' के रूप मे प्रतिवर्ष देश भर मे मनाया जाता है। भू०पू० राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपना जन्म दिवस देश के शिक्षको को समर्पित किया था। अत 5 सितम्बर शिक्षक दिवस के रूप मे राष्ट्र भर मे मनाया जाने लगा है। इस दिन देश के सभी शिक्षकवृन्द आत्मचिन्तन करते हैं और देश व समाज की सेवा का सकल्प दुहराते हैं। राष्ट्रीय महत्त्व के इन पर्वोत्सवो मे किसी प्रकार का भेदभाव नही रहता और नवीन राष्ट्रीय सस्कृति का स्वरूप निर्मित होता है।

10. ग्रामोत्थान की चेतना एव पचायती राज्य का प्रसार

भारत गाँवो का देश है। यहाँ की 80 प्रतिशत जनता गाँवो मे ही रहती है। जब तक स्वतन्त्रता, समानता और समृद्धि का लाभ गाँवो के लोगो को प्राप्त नहीं होता तब तक स्वराज्य मात्र एक धोखा है। हेराल्ड जे० लास्की ने ठीक ही कहा है—"हम लोकतन्त्रात्मक सरकार का पूरा लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह बात मान कर नहीं चलते कि सारी समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नही हैं और ऐसी समस्याएँ जो केन्द्रीय नही हैं, उनका हल उस स्थान पर और उन लोगो द्वारा होना आवश्यक है जिनके

द्वारा वे अनुभव की जाती हैं।" गाँधी जी के सर्वोदय की कल्पना में ग्राम राज्य को ही स्वराज्य या सुराज्य माना गया है। आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रण हेतु ही देश में पंचायती राज व्यवस्था स्थापित की गई है। कृषि सुधार, पशु पालन, कुटीर उद्योग, प्रसार, ग्रामीणों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था, पेय जल, सार्वजनिक सफाई, स्वास्थ्य आदि की देखभाल स्वयं गाँव वाले ही ठीक तरह से कर सकते हैं।

सर्वप्रथम अक्टूबर सन् 1959 में पंचायती राज व्यवस्था प्रारम्भ की गई। इसके अन्तर्गत गाँवों के लोगों को शक्ति का वास्तविक हस्तान्तरण किया गया है। "पंचायती राज में विकास के लिए ग्राम स्तर पर पंचायतें, खण्ड स्तर पर खण्ड विकास समितियाँ और जिला स्तर पर जिला परिषदें बनाई गई हैं। पंचायती राज का मुख्य लक्ष्य लोकतन्त्र को वास्तविक बनाना है। इसलिए यह अधिक से अधिक शक्तियाँ जनता को देना चाहता है।"[9] पंचायती राज व्यवस्था को प्रारम्भ हुए लगभग 22 वर्ष हो चुके हैं, फिर भी अभी तक ग्रामोत्थान और ग्रामीण जनता में जागृति नहीं आ पायी है। वस्तुतः मूल्य भ्रष्ट राजनीति ने ग्रामीण जनता को भी स्वार्थों के चक्र में घसीट लिया है। फिर भी गाँवों का विकास हो रहा है और धीरे-धीरे पंचायती राज के द्वारा ग्रामीण चेतना अवश्य विकसित होगी।

11. भाषा की राजनीति

संविधान के अनुसार हिन्दी को सन् 1965 में राष्ट्रभाषा या राजभाषा का पद मिलना चाहिए था और अंग्रेजी भाषा का स्थान अन्य विदेशी भाषाओं की तरह गौण होता; किन्तु भाषा की राजनीति आज भी हम पर हावी है। अंग्रेजी भाषा को इस देश की राजभाषा का गौरव मिला हुआ है। नामालूम इस अंग्रेजी को थोपे रखने के लिए किन-किन राजनीतिज्ञों के स्वार्थ जुड़े हुए हैं। सन् 1920 में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने भाषावार प्रान्तों के निर्माण के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। इस हेतु देश के विभिन्न प्रान्तों के लोगों ने कई बार अपनी माँग दुहराई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तो यह माँग अधिक जोर पकड़ गई। पहले तो प्रधानमन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू इस माँग को यह कहकर टालते रहे कि इससे विघटनकारी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा। किन्तु भाषा को लेकर दक्षिण भारत में आन्दोलन और झगड़े हुए। विवश होकर भारत सरकार ने अक्टूबर सन् 1953 में मद्रास के कुछ तेलुगूभाषी भागों को काट कर एक नये आंध्र राज्य की स्थापना की। इसके पश्चात् ही सारे देश में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग जोर पकड़ बैठी। भारत सरकार ने शीघ्र ही एक आयोग की नियुक्ति की।

भाषा आयोग ने सन् 1955 में रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के अनुसार 16 राज्यों का भाषावार पुनर्गठन किया गया। जुलाई सन् 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास किया गया और भाषा के आधार पर 16 राज्य पुनर्गठित हुए। फिर भी बम्बई, विदर्भ, गुजरात, हैदराबाद, तेलगाना आदि में भाषा के आधार पर माँग न मानने के कारण आन्दोलन चलते रहे। एक मई सन् 1960 को बम्बई राज्य का

विभाजन करके महाराष्ट्र और गुजरात दो नये राज्य बनाये गये। एक नवम्बर सन् 1966 को पंजाब का बँटवारा करके हिन्दीभाषी क्षेत्र हरियाणा राज्य की स्थापना की गई। इस देश मे भाषाओ के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन किया जाना सिद्धान्ततः बुरा नहीं है; किन्तु भाषा की राजनीति बुरी है। दक्षिण वाले हिन्दी को उत्तर के साम्राज्यवाद की संज्ञा देकर अग्रेजी से चिपके रहना चाहते हैं।

12 प्रतिबद्ध साहित्य का सृजन

प्रसिद्ध कथा साहित्यकार प्रेमचन्द जीवन के अन्तिम वर्षों मे प्रगतिशील लेखक संघ से जुड गये थे। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के 10 वर्ष पश्चात् देश स्वतन्त्र हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम मे वामपथी विचारो के लोगो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् 1917 की रूसी क्रान्ति के पश्चात् रूस मे समाजवादी व्यवस्था एवं सरकार कायम हुई। लेनिन ने मार्क्सवादी विचारों को रूस मे व्यावहारिक रूप दिया। 20 वर्षों में ही रूस विश्व की एक बडी शक्ति के रूप मे उभरा। इस अवधि मे समाजवाद साम्यवाद और मार्क्सवाद के नाम पर वामपथी विचारों का भारत मे बहुत प्रचार-प्रसार हुआ। स्वय प० जवाहरलाल नेहरू रूसी साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। भारत के नेताओ को रूस से वैचारिक प्रेरणा मिली जिससे स्वतन्त्रता आन्दोलन मे उग्रता आयी। आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, लोहिया आदि भी समाजवादी विचारो को मानते थे।

प्रगतिशील साहित्य का दार्शनिक आधार मार्क्सवादी विचार दर्शन है। प्रेमचन्द, निराला, डॉ० रामविलास शर्मा अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, राहुल सांस्कृत्यायन, यशपाल, डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मुक्तिबोध, धूमिल, नागार्जुन, रणजीत, रामदेव आचार्य, ऋतुराज, लीलाधर जगूडी, वेणु गोपाल, नामवरसिंह, रामदरश मिश्र, शमशेर प्रभृति कवि एव साहित्यकार प्रगतिशील लेखन से प्रतिबद्ध रहे हैं। ये सभी मार्क्सवाद से प्रभावित हैं और प्रतिक्रियावादी साहित्य का विरोध करते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल म कांग्रेस सरकार की असफलता के कारण भी प्रतिबद्ध साहित्य की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ। युवा पीढ़ी के पढे-लिखे साहित्यकारो पर मार्क्सवादी दर्शन का ऐसा प्रभाव पडा है कि प्रतिबद्धता के साहित्य सृजन मे सबसे आगे है।

निष्कर्ष—सदियो की पराधीनता के बाद जब 15 अगस्त 1947 को देश स्वतन्त्र हुआ तो अपने पैरो पर खड़े होने का दायित्व हम पर आ पडा। देश-विभाजन, साम्प्रदायिक दगे, विस्थापितो का पुनर्स्थापन, 500 से अधिक देशी रियासतो का एकीकरण, नवीन संविधान निर्माण और उसे लागू करना, जर्जर, पिछड़े हुए, गरीब देश को उन्नत एव समृद्ध बनाना—स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीति अधिकांश रूप मे इन्ही के इर्द-गिर्द घूमती रही है। इस अवधि मे संघीय संविधान के अन्तर्गत मिश्रित या पूंजीवादी पद्धति की दलगत राजनीति का विकृत रूप अधिक उभरा है। जनसख्या वृद्धि और विदेशी आक्रमणो ने देश की समृद्धि को महत्वहीन (न्यूट्रलाइज) कर दिया है। वस्तुत. स्वातन्त्र्योत्तर भारत की जनता म राजनीतिक चेतना का दूरगामी विकास हुआ

है। दूसरी तरफ सन् 1960 के पश्चात् मूल्य भ्रष्ट राजनीति जनजीवन पर इतनी हावी हो गई है कि बिना राजनीतिक दबाव के व्यक्ति का सामान्य कार्य भी नहीं हो पाता। फिर भी स्वतन्त्र भारत की अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। हम एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के नागरिक हैं। लोकतन्त्र में हमारी आस्था दृढ़ हो गई है। ज्ञान विज्ञान कला, साहित्य और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में देश समुन्नत हुआ है। समाजवादी समाज की स्थापना के लिए हम कृत संकल्प हैं। हमारा राष्ट्र विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में देश की राजनीतिक चेतना का प्रस्फुटन हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य सरचना भी इस सर्वव्यापी राजनीति से प्रभावित हुई है। अधिकांश महाकाव्यों में नवोदित राष्ट्र का अभिनन्दन ही नहीं हुआ है उसे उन्नत और समृद्ध राष्ट्र के रूप में विकसित देखने की कामना की गई है। समीक्ष्य हिन्दी महाकाव्यों में राजनीतिक चेतना के असंख्य आयाम रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित हुए हैं।

पाद टिप्पणी

1 समरपाल और गुप्ता—राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त पृ० 27
2 डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—राजनीति और दर्शन पृ० 7
3 डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र पृ० 20
4 डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—राजनीति और दर्शन पृ० 77
5 डॉ० के० बी० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास पृ० 9
6 यजुर्वेद—दशमाध्याय 2 3
7 'तस्मिंश्च स्वयमेवा ममस्त इति राष्ट्राणि वै विशो राष्ट्राण्येवैन तस्त्वमुपगमन्ति' ऐतरेय ब्राह्मण अ० 50 खण्ड 3 26
8 ऐतरेय ब्राह्मण अ० 39 खण्ड 1 15
9 विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना पृ० 42
10 सर्वधर्मा राजधर्म प्रधाना सर्वे वर्णा पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्याग धर्म चाहुर ग्र्य पुराणम्॥
मज्जेत् त्रयीदण्डनीतौ हतायां सर्वधर्मा प्रक्षये र्बुविबुद्धा।
सर्वधर्माश्चाश्रमाणा हता स्यु क्षात्र त्यक्ते राजधर्मे पुराण॥
सर्वेत्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वादीक्षा राजधर्मेषु चोक्ता।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ता सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा॥
—महाभारत—शांति पर्व ▪ 27/29
11 महाभारत—शांति पर्व 59 125
12 ऐतरेय ब्राह्मण 1 14
13 स्वाम्य मात्यौ पुरं राष्ट्र कोश दण्डो सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्तांग राज्य मुच्यते॥
—मनु स्मृति—9, 294
14 नीते फल धर्मार्थकामावाप्ति। धर्मेणार्थ कामोपरीक्ष्यो॥
—बार्हस्पत्य सूत्र—2 ▪ 44

15. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।
मान्यपद्मागं पण्य दशभागं हिरण्य चास्य भागधेय प्रकल्पयामासुः ॥
—कौटिल्य अर्थशास्त्र—1, 13
16. डॉ० एम० एल० शर्मा—नीति वाक्यामृत में राजनीति, पृ० 65
17. याज्ञवल्क्य स्मृति—1, 309-311
18. डॉ० इकबालनारायण—राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ० 166-167
19. डॉ० वी० एस० भार्गव—मध्यकालीन भारतीय इतिहास, पृ० 4
20. डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० 48
21. वही, पृ० 77-78
22. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव—दिल्ली सल्तनत (711 से 1526 ई० तक), पृ० 39
23. Dr. Hardyal—Quoted in 'Caste and out caste' by J.E. Sanjana, (1946), P. 58
24. प्रो० बी० एन० लूनिया—भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० 327
25. तुलसीदास—रामचरितमानस,
26. पंडित रामचन्द्र दुबे—श्री गोस्वामी जी और राजनीति (लेख), तुलसी ग्रंथावली (खण्ड तीसरा), पृ० 134 से उद्धृत।
27. विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 161-162
28. रामधारीसिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 406
29. "England has broken down the whole frame-work of Indian Society without any symptoms of reconstruction yet reappearing". Marx "The British Rule in India". Newyork daily Tribune, June 25, 1853. Quoted in "India Today" by R. P. Dutt, P. 88
30. पट्टाभि सीतारमैया—कांग्रेस का इतिहास, पृ० 5
31. बेनीप्रसाद बाजपेयी—सन् 57 का विप्लव, तीसरा संस्करण, भूमिका लेखक रामकिशोर मालवीय, पृ० 11
32. The year 1857 was the dawn after a long night's sleep. Those who saw the vision of the brillient day to come work up and left their beds.
—V. D. Savarkar—The Indian war of Independence 1857, P. 132 (1947 Ed.)
33. मन्मथनाथ गुप्त—भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पृ० 6
34. विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 199
35. "The cultivation of English as a common language began, however gradually to change the mentality and out look of the intellectual classes, and created new disires, new ideals, new fashions, new standards and new ambitions in all spheres of life."
—A Yusaf Ali—A Cultural History of India during British Period (1940), P. 117
36. "He went so far as to wish his people to adopt English as their universal language, to make Indian western socially and

then to achieve independence and enlighten the rest of Asia "
—Roman Rolland—The Prophets of the New India (1930 Ed), P 73

37 श्रीधर शर्मा एवं सरोज वर्मा—आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक चिंतन, पृ० 59

[illegible] "O India ! O Perfect Nation !
O India that shall be !
How long till Thou take station !
How long else thralls live free ?
How long ere all Thy Soul ?
Be one with all The Sea ?'—Anni Besant
Quoted from foot note of Modern Indian Social and Political Thought, P 77

39 "O India forget not that the lower classes, the ignorant, the poor, the illiterate, the cobler, the sweepers, are thy flesh and blood, thy brothers Thou brave one, be hold, take courage, be proud that thou art an Indian, and proudly proclaim, I am a Indian, every Indian is my brother the soil of India is my hightest heaven, the good of India is my good
(Swami Vivekanands appeal of his countrymen)
Quoted in selection from Vivekanand (3rd Ed) (translated from Bengali Script) P 534

40 गुरमुख निहालसिंह—भारत का संवैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, पृ० 125

41 डॉ० पट्टाभि सीतारमैया—कांग्रेस का इतिहास प्रथम खण्ड, पृ० 18 19

42 कृष्णबिहारी मिश्र—आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 72

[illegible] पट्टाभि सीतारमैया—कांग्रेस का इतिहास (प्रथम खंड), पृ० 51

44 Garrat—An Indian Commentary, P 134

45 Ronaldshay—The Life of Lord Curzon, Vol II, [illegible] 162

46 मन्मथनाथ गुप्त—भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास (1960), पृ० 1951

47 कृष्णबिहारी मिश्र—आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 80

48 वही पृ० [illegible]

49 सत्यकेतु विद्यालंकार—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ० 17-18

50 "A socialist movement without the active participation of women [illegible] like a wedding without bride
—Dr Lohia—Marx, Gandhi and Socialism, P 350

51 डॉ० के० के० दत्ता—आधुनिक भारत में पुनर्जागरण, राष्ट्रीयता एवं सामाजिक परिवर्तन, पृ० 131

[illegible] R C Gupta—Socialism, Democracy and India, P 194

53 A [illegible] Mathur—Trade Union Movement in India, P 16

54 Dr Radha Kamal Mukerjee—The Indian working class, P 328

55 डॉ० इकबालनारायण—द्वैध शासन से स्वराज्य की ओर, पृ० 247

56 वही, पृ० 248

57 चन्द्रप्रकाश भाम्भरी एव दयाप्रकाश रस्तोगी—भारतीय संविधान तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ० 3

58 रामनारायण—नवीन भारतीय विधान, पृ० 333

59 डॉ० रामानन्द अग्रवाल—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 12

60 बाबूराव जोशी—भारतीय नवजागरण का इतिहास, पृ० 11

61 डॉ० रामानन्द अग्रवाल—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 24

62 बाबूराव जोशी—भारतीय नवजागरण का इतिहास पृ० 177 [illegible]

[illegible] डॉ० रामानन्द अग्रवाल—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 213

64 प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वाधीनता की चुनौती, पृ० 6

65 रजनी कोठारी—भारत में राजनीति, पृ० 80

66 डॉ० रामानन्द अग्रवाल—हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 236

67 वही, पृ० 237

68 गोविन्दराम वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन (तृतीय संस्करण), पृ० 17

69 रजनी कोठारी—भारत मे राजनीति पृ० 3

70 गोविन्दराम वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन पृ० 353

71 रजनी कोठारी—भारत में राजनीति, पृ० 60

72 वही, पृ० 84

73 आचार्य नरेन्द्र देव—राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ० 216

74 G S Halappa—Dilemmas of Democratic Politics in India, P 186

75 It is obvious that a vote by itself does not mean very much to a person who is down and out and starving Such a person will be much more interested in food to eat than in a vote There fore, political democracy by itself is not enough except that it may be used to obtain gradually increasing measure of economic democracy

—G S Halappa—Dilemmas of Democratic Politics, P 186

76 प्रो० चन्द्रप्रकाश भाम्भरी एव दयाप्रकाश रस्तोगी—भारतीय संविधान तथा राष्ट्रीय आंदोलन (भाग 2) पृ० 207

77 G S Hallappa—Dilemmas of Democratic Politics in India, P 159 160

78 प्रो० चन्द्रप्रकाश भाम्भरी एव दयाप्रकाश रस्तोगी—भारतीय संविधान तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, मागर, पृ० 209

79 प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वाधीनता की चुनौती पृ० 238 39

80 प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वतन्त्रता की चुनौती पृ० 240

[illegible] रजनी कोठारी—भारत में राजनीति पृ० 7 के फुटनोट मे उद्धृत

[illegible] रजनी कोठारी—भारत मे राजनीति पृ० 8

83 गोविन्दराम वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन प० 138

[illegible] रमेश महसाथ—प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई पृ० 33

85 वही पृ० 36

86 रमेश महमास—प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई पृ० 38

87 गोविन्दराम वर्मा—भारतीय राजनीति और प्रशासन, 361

88 डॉ० ओमप्रकाश अवस्थी—नई कविता के बाद पृ० 11
89 आर० सी० अग्रवाल—भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ० 614 618
90 "Socialist leadership arose within the Indian National Congress for the first time in India after 1930"

—R C Gupta—Socialism, Democracy and India P 136

91 गोविन्दराम वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन, पृ० 10
92 विलो थामसन—क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद (अनु० सुधीश पचौरी) आलोचना अक्टूबर दिसम्बर 1970, पृ० 86
93 Hindustan Times—Friday, October, 1980, P 3
94 "Thus in India, democracy conveys three things the economic change, the self government and the social and religious unity"

—R C Gupta—Socialism, Democracy and India P 172

95 प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वाधीनता की चुनौती पृ० 348 349
96 भारतीय संविधान—धारा पृ० 365
97 आर० सी० अग्रवाल—भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन (दूसरा खण्ड) पृ० 97
98 मन्मथनाथ गुप्त—राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ० 395
99 आर० सी० अग्रवाल—भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन (तीसरा खण्ड) पृ० 32

3

राजतन्त्रवादी चेतना

'राज्य' और 'तन्त्र' शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या एवं अर्थ-विश्लेषण

'राजतन्त्र' शब्द 'राज' और 'तन्त्र' नामक दो शब्दों के योग से बना है। 'राज' का अर्थ है—प्रजा पालन की व्यवस्था, शासन, पूर्ण अधिकार, देश, जनपद, राजा, घर आदि बनाने वाला राजगीर।[1] 'तन्त्र' शब्द का अर्थ तन्तु, मन्त्र, सिद्धान्त, औषधि, अर्थ साधक प्रबन्ध, शपथ, धन, गृह, कुल, व्यवहार नियम आदि है।[2] इस प्रकार 'राज्यतन्त्र' युग्म शब्द है जो राज्य की शासन प्रणाली के अर्थ में रूढ़ हो गया है। बृहद् हिन्दी कोश में भी राज-राज्य का अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—राजा का समास में व्यवहृत रूप (यह अनेक शब्दों के साथ प्रयुक्त होकर बड़ाई, श्रेष्ठता आदि का अर्थ प्रकट करता है।)[3] राजतन्त्र के लिए अंग्रेजी में 'मोनार्की' (Monarchy) शब्द प्रयुक्त होता है। 'मोनार्की' का मूल शब्द 'मोनार्क' (Monarch) है, जिसका अर्थ शासन करना, राजा, रानी, बादशाह, मलिका, सम्राट, साम्राज्ञी, सर्वोच्च शासक, एकराट्, एकपतित्व, राजपतग आदि हैं।[4]

'मोनार्क' शब्द मूलतः ग्रीक भाषा के (monos) 'मोनास'—एक और (archeine) 'आर्कीन'—शासन करना, से मिलकर बना है। वैब्स्टर शब्दकोश के अनुसार इसके अर्थ हैं—

1. किसी राज्य का वंशानुगत शासक, राजा, रानी आदि
2. कोई व्यक्ति या वस्तु जो अपने समान अन्यों से उच्च हो
3. उत्तरी अमेरिका की एक बड़ी तितली।

इस प्रकार मोनार्की का अर्थ है—एक राज्य जिसका शासक मोनार्क हो।[5] चैम्बर्स शब्दकोश के अनुसार मोनार्की का अर्थ है—इस प्रकार की शासन व्यवस्था, जिसका एक शासक होता है; एक ऐसा राज्य जिसका शासक राजा हो; राजा की भूमि।[6]

एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना में मोनार्की को इस प्रकार विश्लेषित किया गया है—ग्रीक शब्द मोनार्किया एक व्यक्ति का शासन। ऐसी शासन प्रणाली जिसका प्रधान एक व्यक्ति हो। ग्रीक लोग एक व्यक्ति के न्यायोचित शासन को एक अत्याचारी या निर्दयी तानाशाह के शासन से इस रूप में पृथक मानते थे कि अत्याचारी तानाशाह शासितों के हितों के विपरीत अपने ही हित में शासन करता है। राजतन्त्र में सच्चे रूप में राजा में कानून बनाने, लागू करने तथा तदनुकूल न्याय करने की शक्तियाँ

निहित होती है। विकास के अगले चरण मे राजा ने सर्वोच्च विधायिका शक्ति अपने पास रखी लेकिन न्यायपालिका एव प्रशासनिक कार्य अधीनस्थ समितियो को सौंप दिये।[7]

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका मे मोनार्की की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—किसी एक ही व्यक्ति द्वारा अविभाज्य शासन व्यवस्था करना। अत मोनार्की शब्द उन राज्य व्यवस्थाओ के लिए व्यवहृत होता है जिनमे सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति-राजा (Monarch) मे निहित होती है जो अपने अधिकार से ही राज्य का सर्वोच्च मुखिया होता है। यह शब्द अब अपना मूल अर्थ खो चुका है। अब यदि इस शब्द का प्रयोग होता है तो उन राज्यों की शासन व्यवस्थाओं के लिए प्रयुक्त होता है जहाँ वशानुगत शासक होते हैं और वे निर्वाचित शासनाध्यक्षों से विपरीत होते हैं।[8]

17वी शताब्दी मे प्रसिद्ध फ्रांसीसी राजा लुई 14वें ने राजा के दैवी अधिकार की घोषणा करके राजतन्त्र शासन प्रणाली को सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप मे अभिव्यक्त किया। राजतन्त्र की अवधारणा ईसाइयत के माध्यम से पूर्वी देशो के धार्मिक तत्त्वों से प्राप्त हुई। मध्य युग मे साम्राज्य का यह अन्तर्निहित सिद्धान्त था और यूरोप मे तो पोप की सत्ता ने राजतन्त्र का रूप ग्रहण किया। 1688 की अंग्रेजी राज्य क्रान्ति से राजतन्त्र की नींव हिल गयी। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने तो राजतन्त्र को उखाड ही फेंका और यद्यपि यूरोप के कुछ देशो मे थोडे बहुत रूप मे आज भी यह राजनीतिक शक्ति के रूप म जीवित है तथापि राजतन्त्र अपने मूल अर्थ मे सर्वत्र धूमिल होता जा रहा है। अब राजतन्त्र के स्थान पर 'सीमित' अथवा 'वैधानिक राजतन्त्र' का प्रयोग होता है जो निरकुश या स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के विपरीत है। अब निर्वाचित और वशानुगत राजतन्त्र मे स्पष्ट भेद किया जाता है। रोम मे निर्वाचित राजतन्त्र की परपरा रही लेकिन यूरोपीय देशो मे सीमित राजतन्त्र की व्यवस्था ग्राह्य होती रही।[9]

राजतन्त्र 'मोनार्की' शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दो स मोनास एक और आर्कीएन-शासन करना से बना है। अत व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि स राजतन्त्र वह शासन प्रणाली है जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति अर्थात् राजा या सम्राट मे निहित होती है। राजा प्राय निरकुश शासक होता है और सवैधानिक दृष्टि से उसके अधिकार असीमित होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से राजतन्त्र शायद सबसे पुरानी शासन प्रणाली है। आरम्भिक युगों म वह ससार म प्राय सभी देशो म प्रचलित थी। भारत मे भी राजतन्त्रात्मक शासन की धारा बहुत प्राचीन है।[10]

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि राजतत्र शासन की अति प्राचीन प्रणाली है जिसमे सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति-राजा म निहित होती है। राजा का पद प्राचीन काल से ही पैतृक रहा है। किसी-किसी समय किन्ही देशो के राजा निर्वाचित भी होते रहे हैं किन्तु अधिकांशत राजतत्र पैतृक ही रहा है। पूर्ण अथवा निरकुश राजतत्र के निर्दयतापूर्ण शासन के कारण राजा के असीमित अधिकारों पर अकुश लगाया गया और धीरे-धीरे राजतत्र के मूल अर्थ मे परिवर्तन आया। अब दुनिया मे अधिकाश देशों में राजतत्र के स्थान पर निर्वाचित शासनाध्यक्षों की परम्परा प्रचलित है। जिन देशो में

राजतंत्र प्रणाली कायम है उनमे भी राजा के अधिकार बहुत सीमित हैं और वह मात्र राज्य के प्रभुत्व का प्रतीक रह गया है।

सामन्ती चेतना के साथ राजा एवं राज्य-व्यवस्था की भावना का क्रमिक विकास

प्राचीन काल मे राजतंत्रीय व्यवस्था का स्वरूप सर्वोपरि था। प्रत्येक राज्य अथवा साम्राज्य किसी सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राजा के द्वारा शासित होता था। सामाजिक संगठन के विविध रूप ज्यो-ज्यो सामने आते गये, जाति-प्रथा से लेकर वर्ग भेदो तक राज्य का भी क्रमिक विकास होता गया। वस्तुतः राजतंत्र का उदय सामाजिक अनिवार्यता के रूप मे हुआ था। विकास की किन्ही सीमाओं मे यह भी उल्लेख्य है कि पारिवारिक सगठन का मुखिया—माता, पिता या शक्तिशाली सरदार ही आगे चलकर पैतृक राजतंत्र का अधिकारी बन गया हो। बहरहाल, यह सर्वमान्य है कि राज्य व्यवस्था के विकास मे राजतंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

राजतंत्र के विकास के साथ सामन्ती चेतना भी जुडी हुई है। विश्व के इतिहास में व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाओ के अनेक करिश्मे उपलब्ध हैं। बड़े-बड़े राज्यो अथवा साम्राज्यो का उद्भव और विकास पैतृक सुविधा सम्पन्न राजाओ और सम्राटो की महत्त्वाकाक्षाओ का ही परिणाम है। राजनयन का कार्य अधिकाशतः सुविधा सम्पन्न, प्रबुद्ध किन्तु स्वार्थी व्यक्तियो के हाथो मे रहा है। अतः हजारो वर्षों से राजतंत्र की वैचारिक परम्परा ने आम लोगो को आक्रान्त रखा है। राजा और सामन्त यद्यपि दो भिन्न पद प्रभारी हैं, तथापि दोनो का राजतंत्र की संस्था को स्थायी बनाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

'सामन्त' सश्लिष्ट शब्द है संश्लिष्टः अन्त. (एक देशः) यस्य समन्तः। तस्य ईश्वरः। अण् अर्थात् अपने देश के पास रहने वाले देश का स्वामी, राजा। वह राजा जो बडे राजा को कर देता है।[11] व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ की दृष्टि मे 'सामन्त' शब्द का अर्थ हुआ—वह राजपुरुष जिसके आधिपत्य मे सीमावर्ती प्रदेश हो। अन्य कोशो मे भी 'सामन्त' का यही अर्थ दिया गया है।[12] कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेखो मे भी 'सामन्त' शब्द का प्रयोग 'स्वतन्त्र पडोसी' के अर्थ मे हुआ है।[13] श्री रामशरण शर्मा के शब्दो मे—"यह सामन्तवादी विचारधारा कि भूमि या भूखण्ड उसके उपयोग के लिए है जो उसका स्वामी अथवा शासक हो, हमारे सामने स्पष्ट रूप से गुप्तकाल मे आती है। यह विचार कि भूमि राज्याधिकारियो के उपयोग के लिए है, पहले-पहल अशोक के अभिलेखों मे मिलता है।"[14] डॉ० कमला गुप्ता ने भी 'सामन्त' शब्द का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"सामन्त राजा के अधीनस्थ ऐसा अधिकारी था जिसे अनुदान के रूप मे भूमि प्राप्त होती थी। उसके भी कुछ परम्परा निर्धारित प्रशासनिक अधिकार एव सामाजिक दायित्व थे जिनमे कृषि व्यवस्था एवं कर वसूली, राज्य रक्षण और स्वामि भक्ति प्रमुख थे।"[15]

सामन्तों की भी एक परम्परा रही है। विशाल साम्राज्यो के उत्थान-पतन के साथ

सामन्तों के भी अनेक भेद-प्रभेद किये गये। बाणभट्ट ने कादम्बरी में सामन्त, महासामन्त, आप्तसामन्त, प्रधानसामन्त, शत्रुमहासामन्त और प्रतिसामन्त भेदों का उल्लेख किया है।[16] सामन्तों के अन्य प्रभेद इस प्रकार भी मिलते हैं—भूपाल, भोक्ता, भोगी, भोगिक, भोगिजन, भोगपतिक, भोगिक रूप, महाभोगी, बृहद् भोगी, राजा, राज, राजराजनक, राजन्यक, राणक, राजपुत्र, राजवल्लभ, ठक्कुर, सामन्त, महासामन्त, महासामन्ताधिपति, महासामन्त-राणक, सामन्तक, राजा, माण्डलिक और महामण्डलेश्वर।[17] राजतन्त्रवादी व्यवस्था में सामन्त वे स्तम्भ होते थे जिन पर किसी राज्य या साम्राज्य का भार टिका होता था। ये सामन्त अपने क्षेत्र में राजा के समान ही प्रभुत्वशाली हुआ करते थे। अन्तर यही था कि वे अन्ततः राजा के अधीन होते थे। सामन्त अपने स्वामी, प्रभु या राजा के लिए आवश्यकता पड़ने पर सेना जुटाते थे, कृषि सम्बन्धी व्यवस्था करते थे और कर वसूली का कार्य भी उन्हीं के द्वारा सम्पादित होता था।

विल डूरैन्ट ने सामन्त के तीन प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है—(1) अपनी भूमि और उसके निवासियों की रक्षा करना, (2) कृषि, उद्योग, व्यापार आदि की व्यवस्था करना, (3) युद्ध के समय अपने प्रभु की सेवा करना।[18] राजा की शासन व्यवस्था में सामन्तों का विशिष्ट प्रभाव था। ये सामन्त कभी-कभी इतने शक्तिशाली हो जाते थे कि केन्द्रीय सत्ता को भी खतरा उत्पन्न हो जाता था। कभी-कभी विशाल साम्राज्यों का पतन किसी शक्तिशाली सामन्त के उदय के साथ हुआ और नये साम्राज्य की नींव पड़ी। डॉ० जी० एन० शर्मा ने राजाओं और सामन्तों के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ये सामन्त अपने प्रभु से जागीरें प्राप्त करते थे और उनके बदले में सैनिक और अन्य प्रकार की सेवाएँ देने के लिए प्रतिबद्ध होते थे। इन सामन्तों का राज्य के राजनीतिक, सैनिक और प्रशासनिक संगठनों पर विशेष प्रभाव रहता है।[19]

राजतन्त्रवादी चेतना और अन्य राज्य व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विवेचन

प्राचीन काल में राज्य और सरकार को एक ही माना जाता था। ज्यों ज्यों राजनीतिक चिन्तन का विकास होता गया राज्य अपने सार्वभौमिक स्वरूप के अनुसार पृथक अस्तित्व ग्रहण कर सका। सरकार राज्य का एक तत्व या अंग स्वरूप स्वीकार किया गया। राजशक्ति कितने लोगों में निहित होती है, इसको दृष्टिगत करके अरस्तू ने राज्यों के तीन भेद किये हैं—

(1) एकतंत्र (Monarchy), (2) कुलीनतंत्र (Aristocracy), (3) लोकतंत्र (Democracy)।[20]

कुछ राजशास्त्रियों ने राज्यों के भेदों में देवतंत्र (Theocracy) को भी एक भेद माना है। देवतंत्र में राज्य की प्रभुत्व शक्ति एक ऐसे व्यक्ति में निहित होती है जो साक्षात भगवान माना जाता है। ब्लट्शली के अनुसार प्राचीन इजिप्ट, परशिया और यहूदियों के राज्य में ऐसे देवतंत्र विद्यमान थे, जिनमें राजा को साक्षात देवता या भगवान माना जाता था। मध्यकाल के मुसलिम राज्य भी देवतंत्र थे, यद्यपि

उनके राजा साक्षात् भगवान न होकर पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते थे।[21] जर्मन विद्वान् वैंट्ज ने राज्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया है—(1) गण-राज्य, (2) देवतंत्र, (3) राजतंत्र, (4) एकात्मक राज्य, (5) संघात्मक राज्य, (6) सवर्ग राज्य (Federation State), (7) संगठन राज्य (Confederation State)।[22]

जर्मन विद्वान् फान मोहल, जेलीनेक आदि ने भी राज्यों में इसी प्रकार भेदोपभेद किये हैं किन्तु ब्लट्श्ली और बर्गेस ने अतत अरस्तू के वर्गीकरण को ही उचित माना है।

राजतन्त्र शासन प्रणाली

विश्व के इतिहास में राजतंत्र की शासन व्यवस्था सुदीर्घ काल से चली आ रही है। सैंट टामस एक्वीनस के अनुसार राजतंत्र शासन प्रणाली उत्तम है। उनका कथन है कि एकता और सुव्यवस्था जो प्रत्येक राजनीतिक समाज के लिए आवश्यक है केवल वहाँ सुरक्षित रह सकते हैं जहाँ सर्वोच्च सत्ता एक शासक के निहित हो। शासन में जितनी ही अधिक एकता होगी जनता में एकता स्थापित करने में उतनी ही अधिक सभावना होगी।[23] राजतंत्र शासन स्वयं ईश्वर की इच्छा पर आधारित है। 18वीं सदी में लोग इसे शासन का प्राचीनतम, विस्तृततम, सर्वोत्तम तथा स्वाभाविकतम स्वरूप समझते थे। अतीत में इसने सभ्यता तथा प्रगति की बडी सेवा की है। ह्यूम के शब्दों में—"राजतंत्रों में व्यवस्था, प्रणाली तथा स्थिरता की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति पायी जाती है। उनमें शक्ति, संगठन की सरलता, शीघ्रतापूर्वक काय करने की क्षमता, परामर्श की एकता, नीति की अभग स्थिरता तथा वैदेशिक संबंधों के निर्वाह में एक प्रकार की गुरुता होती है।[24]

राजतंत्र विभिन्न स्वार्थों का सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होता है और संघर्ष को रोकता है। रूसो का कथन है कि राजतंत्र सर्वाधिक ओजपूर्ण शासन प्रणाली है क्योंकि यही एकता की कसौटी पर सबसे खरी उतरती है। इस प्रणाली में जनता, राजा एवं राज्य की लोक-शक्ति और शासन की विशिष्ट शक्ति सभी एक प्रेरक शक्ति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, मशीन के सभी पुर्जे एक ही हाथ में होते हैं, समष्टि एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। इसमें परस्पर विरोधी और एक दूसरे को नष्ट करने वाली चालें नहीं होतीं। राजतंत्र में ही कम समय में अधिक कार्य सम्पन्न होना सम्भव होता है।[25]

एकतंत्र शासनों का यह गुण है कि उनमें सरकार का स्वरूप बहुत सरल होता है। सर्वसाधारण जनता यह चाहती है कि उसके सम्मुख यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो, कि उसका राजा कौन है, उन्हें किसकी आज्ञाओं का पालन करना है। यदि देश में शांति और व्यवस्था कायम रहे, वाह्य और आभ्यन्तर भय से जनता की रक्षा होती रहे, तो राज्य संस्था के सब प्रयोजन पूरे हो जाते हैं। जब एक राजा अपनी समझ के अनुसार राज्य का शासन करता है तो सरकार में व्यर्थ की जटिलता उत्पन्न नहीं होती। एकतंत्र

राज्यो मे राजा सब दलबन्दियो से ऊपर होता है। प्रजा की सब श्रेणियाँ उसके अधीन होती है। वह सब पर न्याय के साथ शासन करने में समर्थ होता है।[28] राजतंत्र शासन-प्रणाली अति प्राचीन होते हुए भी अपने स्वय के अन्तर्विरोधो एवं राजा की निरकुशता तथा स्वार्थपरता के कारण महत्वहीन होती गयी।

राजतन्त्र प्रणाली के दोष

निरकुश राजतंत्र साधारणतया विकृत, स्वेच्छाचारी शासन की ओर गतिशील होता है। इसमें शासक की शक्तियाँ असीमित होती हैं। यदि राजा स्वार्थी और विकृत दृष्टिकोण वाला हुआ तो वह जनता के हितो की उपेक्षा करता है और हमेशा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति मे लगा रहता है।[27] मानवीय आत्मसम्मान के दृष्टिकोण से देखा जाय तो अच्छा शासन स्वशासन ही होता है। राजतंत्र प्रणाली से आम जनता राजनीतिक जीवन के अनुभव से वचित रह जाती है। राजतंत्र के दोषो पर प्रकाश डालते हुए रूसो ने लिखा है—योग्यता, परिश्रम और सद्इच्छा परम्परागत नही होते और इतिहास साक्षी है कि लुई चतुर्दश के बदले में एक देश को पन्द्रहवें और सोलहवें लुई का दाम देना पड़ा। एक बुरे शासक के हाथ मे निरकुशवाद सरकार का निकृष्टतम रूप है क्योंकि विकीर्ण शक्ति की अपेक्षा सगठित शक्ति भलाई और बुराई दोनो के लिए अधिक प्रबल होती है और जो जबकि विवेकी और शक्तिशाली राज्य यह महसूस करेगा कि अपनी जनता को सशक्त और समृद्ध रखने मे उसका हित है क्योंकि उनकी शक्ति अपनी भी होने के कारण वह पड़ोसियों के लिए उसको भीषण बना सकता है।[28]

कुलीनतन्त्र या अभिजाततन्त्र (Aristocracy)

राजनीति कोश के अनुसार अग्रेजी शब्द 'अरिस्टोक्रेसी' यूनानी भाषा के दो शब्दो 'अरिस्टास' और 'क्रेटोस' से मिलकर बना है। 'अरिस्टास' का अर्थ है—श्रेष्ठ और क्रेटोस का अर्थ है—शक्ति अथवा शासन। अत व्युत्पत्ति की दृष्टि से अरिस्टोक्रेसी का अर्थ है—समाज के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियो का शासन। तथापि व्यवहार मे इसका अभिप्राय है ऐसी शासन व्यवस्था जिसमे राज्य सत्ता कुछ कुलीन अर्थात् जन्म के आधार पर कुछ व्यक्तियो के हाथों मे केन्द्रित हो।[29] वेब्स्टर 'शब्द कोश' में कुलीन तंत्र के विविध अर्थ दिये गये हैं—

1 मूलत सर्वश्रेष्ठ नागरिको का शासन।
2 कुछ सुविधा प्राप्त अल्पसख्यको या उच्च वर्ग के लोगो के द्वारा शासन जो धन सम्पत्ति और सामाजिक पद गौरव में उच्च होते हैं।
3 अभिजात वर्ग द्वारा शासित देश।
4 सुविधा सम्पन्न कुलीन शासक वर्ग।
5 वे लोग जो किसी आधार पर श्रेष्ठतम हों जैसे मनीषियो द्वारा शासन।
6 अभिजात वर्गीय गुण।[30]

गार्नर के अनुसार कुलीनतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमे सार्वजनिक

पदाधिकारियो के निर्वाचन तथा सार्वजनिक नीतियो के निर्धारण मे नागरिको की अपेक्षा थोडी सी जनसख्या का ही हाथ रहता है। कुछ चुने हुए व्यक्तियो के द्वारा सचालित शासन कुलीनतन्त्र है। कुलीनतन्त्र मे सख्या की अपेक्षा गुण तथा चरित्र को अधिक महत्त्व दिया जाता है। चूंकि साधारण जनता म शासन करने की क्षमता और योग्यता नही होती, योग्य एव प्रतिभावान और चुनीदा व्यक्ति ही इस कार्य को सुचारु रूप से करने मे सक्षम होत हैं। कुलीनतन्त्र शासन प्रणाली जनतन्त्रवादी आवेशो को सयमित तथा राजतन्त्र की निरकुश प्रवृत्तियो को नियत्रित रखता है। 'मिल' महोदय के मतानुसार इतिहास मे जो राज्य कार्य सम्पादन मे अटूट मानसिक योग्यता तथा शक्ति के लिए उल्लेखनीय हुए हैं वे साधारणतया कुलीनतन्त्र ही थे।[31]

कुलीनतन्त्र के दोष

कुलीनतन्त्र मे वर्ग शासन का भाव निहित रहता है और वर्ग शासन स्वभावत स्वार्थपूर्ण और उदण्ड होता है। कुलीन कहे जाने वाले कुछ सुविधा प्राप्त लोग स्वय अपने ही हितो की रक्षा के लिए शासन करते हैं। कुलीनतन्त्र मे निम्न वर्ग के लोगो के हितो का ध्यान नहीं रखा जाता। इस शासन प्रणाली मे दलबन्दी और सघर्ष होते रहते हैं। कभी कभी दलो अथवा वर्गों की पारस्परिक ईर्ष्या तथा कलह के कारण राज्यो मे सकट उत्पन्न हो जाता है। इस शासन प्रणाली मे अच्छे कानून नही बन पाते और भ्रष्टाचार फैलता है। यह रूढिवादी है और इसके अनुसार योग्यतम व्यक्तियो के चयन की कोई निश्चित प्रक्रिया नही है।[32]

लोकतन्त्र (Democracy)

लोकतन्त्र शासन प्रणाली आज के युग मे सर्वव्यापी और बहुचर्चित है। बल्कि यह कहना चाहिए कि आज का युग ही जनतात्रिक है। प्रत्येक देश मे किसी न किसी रूप मे जनतात्रिक शासन प्रणाली ही प्रचलित है। जनतन्त्र की सर्वप्रमुख और सर्वव्यापी परिभाषा 'अब्राहम लिकन' ने दी है। उनके अनुसार जनतन्त्र वह शासन है जिसमे जनता ही जनता के हित के लिए जनता पर शासन करती है।[33]

आधुनिक जनतन्त्र के प्रसिद्ध व्याख्याता लार्ड ब्राइस ने जनतन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जनतन्त्र शब्द का प्रयोग शासन के उस रूप के लिए किया जाता है जिसमे राज्य की शासन शक्ति किसी खास वर्ग या वर्गों मे निहित नही होती अपितु समुदाय के सभी सदस्यो मे निहित रहती है। उन्होने कहा है कि जनतन्त्र शासन व्यवस्था का वह रूप है जिसमे किसी देश के योग्य निवासियो के बहुमत की इच्छा से शासन होता हो।[34]

जनतन्त्र के गुण

1 लोकतन्त्र शासन व्यवस्था मे मनुष्यो के सामूहिक हितो की आपूर्ति सम्भव है।
2 लोकतन्त्र मे शासन जनता की इच्छा के अनुसार होता है और राजनयन के

कार्यों में किसी नागरिक की उपेक्षा नहीं की जाती। लोकमत अपने आप में एक शक्ति है जिससे राज्य का शासनतन्त्र संचालित होता है।

3 जनतंत्र में राज-शक्ति उन्हीं लोगों के हाथ में दी जाती है जिनको जनता चाहती है। जनतंत्र में ही जनता अपनी इच्छा को भली प्रकार व्यक्त कर सकती है।
4 लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक अपना हित करने के लिए राजनयन के कार्य में भाग लेता है और उत्तरदायित्व वहन करता है।
5 सार्वजनिक हित के लिए जनतन्त्र में ही प्रत्येक व्यक्ति दिलचस्पी लेता है इससे देश सजग और समृद्ध होता है।
6. इस शासन प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति नागरिकता की शिक्षा प्राप्त करता है। राजनीतिक चेतना का विकास होता है। वैचारिक स्वतंत्रता और अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की छूट के कारण स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है।[35]
7 जनतंत्र शासन प्रणाली में निरंकुश राजतंत्र और कुलीनतंत्र की तरह क्रान्ति, विद्रोह अथवा उथल-पुथल की कम सम्भावना रहती है।
8. लोकतंत्र में नागरिकों में परस्पर देश-प्रेम की भावना दृढ़ होती है।

यही एक ऐसी शासन पद्धति है जिसमें व्यवस्था और प्रगति एक साथ और आसानी से चल सकती है।[36]

जनतन्त्र के दोष

सब प्रकार की राज व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ होने हुए भी जनतन्त्र दोष मुक्त नहीं है। कुलीनतंत्र के पक्षपाती कहते हैं कि लोकतन्त्र का तात्पर्य उत्तरदायित्वहीन भीड़ का शासन है। अरस्तू लोकतन्त्र को भ्रष्ट या विकृत रूप मानते थे। चूंकि लोकतन्त्र में गुणों की अपेक्षा संख्या को अधिक महत्त्व दिया जाता है मत गिने जाते हैं, परखे नहीं जाते, इससे राजनयन का कार्य विवेकहीन, अशिक्षित और अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में चला जाता है। यह भीड़ का शासन है। अल्पमत के पास चाहे उच्चतर ज्ञान और विवेक हो, फिर भी उसे बहुमत के सामने झुकना पड़ता है। बार बार आम-चुनाव, अल्पावधि के लिए पदासीन होने आदि से उत्तरदायित्व की भावना नहीं पनपती। कुछ लोग इसे निकृष्ट कोटि का अल्पतंत्र मानते हैं और कुछ लोग इसे दुष्ट लोगों का कुलीनतंत्र मानते हैं।[37]

लार्ड ब्राइस ने लोकतन्त्र राज्यों के छ दोषों का उल्लेख किया है :--

1. लोकतन्त्र राज्यों में धन का प्रभुत्व बहुत अधिक है। धनी लोग धन के बल पर विधान सभाओं में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। न्यायपालिका तक धन के प्रभाव से मुक्त नहीं होती।
2 इसमें राजनीति कुछ लोगों का पेशा हो जाती है।
3. शासन बहुत अधिक खर्चीला हो जाता है।

4 समानता के सिद्धान्त का अत्यधिक दुरुपयोग होता है। दक्ष और निपुण लोग शासन में नहीं आ पाते।
5 राजनीतिक दलों व संगठनों की शक्ति अनुचित रूप से बढ़ जाती है। इससे देश का हित गौण हो जाता है।
6 विधान सभाओं के सदस्य मत प्राप्त करने के लिए सौदेबाजी करने लगते हैं। इससे सत्ता क्रमशः कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाती है।[33]

यदि हम अपने देश के लोकतन्त्रात्मक शासन का अवलोकन करें तो यह विदित होता है कि इस शासन में यद्यपि आम लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनय के कार्य में भागीदार होते हैं, उनको मत देने का अधिकार होता है, स्वतन्त्रता और समानता का उपभोग वे कर सकते हैं, व्यक्ति का सम्मान होता है तथापि; ये सभी गुण किताबी अधिक हैं। व्यवहार रूप से जनतन्त्र में राजनीति पेशा बन गयी है और धनी, कुचक्री, दुष्ट तथा निकृष्ट लोग ही राजशक्ति पर अधिकार कर लेते हैं। दलगत राजनीति से स्वार्थपरता इतनी बढ़ गयी है कि लोकहित के नाम पर चन्द व्यक्ति ही सत्ता के केन्द्र में पहुँचते हैं और स्वार्थ सिद्धि करते हैं।

राजतन्त्र: भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक चेतना के संदर्भ में

प्राचीन भारतीय चिन्तन

भारतीय परम्परा में राजनीतिक चेतना का विकास अतिप्राचीन काल से हुआ है। 500 ई० पू० के आसपास में राजनीति विज्ञान पर कुछ लिखित सामग्री मिलती है। वैदिक साहित्य तथा ब्राह्मण ग्रंथों में राजनीति विज्ञान पर बिखरे रूप में सामग्री उपलब्ध होती है। 'अथर्ववेद' में राजतन्त्र विषयक विवरण मिलता है। महाभारत में लिखा है कि जब समाज में अव्यवस्था आ गयी तो ब्रह्मा ने असली अवस्था (anarchy) को समाप्त करके व्यवस्था की। पश्चात् मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति, शुक्रनीति में भी व्यवस्था का वर्णन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख है। महाभारत का शान्ति पर्व राजनीति धर्म के लिए महत्त्वपूर्ण है।

महाभारत के विवरण से ज्ञात होता है कि पुराकाल में समाज में कोई राजा नहीं था, कोई न्याय व्यवस्था नहीं थी। समाज के सभी लोग प्रेमपूर्वक रहते थे। लेकिन धीरे धीरे इस सुव्यवस्था का पतन हो गया। लोगों की नैतिकता में गिरावट आ गयी। लालच, स्वार्थपरता और कामुकता ने उनके मन को आक्रान्त किया और उनकी सुखमय दुनिया नारकीय बन गयी। अब केवल जगत का नियम चलने लगा, शक्तिशाली कमजोरों को खत्म करने लगे। सामाजिक जीवन मत्स्य न्याय पर आधृत था। देवताओं के प्रमुख ब्रह्मा ने इस पर विचार किया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि मानव समाज तभी बच सकता है जबकि कुछ नियम बनाये जायें और उनका राजा के द्वारा पालन करवाया जाय। ब्रह्मा ने एक सुविचारित नियमावली का निर्माण किया। उन्होंने

विरजस नामक अपना पुत्र उत्पन्न किया तथा उसे राजा नियुक्त किया और लोग उसकी आज्ञा मानने को राजी हुए।[39]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि राज्य दैवी सस्था मानी जाती थी। चूंकि राजा को ब्रह्मा ने रचा था, उसे शासन करने का दैवी अधिकार था। बौद्ध लोग ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु दिग्घनिकाय' म राजतन्त्र से पूर्व की सामाजिक अवस्था का विवरण महाभारत के विवरण के समान ही है। बाबू वृन्दावनदास ने भारतीय राजतन्त्र की प्राचीनता के बारे म लिखा है— भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आज से हजारो वर्ष पहले उत्तर भारत म मनु और उनके वशजो ने भारतीय भूमि पर सर्वप्रथम राज्य सस्था स्थापित की। इनसे पहले यहाँ न कोई राजा था न शासन और न किसी प्रकार की व्यवस्था थी। पुराणो के अनुसार ■ मन्वन्तरो का सक्षिप्त इतिहास लिखा जा चुका है। स्वायम्भुवमनु स लेकर चाक्षुष तक छ मनुओ के बाद सातवें मनु हुए उनके पिता का नाम विवस्वान् था जो दक्ष प्रजापति और अदिति से उत्पन्न हुए थे।[40]

वैवस्वत मनु से महाभारत के युद्ध तक राजवशो की 95 पीढियो का उल्लेख पुराणो म हुआ है। मनु से लेकर अनेक पीढ़ियाँ राज्य कर चुकी थीं और भारत मे आर्यों का राज्य व्यवस्थित हो गया था।[41] आरण्यक और उपनिषदो मे अनेक राजवशो का विवरण प्राप्त होता है जिसमे इस देश के राजतन्त्र की ऐतिहासिक सामग्री का निर्माण हुआ है। सत्यकेतु विद्यालकार ने प्राचीन भारतीय राज्य एव साम्राज्यो के उदय का वणन करत हुए लिखा है—"आर्यों के प्रारम्भिक राज्यों को 'जानराज्य' कहत थ, क्योकि उनका आधार कोई एक जन होता था। धीरे धीरे कतिपय जानराज्यो' के राजा ऐसे प्रतापी और महत्त्वाकाक्षी होन लगे, जो अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अन्य जानराज्यो पर आक्रमण करने लगे। य सम्राट कहात थे। वैदिक काल म सम्राटो का यह प्रयत्न नहीं होता था कि वे अन्य राज्यों की स्वतन्त्र व पृथक सत्ता को पूर्णतया नष्ट कर उन्ह अपने अधीन कर लें। वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते थे कि अन्य राज्य उनका आधिपत्य स्वीकार कर लें।[42]

राज्य सस्था के प्रारम्भ मे शक्ति और अधिकार की आकाक्षा ने निस्सदेह बहुत बडा योग दिया है। इस आकांक्षा की पूर्ति क लिए सैनिक कार्यवाहियो ने सबसे अच्छा अवसर दिया। कम स कम कुछ अवसरो पर तो युद्ध ने ही राज्यो को जन्म दिया। प्रारम्भ के पारिवारिक सगठन का स्थान धीरे धीरे अधिकाधिक रूप मे युद्ध राजनीतिक सगठन ने ले लिया। सफल युद्धनायक राजा और सामन्त या दरबारी बन गये और समाज का विभाजन वर्गों म हो गया। शक्ति अधिकाधिक रूप मे कुछ चुने हुए वर्गों के हाथ म चली गयी जो अपने लिए विशेषाधिकारो का और असामान्य अधिकारो का दावा पेश करने लगे।[43]

राजतन्त्रीय व्यवस्था के उद्भव के बारे म वेद और ब्राह्मण ग्र थो की सामग्री का आकलन करते हुए 'रामजी उपाध्याय ने लिखा है कि भारतीय सस्कृति की चार प्रमुख प्रवृत्तियो के अर्जन एव प्रवर्तन हेतु समाज म समुचित वातावरण की व्यवस्था होनी

आवश्यक है। इस दिशा मे समाज का संघटन करने का उत्तरदायित्व सदा से राजा तथा उच्चकोटि के विचारकों का रहा है। विचारक और आचार्य समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिए योजनाएँ बनाते आये हैं और राजा उन योजनाओ को कार्य रूप मे परिणत कराने के लिए सूत्रधार रहा है। समाज संघटन की योजना के अन्तर्गत राजा और प्रजा का सम्बन्ध स्थापित होता है, वह राजनीतिक जीवन का प्रथम रूप है।[44] इस प्रकार राजतन्त्र की प्रतिष्ठा ऋग्वैदिक काल मे भलीभाँति हो चुकी थी। उस युग मे वरुण और इन्द्र सम्राट के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इनके अलावा मनु, इक्ष्वाकु, त्रिशंकु, नहुष, ययाति, इला, पुरूर्वा, दिवोदास, मान्धाता, सुदास आदि प्रसिद्ध राजा हुए हैं।

वैदिक काल मे राजा ऐश्वर्य वैभव सम्पन्न और प्रतिष्ठित हो चुका था। अनेक राजाओ की प्रशस्तियो मे उनके ऐश्वर्य वैभव का वर्णन अथर्ववेद मे राजा धनपति, जनता का स्वामी और योद्धाओ मे अग्रगण्य कहा गया है और प्रार्थना की गयी है कि उसे शक्ति, तेज और राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त हो। एक अनुष्ठान का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रत्येक राजा के लिए एक-एक गाय छोड़ता है। इसका यह भाव है कि राजा का प्रभुत्व हर वर्ण पर है। अस्तु, उसकी शक्ति उत्तरोत्तर व्यापक होती जा रही थी। उसके क्रोध का आतंक भी अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था।[45]

'वाल्मीकीय रामायण' मे महर्षि वसिष्ठ ने राजा के महत्त्व को दर्शाते हुए बताया है कि राजा सत्य है, धर्म है और कुलीनो मे भी कुलीन है। महान चरित्र बल से युक्त राजा यम, कुबेर, इन्द्र, वरुण आदि देवो से भी बड़ा है।[46] वाल्मीकीय रामायण राजा के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त की पोषक है।[47]

महाभारत काल मे राजनीतिक दृष्टि से सत्ता केन्द्रित थी। हस्तिनापुर के सम्राट का सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अधिकार था। अन्य राजागण भी अनेक प्रदेशो पर राज्य करते थे परन्तु माण्डलिक राजा लोक सार्वभौम सम्राट को कर देते तथा उसकी वश्यता स्वीकार करते थे। भारत-सम्राट का उपनिवेशो पर भी अधिकार था। बहुत से अन्य देशो के राजा भी सार्वभौम सम्राट को उस सहायता के उपलक्ष्य मे कर आदि देते थे जो उन्हे आपत्ति काल मे भारत सम्राट से लेनी पड़ती थी।[48]

ब्राह्मण काल मे धार्मिक विधि-विधानो और कर्मकाण्ड की वृद्धि से राजा मे देवत्व की भावना बलवती होती गयी। कुछ स्मृतियों और पुराणो मे राजा के देवत्व की कल्पना को स्वीकार किया गया है। मनु कहते हैं कि राजा नर रूप मे महान देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओ के दिग्पालो के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है। विष्णु पुराण और भागवत मे कहा गया है कि राजा के शरीर मे अनेक देवता निवास करते हैं। भागवत मे तो यह भी लिखा है कि सर्वप्रथम राजा वेण के शरीर मे विष्णु के शरीर से नाना लांछन भी विद्यमान थे। राजा को देवता मानने की परम्परा ही स्थापित हो गयी थी, परवर्ती काल मे बौद्ध लोग भी राजा को 'सम्मुति-देव' कहते थे। इस पदवी का संकेत यह है कि राजा का देवत्व जनता को सम्मत है।[49]

'मनुस्मृति' के अनुसार पृथ्वी पर मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी । उसमें उत्तरोत्तर झगड़ों की वृद्धि होने लगी । उन मनुष्यों को नियन्त्रित करने के लिए ईश्वर ने राजा के रूप में अपना प्रतिनिधि भेजा । उसी ने राज्य की स्थापना की ।[50] कुछ स्मृतिकारों ने राजा को ईश्वर का साक्षात् अवतार माना है किन्तु अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवता के कार्यों की समता का ही उल्लेख है । वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है । वैदिक काल में राजा का आदर्श ऋत और धर्म की रक्षा करने वाले धृतव्रत वरुण देव थे । राजा केवल लाक्षणिक रूप में देवतांशी था । मगर विधिनियम साक्षात् देवदत्त माने जाते थे । और यह अनिवार्य था कि राजा उनका पालन करे, राजा सर्वस्वेण धर्माधिष्ठित है । धर्म से बढ़कर कुछ दूसरी चीज नहीं है । अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्त्तव्य है ।[51]

वस्तुतः प्राचीन काल में राजा प्रजा का सेवक समझा जाता था और इसी हेतु उसे प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में प्राप्त होता था । नारद और अपराक का कथन है कि कर्तव्यपालनहेतु पारिश्रमिक प्राप्त करना अन्योन्याश्रित स्थिति है । राजा और प्रजा का सम्बन्ध इसी रूप में चित्रित चलता रहा। राजपद को चाकरी के रूप में भी स्वीकार किया जाता रहा है । राजा सार्वजनिक कल्याण के लिए निरन्तर कार्यरत रहता था । ऐसा विदित होता है कि राज शक्ति पर उस समय कोई वैधानिक रोक लगाने की व्यवस्था नहीं थी । कहीं-कहीं वेदों में उल्लेख है कि राजा समिति की सलाह से कार्य करे किन्तु समिति की शक्ति धीरे-धीरे कम होती गयी और 500 ई० पू० तक तो लुप्त ही हो गयी । अमात्यमण्डल राजा पर अंकुश तो रखता था किन्तु अमात्य का पद भी राजा की इच्छा पर निर्भर था ।[52] यद्यपि प्राचीन भारत में गणतन्त्रों का भी उल्लेख पाया जाता है पर व इतने शक्तिशाली कभी नहीं हो सके कि राजतन्त्रात्मक राजाओं से आगे बढ़ सकते । प्राचीन भारत के प्राय सभी राजनीतिक विचारकों (मनु, व्यास, कौटिल्य और शुक्र आदि) ने राजा के महत्त्व, नियुक्ति, कर्तव्य और अधिकारों का विशद् रूप से विवेचन किया है । राजा प्राय वंशगत ही होते हैं, भारतवर्ष में निर्वाचित राजाओं की प्रथा भी रही है तथा कभी भी राजा को निरंकुश अधिकारों से सम्पन्न नहीं माना गया क्योंकि राजा के लिए भी धर्म (Rule of law) का अनुकरण उतना ही आवश्यक माना गया है जितना प्रजा के लिए । धर्म के विरुद्ध आचरण करने पर राजाओं के पदच्युत किये जाने के उदाहरण भी प्राचीन भारत के इतिहास में मिलते हैं ।[53] इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में राजतन्त्रवादी चेतना का क्रमिक विकास 'राजा' के माध्यम से हुआ है ।

प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

राजतन्त्र के प्रसंग में पाश्चात्य चिन्तन का इतिहास ग्रीक से प्रारम्भ होता है । प्राचीन काल में ग्रीस में अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम हुए जिनमें प्रमुख थे—एथेन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ, थीब्स, सैमस, मिलेट्स आदि । ग्रीक राज्यों में शासन पद्धति के विविध

रूप उपलब्ध होते हैं। कुछ में वंश क्रमानुगत राजा राज्य करते थे, कुछ में कुलीनतंत्र व्यवस्था थी और कुछ में साधारण जनता का राजा था। इन राज्यों में भी शासन पद्धति सदा एक सी नहीं रही, कभी राजतंत्र तो कभी लोकतंत्र स्थापित होते रहे; किन्तु इन सब में राजतंत्र की परम्परा प्रभावशाली रही। प्लेटो और अरस्तू ने अपने समय के विविध राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया और राज्यों संस्था के स्वरूप का भी निरूपण किया।[54]

यूनान में कई प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ विकसित हुईं। स्पार्टा में राजतंत्र की व्यवस्था रूढ़ होकर रह गयी किन्तु दूसरे नगर राज्यों में राजनीतिक विकास का क्रम राजतंत्र से कुलीनतंत्र, कुलीनतंत्र से निरंकुश पीड़न और तब प्रजातंत्र का विकास हुआ। राजतन्त्र का यह विकास चक्रवत् होता है। ऐसी अरस्तू की धारणा थी। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में लिखा है कि यूनानी नगर राज्यों में जब तक दार्शनिक राजा नहीं होंगे, तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा। उन्होंने दार्शनिक राजाओं के शासन को अधिक महत्त्व दिया है। प्लेटो का दार्शनिक शासक राज्य के हितों के साथ अपने हितों का पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार उसने दार्शनिक शासक (राजा) को असीमित शक्ति देकर निरंकुश राजतंत्र का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।[55]

प्लेटो के पश्चात् अरस्तू प्रथम पश्चिमी विचारक है जिसने राज्य के समग्र स्वरूप को सुविचारित रूप में प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम अरस्तू ने ही यह घोषित किया कि व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है। उन्हीं के विचार को अपनाकर आगे के राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं ने राजा पर वैधानिक अंकुश स्वीकार किया। अरस्तू ने हर्मीज के दरबार में रहकर राजतन्त्र का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया था। अरस्तू को सिकन्दर के गुरु होने का गौरव भी प्राप्त हुआ। मकदूनिया में रहकर ही उसे राजतंत्र तथा आततायी तंत्र के बारे में जो अनुभव हुए, राजतन्त्र के विकास की प्रक्रिया इन्हीं अनुभवों का परिणाम रही होगी। प्लेटो और अरस्तू दोनों ही प्रजातन्त्र को श्रेष्ठ व्यवस्था नहीं मानते थे।

अरस्तू के जीवनकाल में ही यूनान के नगर राज्य छिन्न भिन्न होने लगे और बड़े साम्राज्य की स्थापना हुई। मैसीडोनिया के जगतप्रसिद्ध सिकन्दर महान ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया और रोमन साम्राज्य का उदय क्रमशः हुआ। 753 ई० पू० रोम की स्थापना से लेकर 510 ई० पू० तक रोम में राजतंत्रीय शासन प्रणाली रही। राजा ही न्यायाधीशन, अधिशासक तथा धर्माध्यक्ष होता था। 510 ई० पू० के पश्चात् रोम में यद्यपि राजनीतिक शक्ति के लिए कुलीन वर्ग और सामान्य वर्ग के लोगों में संघर्ष चलता रहा तथापि 500 ई० तक रोम एक विशाल साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। रोमन साम्राज्य में सम्राट सर्वेसर्वा होता था और केन्द्रीय शक्ति निरंकुश व्यक्ति के हाथ में आ गयी थी। कहा जाता है कि रोम ने जनतन्त्रवादहीन एकता को स्थापित किया था।

अरस्तू के पश्चात् टामस एक्विनास ने राज्यों के बारे में और उनके शासनों

की व्यवस्था के सम्बन्ध में अरस्तू का विभाजन स्वीकार किया। एक्विनास ने राजतंत्र को ही श्रेष्ठ शासन व्यवस्था स्वीकार किया है। उनके अनुसार राजतंत्र ईश्वरीय योजना है। जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा और नियन्ता एक ईश्वर है, शरीर के विविध अंगो पर एक आत्मा का शासन है उसी प्रकार सभी प्राकृतिक शासनों में एक व्यक्ति (राजा) का शासन ही श्रेष्ठ शासन है। एक्विनास वंशानुगत राजतन्त्र के स्थान पर निर्वाचित राजतन्त्र के पक्ष में थे।[56]

टामस एक्विनास के पश्चात् निकोलो मैकियावली राजनीति दर्शन के प्रमुख चिन्तक माने जाते हैं। डायल ने लिखा है कि मैकियावली प्रथम विचारक थे जिन्होंने राष्ट्रीय राज्य के लक्षणों का विश्लेषण किया और उन्होंने राजनीतिक सावयव के सिद्धान्त को जन्म दिया।[57] मैकियावली 'पुनर्जागरण के शिशु' के रूप में मान्य है और पुनर्जागरण से आधुनिकता का प्रारम्भ होता है, अतः मैकियावली आधुनिक युग के जनक माने जाते हैं। उसके समय में राजनीतिक दृष्टि से मध्य युग की तीन विशेषताएँ मान्य हुईं—(1) सामन्तवाद, (2) पोपतन्त्र और (3) पवित्र रोमन साम्राज्य। अपने समय के राष्ट्रीय राज्यों—जर्मनी, स्पेन, फ्रांस को वह सम्मान की दृष्टि से देखता था और अपने देश इटली को भी ऐसा ही विकसित राष्ट्रीय राज्य बनाना चाहता था। मैकियावली निरंकुश राजतन्त्र का प्रमुख समर्थक था। उसने अपनी पुस्तक 'द प्रिंस' में अपने विचारों को स्पष्ट किया है कि मध्य युग में सामन्ती व्यवस्था से राजनीति विशृंखलित और दूषित हो गयी थी। इसके परिणामस्वरूप ही यूरोप के अधिकांश देशों में निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना हुई और सुदृढ़ एवं संगठित राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुए। निरंकुश राजा की शक्तियाँ रक्त और लोह पर आधारित थीं अतः प्रायः सभी सत्ताओं, चर्च, पोप, जागीरदारों, परामर्शदाती परिषदों, सांसदों आदि की शक्तियाँ लुप्त हो गयी या राजा के अधीन हो गयी। चर्च भी राजतन्त्र का शिकार हो गया और उसकी वैधानिक सत्ता समाप्त हो गयी।

हाब्स (Hobbes) राजतंत्र के पक्षपाती समर्थ विचारक थे। उन्होंने निरंकुश एवं उत्तरदायित्वहीन प्रभुत्व के सिद्धान्त द्वारा आधुनिक राजतंत्र को प्रतिस्थापित किया। उनके अनुसार प्राकृतिक मानव अपनी आदिम अवस्था में झगड़ालू था। उस समय सामाजिक सुख-शान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए सभी मनुष्यों ने समझौते द्वारा बिना किसी शर्त के अपनी सारी शक्तियाँ एक शासक (राजा) को सौंप दी। यह शासन किसी कानून से बँधा नहीं था। उसकी इच्छा ही कानून थी। ईश्वर, प्रकृति तथा राष्ट्र के नियम केवल मनुष्यों पर उनके शासक (Sovereign) की इच्छा से लागू होते। स्वयं शासक किन्हीं नियमों के आधीन नहीं होता क्योंकि सीमित अथवा मर्यादित प्रभुत्व की धारणा तर्क की दृष्टि से सम्भव नहीं है।[58] हाब्स ने मनुष्य के प्राकृतिक एवं कृत्रिम दो व्यक्तित्व स्वीकार किये। आज भी अनेक देशों में निरंकुश राजतन्त्र शासन प्रणाली प्रचलित है। उसके पीछे हाब्स की प्रेरणा एवं उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त क्रियाशील हैं। हाँ, राजतंत्र शासन प्रणाली में राजा की निरकुशता पर युगानुरूप संवैधानिक प्रतिबन्ध लग गये हैं।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि पश्चिम मे भी राजतंत्र की परम्परा काफी दीर्घ और अटूट रही है। प्लेटो ने अपने रिपब्लिक मे दार्शनिक राजाओ का आदर्श सामने रखा। अरस्तू भी राजतंत्र का समर्थक था। रोम भी राजतंत्रवादी था और वहाँ भी राजाओ का निर्वाचन हुआ करता था। कहने के लिए तो उनकी नियुक्ति दस वर्ष के लिए ही होती थी, पर व्यवहार मे आजीवन अपने पद पर बने रहते थे। रोम साम्राज्य के पतन के बाद यूरोप के विभिन्न देशो मे निरकुश राजतंत्रो की स्थापना हो गयी और राजाओ को राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक समझा जाने लगा। इग्लैंड की 1688 की गौरव-पूर्ण क्रान्ति के बाद राजाओ की निरकुश शक्ति का ह्रास होने लगा और उसकी जगह मर्यादित या सवैधानिक राजतंत्र का धीरे धीरे उदय हुआ। फ्रास की क्रांति ने तो राजाओं की निरकुशता पर ऐसा प्राणघातक प्रहार किया कि निरकुश राजतंत्र का ससार से प्राय लोप ही हो गया।[59]

भारतीय सामाजिक जीवन मे राजतन्त्रवादी चेतना के विकास की परम्परा

भारतीय राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ वैदिक वाड्मय से ज्ञात होता है। वेदो म देवासुर सग्राम, वरुण, इन्द्र आदि की राजा बनने के लिए प्रतिस्पर्द्धा आदि का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद मे विशो द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[60] शतपथ ब्राह्मण मे एक उल्लेख है कि जिसे अन्य राजागण स्वीकार करें वही राजा होता है दूसरा नही।[61] उस समय राजा उच्चवर्गीय कुलपतियो और विशपतियों के समर्थन पर ही निर्भर था। धीरे-धीरे निर्वाचन की प्रथा अव्यवहृत हो चुकी थी। ऋग्वेद मे अधिकाश राजपद आनुवांशिक रहे हैं। तृत्सुओ मे चार पीढी स और पुरुओ मे और भी अधिक समय से पुत्र ही पिता की राजगद्दी पर बैठते चले आ रहे थे।[62] सामान्यत. राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शान्तनु को और ययाति ने पुरु को अपना अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया तो उस समय प्रजा ने इसका प्रतिवाद भी किया था किन्तु राजा के उत्तर से प्रजा सन्तुष्ट भी हो गयी थी।

रामायण म दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम का ही राज्याभिषेक हुआ था। 'रामायण' और 'महाभारत' म अनेक राजाओ की वशावलियो से ज्ञात होता है कि राजपद आनुवांशिक ही होता था। ब्राह्मण काल मे ऋषिगण वनों मे रहकर अध्यात्म चिन्तन करते थे और राजागण उनके रक्षण, भोजन आदि की व्यवस्था सँभालते थे। रामायण काल में इस देश मे बहुत से राजवश हुए। चन्द्रवशी और सूर्यवशी राजाओं की परम्परा से भारतीय समाज पूर्णतया परिचित है।

महाभारत में राजतंत्र के बारे में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। शांतिपर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों म राजा के कर्त्तव्यों और शासन व्यवस्था के अनेक अगों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। 'महाभारत' मे राजधर्म पर जो भी विवेचन प्राप्त होता है उसमे तत्कालीन राजतंत्र के पुष्ट एव समृद्ध स्वरूप का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है। शांतिपर्व मे राजधर्म के अध्याय के अतिरिक्त भी महाभारत के कुछ अध्यायों में राजतंत्र

पर विचार किया गया है। सभापर्व में पाँचवें अध्याय में आदर्श राज्य व्यवस्था का सरस और सुन्दर वर्णन है। आदिपर्व के 142वें अध्याय में विशेष परिस्थितियों में राज्य कार्य-भार में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है। सभापर्व के 32वें और वनपर्व के 25वें अध्याय में आपद्धर्म का बड़ा मनोरजक विवेचन है।[63] महाभारतकार राजा के अधिकारों पर प्रतिबंध लगाता है और यह प्रतिबंध वैधानिक प्रतिबंध है। उसके मतानुसार राजा को राज सत्ता इन प्रतिबंधों के साथ प्रजा द्वारा केवल उस समय के लिए दी जाती है जब तक कि वह उसका उचित प्रयोग करता रहता है और यदि वह इसका अनुचित प्रयोग करता है तो वह राज सत्ता बलात् छीन ली जाएगी।[64] स्मृतियों और पुराणो मे भी राजा को बहुत महत्त्व दिया गया है। विष्णु पुराण और भागवत मे उल्लेख है कि राजा के शरीर मे अनेक देवता निवास करते हैं। बौद्ध युग में राजा को 'साम्मुतिदेव' कहा गया है। इस पदवी का सकेत यही है कि राजा के देवत्व का पद जाता को मान्य है। अत प्राचीन भारत म राजपद को देवी बताया गया है न कि किसी राज-व्यक्ति को।

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन मे आदर्श राजा का बड़ा सम्मानप्रद था। धार्मिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के भय राजा को न्यायपूर्ण शासन करने के लिए प्रेरित करते थे। "सभी शास्त्रकारों ने एकमत स कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपव्यय करने वाला राजा घोर पापी होता है और निश्चय नरक का भागी होना है। नरक का भय कैसा भयानक होता था इसकी कल्पना आधुनिक काल मे करना कठिन है।"[65] प्रजा राजा के पद को दिव्य मानती थी और विधिनियम और रूढ़ियों को भी दिव्य रूप माना जाता था। राज्याभिषेक के समय राजा को कर्मकाडीय विधि-विधानो का पालन करना पड़ता था और शास्त्रोक्त विधि विधानो के अनुसार शासन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी।

मौर्य काल मे छोटे-छोटे राज्यो के स्थान पर भारत म विशाल साम्राज्य स्थापित हुए और सम्राट अपने अधीन राजाओ पर नियत्रण करने लगा। जातीय एकता के स्थान पर एक राज्य मे अनक जातियाँ रहने लगी और देश को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बौद्ध धर्म के आविर्भाव और प्रचार से भी साम्राज्य की सीमा मे विस्तार हुआ। श्री भगवानदास केला के शब्दो म—"बौद्ध धर्म की शक्तियाँ उसे अधिक से अधिक क्षेत्र मे फैलाने के लिए कटिबद्ध थीं। यह धर्म किसी भी सीमा मे परिमित रहना नहीं चाहता था। यह धर्म अपना 'चक्रवर्तित्व' स्थापित करने के प्रयत्न मे सफल भी हो रहा था। भारतवर्ष में तो यह राजधर्म हो ही गया था।"[66] बौद्ध युग के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार, प्रद्योत, अजातशत्रु, उदयन, प्रसेनजित आदि रहे। नन्द वश के सम्राट महापद्मनद का वध करके मौर्य वश के सम्राट चन्द्रगुप्त ने भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित किया। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्रशसनीय कार्य किया। मौर्य वश के अधिकाश राजा आर्येतर जाति के थे और उन्हें वेदो मे विश्वास नहीं था। मौर्य साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् पुन भारतवर्ष मे आर्य धर्मानुसार सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य राजा हुए। विक्रमादित्य ने अपने समय के आक्रामक शको का उन्मूलन कर सम्वत् की स्थापित की थी। "राम और कृष्ण के बाद भारतीय जनमानस

में यदि कोई सबसे अधिक प्रचलित और विख्यात नाम है तो वह विक्रमादित्य है। जिस प्रकार राम और कृष्ण जनमानस में रमे हुए हैं उसी प्रकार अपने गुणों के कारण विक्रमादित्य भी।' विक्रमादित्य के समय के भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति का चित्रण हमें कालिदास की रचनाओं से ज्ञात होता है। गुप्त काल तो अपनी सुख-समृद्धि और कला एवं ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से विख्यात है। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त गुप्त वंश के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय सम्राट रहे हैं। महाराजा हर्षवर्धन, पृथ्वीराज चौहान और छत्रपति शिवाजी ने भारत में राजतन्त्र की परम्परा को गौरव प्रदान किया है। मुगलों, पठानों और अंग्रेजों ने यद्यपि इस देश पर विजय पायी किन्तु राजतंत्र को ही कायम रखा। सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही राजतन्त्र का उन्मूलन हुआ। निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक जीवन में राजतन्त्र की गौरवपूर्ण परम्परा रही है। राजपद महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायी माना जाता था। मनु जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति भी इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में हिचकिचाते थे। राजपद विधि से ऊपर नहीं था। राजा प्रजा का सेवक और निष्पक्ष न्यायकर्ता होता था।

राजतन्त्रवादी चेतना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

समीक्ष्य हिन्दी महाकाव्यों में राजतन्त्रवादी चेतना की संवाहक निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—

1 राजा की दैवीय अवधारणा।
2 राजपद की आनुवंशिकता।
3 राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण।
4 राजाज्ञा की सर्वोपरिता।
5 राजतंत्रीय व्यवस्था के मानदण्ड—
  (क) राजा-रानी के अधिकार कर्तव्य।
  (ख) आदर्श राजा के गुण।
  (ग) राजा और राजपुत्र।
  (घ) राजतन्त्र में मंत्रि-परिषद का महत्त्व।
6 राजतन्त्रीय व्यवस्था में सैन्य संगठन एवं युद्ध संचालन।
7. राजतन्त्र में न्याय व्यवस्था।
8 राजा-प्रजा संबंधों का आदर्श।
9 राजतन्त्र के प्रति जन अवधारणा।
10 राजतन्त्र की उपलब्धियाँ—
  (क) साहित्य, संगीत आदि कलाओं को प्रश्रय।
  (ख) सामाजिक उत्सवों का आयोजन।

1. राजा की दैवीय अवधारणा

राजतन्त्रीय शासन पद्धति में राजा को ईश्वर के अंश के रूप में माना जाता रहा है। प्रत्येक राजा, प्रजा एवं राज्य पर स्वयं को ईश्वरीय अधिकारों से युक्त मानता है। मानव विकास-क्रम के इतिहास में राजतन्त्र की संस्था का विकास अथवा किसी सामाजिक समझौते द्वारा राजा को राजपद सौंपा गया; यह प्रश्न विवादास्पद है, किन्तु बड़े-बड़े राजाओं सम्राटों आदि के स्वयं को दैवीय अधिकारों से युक्त मानकर शासन किया है। "निषादराज' महाकाव्य में गुह निषाद जाति के राजा होते हुए भी श्री रामचन्द्रजी को ईश्वर ही मानते हैं—

"दिया मान जो तुमने मुझ को
नर पुंगव। जगती के ईश्वर।
भूल नहीं मैं वह पाऊँगा।
जीवन भर भी हे जीवनधर।"[68]

रामायणकालीन भारत में आर्यों और अनार्यों का संघर्ष चल रहा था। आर्य राष्ट्र पर अनार्यों के संकट के बादल मँडरा रहे थे। दूरदर्शी रानी कैकेयी ने आर्य राष्ट्र को शत्रु मुक्त करने तथा स्वार्थ सिद्धि के लिए राम को चौदह वर्ष का वनवास दिलाया था। कैकेयी को राम के चरित्र में दैवीय शक्ति की अनुभूति हुई थी। यथा—

"राम बल सम्पन्न, तेजस्वी मनस्वी,
साहसी, दृढ़, शूर, शर-चालन-कुशल ही तो न केवल
निहित उसमें
एक दैवी-शक्ति भी तो संगठन की।'[69]

कैकेयी की मान्यता थी कि राम दैवी शक्ति के अवतार हैं। यदि राम चौदह वर्ष वन में रहते हैं तो वे अनार्य शत्रुओं को नष्ट कर आर्य राष्ट्र में सुख समृद्धि बढ़ायेंगे—

"युग-पुरुष का जन्म होता—
क्वचित, युग-युग की तपस्या से,
धरा का भार हरने
स्थापना सद्धर्म की कर
स्वर्ग इस भू लोक को ही बनाने।।"[70]

'रामराज्य' महाकाव्य में डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने राम को सगुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है—

"धनुष बाण आजानु भुजाओं पर थे सोहे
चरण प्रभा लख विपुल महीशों के मन मोहे।
क्रिया ज्ञान के साथ, भक्ति की रुचिर घटा थी
राम रूप में सगुण ब्रह्म की पूर्ण छटा थी।"[71]

भरत अपने मामा के यहाँ गये हुए थे। उनके मामा ने उन्हें बतलाया कि वे देश के भावी राजा हैं और राजा में दैवीय शक्ति का अंश होता है। अतः उन्हें दैवीय शक्ति

से युक्त राजा के समान आचरण करना चाहिए—

"तुम राजवंश के नरवर,
तुम राजमुकुट-अधिकारी।
तुम अपना रूप सँभालो,
हो सिद्ध शक्ति-अवतारी॥"[72]

'सीता-समाधि' महाकाव्य में राजा जनक को अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न माना गया है—

"शक्ति अलौकिक अपनाकर भी, नृप रखते नहिं जग आतंकित।
विकट शत्रु से घिरने पर भी, बल प्रयोग नहिं करते अनुचित॥"[73]

राम के बारे में भरत की अवधारणा थी कि राजा राम इस पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार हैं—

"जिन्हें था जन्म-सिद्ध अधिकार,
प्रजा का जिन पर अनुपम प्यार।
सभी विधि जो समर्थ गुण-धाम,
मनुज के रूप महेश ललाम॥"[74]

पटना के नवाब की सवारी नगर में जब निकलती थी तब सभी नागरिक झुक-झुककर अभिवादन करते थे। नवाब को अल्लाह का ही रूप समझा जाता था, यह उद्‌भावना 'गुरु गोविन्दसिंह' महाकाव्य में दृष्टव्य है—

"आगे आगे राज सिपाही,
थे पथ भीड़ हटाते।
आते हैं नवाब झुक जाओ,
जन जन को बतलाते॥
अल्ला हो अकबर की जय में
सब थे झुकते जाते
सुखी रहे परवर दिगार,
भय से थे सभी मनाते॥"[75]

राजतन्त्र में राजा सर्वाधिकारवादी शासक होता है। वह न्यायी भी है और प्रजापालक भी है। उसे ईश्वर का स्वरूप माना जाता है। 'जानकी-जीवन' महाकाव्य के कवि राजाराम शुक्ल ने सम्राट को ईश्वर का प्रति रूप माना है—

"न्यायी पोषक पुण्य-पुंज सम्राट में,
माना व्यापक विष्णु जिष्णु का अंश है।
वे संहारक भी शिवांश सम्भूत हैं,
लोकोत्पादक में विरंचि की शक्तियाँ।"[76]

दिल्ली नगरी के इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए कवि श्यामनारायण प्रसाद ने 'गुरु गोविन्दसिंह' महाकाव्य में मुगल सम्राट औरंगजेब के अत्याचारों का

भावपूर्ण शब्दांकन किया है। अत्याचारी राजा को उसके वास्तविक कर्त्तव्य का बोध कराते हुए कवि कहता है—

> "बूझता नहीं है तू राजा का धरम क्या है,
> राजा भी तो अचला का एक भगवान है।
> उसके इशारे पर नाचती है सारी प्रजा
> सबकी ही मति से बना वह मतिमान है॥"[77]

इसी प्रकार अन्यान्य स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में भी राजा की महत्ता को निर्दर्शित किया गया है। वस्तुतः पौराणिक ऐतिहासिक कथ्य संदर्भों वाले इन महाकाव्यों में 'राजा' की शक्तिमत्ता को स्वीकारते हुए भी उसे जनप्रिय एवं जनचेतना अनुवर्ती रूप में प्रतिष्ठित करते हुए महाकाव्यकारों ने युगीन राजनीतिक चेतना के आयामों को भी उद्घाटित किया।

2 राजपद की आनुवंशिकता

राजतन्त्र में अधिकांशतः राजपद को आनुवंशिक माना गया है। राजा की मृत्यु के पश्चात् आनुवंशिकता के आधार पर राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राजपद का अधिकारी होता है। पाण्डवों की दुर्दशा पर आँसू बहाती द्रोपदी राजरानी बनने की कामना करती है। कौरवों की राज सभा में अपमानित होकर द्रोपदी को अपने पाँचों वीर पतियों की असमर्थता अथवा कायरता पर रोष आता है। वह पाण्डु पुत्रों में ज्येष्ठ महाराज युधिष्ठर के ही कुरराज के रूप में प्रतिष्ठित होने की कामना करती है—

> "सत्य कभी होगा जो कि स्वप्न अब तक है,
> धारण करेंगे कुरराज कुरुवंश का
> उज्ज्वल किरीट कभी और यह दासी भी,
> राजपुत्री है जो, राजरानी कभी होवेगी?"[78]

राजा दशरथ ने राम को ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण युवराज बनाना चाहा। किन्तु महारानी कैकेयी ने अपने पुत्र भरत को युवराज बनाने का संकल्प किया। 'उर्मिला' प्रबन्ध काव्य के कवि ने राजपद की आनुवंशिकता को तो स्वीकार किया है, किन्तु युगीन प्रभाव के कारण उसे कुपरिपाटी कहा है—

> "यह है एक कुपरिपाटी, प्रिय
> यह संपूर्ण स्वधर्म नहीं,
> सोचो तो, इस धर्म कर्म में
> हो जावे न अधर्म कहीं,
> माँ कैकेयी धर्म कर्म का
> लोभ-चर्म हैं खीच रही,
> अपने स्वार्थ-बीज को वे हैं
> इसी बहाने सींच रही।"[79]

राजतन्त्रीय व्यवस्था में परम्परागत होने के कारण महाभारत काल में अन्धे

धृतराष्ट्र को कुरुनरेश बनने का गौरव प्राप्त हुआ था। उन्होंने पाण्डवों में ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को भावी नृप नियुक्त किया। इससे धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन अप्रसन्न भी हुआ किन्तु धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को कहकर संतुष्ट किया कि इससे राष्ट्र में शांति और व्यवस्था रहेगी—

"जन्म सिद्ध अधिकार हमारा सब विध है अविभाज्य।
राज धर्मरत हम भोगेंगे निष्कंटक सौराज्य॥
सुन स्नेही धृतराष्ट्र भूप के सुनकर उसकी उक्ति
भ्रान्ति निवारक यह वाणी तब उसने कही समुक्ति॥'[80]

धर्मराज युधिष्ठिर को युवराज पद दिये जाने पर दुर्योधन ने विरोध किया। दुर्योधन धृतराष्ट्र के ज्येष्ठ पुत्र थे। अतः परम्परागत पैतृक अधिकार के आधार पर कुरुनरेश धृतराष्ट्र से आग्रह किया कि मुझे ही (दुर्योधन को) युवराज बनाया जाये—

"राज सभा में सभी उसी का करते हैं सम्मान।
और हमारा प्रकट रूप से होता है अपमान॥
आप कहें युवराज उसे या कहे सकल संसार।
उसके हित हम त्याग न देंगे निज पैतृक अधिकार॥'[81]

नंद वंश में राजपद ज्येष्ठ पुत्र को ही दिया जाता था। महापद्म नन्द की मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी बना। यथा—

"सिंहासन के सदा ज्येष्ठ ही पाते आते,
था अधिकारी श्रेष्ठ सुमाल्य ज्येष्ठ के नाते
राज सुतों अधिक मनोज्ञ, महत्वाकांक्षी—
था सुमाल्य ही सबल, समादृत सत्ताकांक्षी।'[82]

रघुकुल में राजतंत्र की परम्परा आनुवंशिक ही थी। रामायणकालीन भारत के सूर्यवंशी राजाओं में यही परम्परा प्रचलित रही—

"रघुकुल में चलती आती थी, सत्य निष्ठ अति आर्यवर्त में।
परम्परा भूपों की उत्तम, गिरते नाहि जो स्वार्थ गर्त में।'[83]

राजा दशरथ ने आनुवंशिकता के अनुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया। किन्तु रानी कैकेयी ने दो वरदान माँगकर राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजपद दिलाया। भरत ने राजपद के आनुवंशिक होने की प्रथा का समर्थन करते हुए राम को ही राजा माना। उन्हीं के शब्दों में—

"अधिकारी हैं राम राज्य के
मैं क्यों इसे चलाऊँ
सोच रहे हैं भरत, सत्य में
कैसे आग लगा दूँ।'[84]

राजा दशरथ के आदेशानुसार सुमंत्र राम-लक्ष्मण-सीता को वन में छोड़ने गये। सुमंत्र राम को पुनः लौट चलने का आग्रह करते हैं कि वे (राम) परम्परागत राजपद के अधिकार को न छोड़ें। यथा—

"लौट चलो श्रीराम ! अवध का स्नेह न तोडो ।
निज उत्तराधिकार, न सहसा यो तुम छोडो ।।"[83]

इस प्रकार अनेक स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्ध काव्यो मे राजपद की आनुवंशिकता का प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से समर्थन किया गया है, किन्तु बालकृष्ण नवीन प्रभृति रचनाकारों ने इसका आधार योग्यता को ही माना है।

3 राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण

राजतत्र मे राजनीतिक सत्ता राजा मे केन्द्रित रहती है। नियम बनाने और न्याय करने का अधिकार राजा मे ही निहित रहता है। राजसत्ता को केन्द्रित करने के लिए समय-समय पर राजा विजय प्रयाण करते रहे हैं। चक्रवर्ती सम्राट बनने की कामना सत्ता को राजा या सम्राट के हाथों मे केन्द्रित करने का ही प्रयास है। कुरु-नरेश धृतराष्ट्र ने सत्ता को केन्द्रित करने के लिए ही अगराज के नेतृत्व मे विश्व विजय करने भेजा था। अगराज कर्ण ने तत्कालीन सभी राजाओ को परास्त करके कुरुनरेश को आधीन किया था—

"कुरुनरेश-चरणाश्रित करके धराधव को।
जगद्विजेता लौटा लेकर विजय दण्ड को।"[84]

महावीर कर्ण की दिग्विजय से तत्कालीन सभी नरेश कौरव राज क अधीन हुए। इस प्रकार कौरव राज को चक्रवर्ती सम्राट का पद प्राप्त हुआ और खडित होती हुई राजसत्ता पुन केन्द्रित हुई। कौरव राज के प्रति सम्मान प्रकट करने और उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार करने हेतु सभा आयोजित की गई थी—

"पुन चक्रवर्ती नृप ने कर सभा-विसर्जन।
अतिथि वर्ग प्रति किया स्नेह, सद्भाव प्रदर्शन ।।
सप्त सिंधु पर्यन्त लोक की प्रभुता पाकर।
शासन करने लगा सुयोधन वसुन्धरा पर ।।"[87]

चन्द्रगुप्त मौर्य ने प्रतिज्ञा की थी कि भारत की अखडता बनाये रखने के लिए कटिबद्ध रहेगा। उन्होंने कहा कि देश के छोटे-छोटे राज्य जिनसे राजसत्ता खडित होती है, हटाकर राजनीतिक सत्ता को केन्द्रित किया जायेगा और राजा को ही शक्तिशाली बनाना होगा—

"खोज-खोज मदमत्त महीपो को मारूँगा,
सिन्धु सरित पर्यन्त राज्य को विस्तारूँगा।
छिन्न भिन्न अब अधिक न अपना देश रहेगा।
एक देश म एक सशक्त नरेश रहेगा।।"[88]

राजतत्र शासन व्यवस्था में केन्द्रीय शासन को सुदृढ और शत्रुविहीन बनाने के लिए अश्वमेघ यज्ञ किये जाते रहे हैं। लका विजय के पश्चात श्री रामचन्द्र जब राजा बने तब उन्होने भी अपने राज्य को सुदृढ बनाने के लिए अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया था। अजनिपुत्र हनुमान अश्वमेघ यज्ञ के आयोजन से पूर्व ही राम से विदा लेकर

जाना चाहते थे किन्तु लक्ष्मण उन्हें स्नेहवश बार-बार रोक रहे थे। इस पर हनुमान जी दिव्य दृष्टि से रामराज्य की भावी श्रीवृद्धि और सफलता का उद्घोष करते हुए कहते हैं कि—

"योग-दृष्टि से देख रहा हूँ
ज्येष्ठ भानु सा प्रखर भविष्य;
महाप्रतापी भूपति होंगे
अश्वमेध के नमित हविष्य।"[9]

अयोध्या राज्य के प्रथम सम्राट रघु हुए हैं उन्होंने राज्याभिषेक के बाद दिग्विजय हेतु यात्रा की थी और भारतीय राष्ट्र की प्रतिष्ठा को शीर्ष तक पहुँचाया। इस प्रकार राजा रघु ने राजसत्ता को केन्द्रित किया। महाकाव्यकार अरुण जी के शब्दों में—

"विख्यात अयोध्यापति रघुकुल-सम्राट प्रथम
राज्याभिषेक के बाद दिग्विजय यात्रा-क्रम
हिमगिरि से सागर तक स्वराज्य का जय प्रसार
अनुपम सेना-संगठन, शौर्य-क्षमता अपार
उन्नत कोसल-साम्राज्य की ऐसी सुख-समृद्धि
दुर्जन विनाश से सज्जन-सुख की विमल वृद्धि
सक्षम शासन से ही सम्भव स्वर्णिम विकास
भारत के चारों ओर व्याप्त रघु का प्रकाश।'[10]

जब किसी राजा या सम्राट के राज्य में विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है अथवा उस सम्राट की श्रेष्ठता में करदाता सामन्तों अथवा राजाओं को सदेह होने लगता है तो सम्राट अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ अथवा राजसूय यज्ञ आयोजित करते हैं। धर्मराज युधिष्ठर ने भी अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए राजसूय यज्ञ का आयोजन किया था। जयभारत' के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इसी राजसूय यज्ञ के आयोजन का वर्णन किया है। जिससे राजनीतिक सत्ता पुन केन्द्रित हो सकी—

"मयकृत भवन यथा जगती के भवनों में था श्रेष्ठ,
तथा जनों में धर्मराज थे श्रेष्ठ पाण्डव ज्येष्ठ।
राजसूय ही हो सकता था इसका प्रकट प्रमाण,
राज रत्न के लिए यही मख था मानो खर शाण।"[11]

इस प्रकार समीक्ष्य महाकाव्यों के कथ्य सन्दर्भों में राजतन्त्रीय व्यवस्था के अनुसार राजसत्ता के केन्द्रीकरण का अनुसमर्थन मिलता है। इस पद्धति के मूल में राज्य व्यवस्था के सुदृढ और शक्तिशाली करने की भावना प्रमुख रही है।

4. राजाज्ञा की सर्वोपरिता

राजतन्त्र में राजा की आज्ञा सर्वोपरिता होती है। राजा किसी भी विषय में

मंत्रि परिषद अथवा विशिष्ट व्यक्तियों से सदा परामर्श कर सकता है, किन्तु अन्तिम निर्णय का दायित्व तो राजा का ही होता है। राजतंत्र में राजा, सामंत अथवा नवाब की सवारी नगर भ्रमण हेतु निकलती थी तो आम लोगों का आना-जाना रुक जाता था और लोगों के मन में आतंक छा जाता था। प्रायः दण्ड शक्ति का दुरुपयोग करने वाले राजाओं से प्रजा आतंकित रहती थी। 'गुरु गोविन्दसिंह' महाकाव्य में नवाब की सवारी निकलने के समय सामान्य जन के आतंकित होने का चित्र दृष्टव्य है, जिससे राजाज्ञा की सर्वोपरिता लक्षित होती है—

"आगे-आगे राजदण्ड की,
माया खेल रही थी।
बाल-वृद्ध, नर-नारी पर
वह गरल उड़ेल रही थी॥
आगे-आगे राज-सिपाही,
थे पथ-भीड़ हटाते।
आते हैं नवाब सुन आओ
जन जन को बतलाते॥"[93]

शहंशाह औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के कारण उसके समय में ही मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। औरंगजेब का अहंकार ही राजतन्त्र का कलंक प्रमाणित हुआ। वह किसी के विरोध को सहन नहीं कर सकता था। कवि के शब्दों में—

"है सबको विज्ञात कि आलमगीर नाम है मेरा।
फैलाना इसलाम जगत में पुण्य काम है मेरा॥
मेरे शासन में काफिर का कोई स्थान नहीं है
मेरी ताकत से टक्कर लेना आसान नहीं है॥"[93]

रावण अपने समय का प्रसिद्ध नरेश था। उसने समस्त भौतिक शक्तियों को भी अपने वश में कर लिया था। उसकी आज्ञा से देव और दानव दोनों ही आतंकित रहते थे।

"उस युग के साम्राज्यवाद का मानव-विद्रावण अवतार
रावण लंका-अधिपति बनकर विचल किये था सब संसार।
परम चतुर था और साहसी, उसके वेद भाष्य विख्यात
उस विज्ञानी के वश में थे प्रकृति-देव, सेवक दिन रात॥"[94]

सम्राट हर्षवर्धन ने बाणभट्ट का प्रथम मिलन में अपमान किया जबकि बाणभट्ट काव्य कला के सम्राट थे। लगभग ऐसा ही अपमान महर्षि कौटिल्य का नंद सम्राट ने किया था। यही कारण है कि राजतन्त्र अपनी निरंकुशता के कारण नष्ट हुआ। 'बाणाम्बरी, के रचयिता पोद्दार रामावतार अरुण ने सम्राट हर्ष द्वारा अपमानित महाकवि बाणभट्ट की मनःस्थिति का इस प्रकार चित्रण किया है—

"सभाषण, आसन-दान आदि से मैं वंचित
सामान्य शिष्टता भी न राज-गृह में किंचित्

हो रही स्मरण पाटलीपुत्र-कौटिल्य कथा
सम्राट नंद-प्रसाद विमूर्च्छित मर्म व्यथा।"[95]

कैकेयी द्वारा राम को वनवास देना भरत ने उचित नहीं माना। उन्होंने इसके लिए अपनी माता को दोषी ठहराया और भाई-भाई के स्नेह के बीच दरार डालने वाले कार्य की निन्दा की। भरत ने स्पष्ट रूप से कहा कि राजतन्त्र मे अन्याय होता है, सत्य कुचला जाता है और निरपराधी दंडित होते हैं। सब मूल मे राजाज्ञा की सर्वोपरिता ही है—

"यह राजतन्त्र की देन: निरपराधी दंडित
यह राजतन्त्र की देन कि सत्य हुआ खण्डित
जन गण-मन के प्रिय प्रभु अरण्य मे निर्वासित
यह राजतन्त्र की देन कि जग मे न्याय नमित॥"[96]

राजतन्त्र मे राजाज्ञा की सर्वोपरिता के कारण राजा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए मनमाने आदेश देने लगते हैं तो प्रजा का राजा पर से विश्वास उठ जाता है। 'वीरायन' महाकाव्य में श्री मित्र ने महावीर (वर्द्धमान) के समय मे राजाओ की मनमानी से उत्पन्न विकृति का इन शब्दों मे चित्रण किया है—

"प्रजातन्त्र में राजतन्त्र था, राजतन्त्र मे क्रीडा।
राजाओ की मनमानी थी, नाच रही थी क्रीडा॥
नमः देश के नये प्रहरियो! नमः पुरानी छाया
नाच रही है नचा रही है, अधिकारो की माया।"[97]

परशुराम ने अपने समय के बहुत से क्षत्रिय राजाओ का मानमर्दन किया था। उनका क्रोध जगत् प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। सीता स्वयवर के समय धनुष यज्ञ का आयोजन देखकर उन्होंने शिव धनु-भजन उचित नही समझा और राजा जनक को आदेश दिया कि धनुष यज्ञ का उत्सव स्थगित कर दिया जाय किन्तु राजा जनक ने परशुराम की क्रोधाग्नि से विचलित न होकर धनुष यज्ञ सम्पन्न किया। राजा जनक ने कहा—

"हम धनुष यज्ञ-उत्सव को कैसे बन्द करें?
क्रोधी मुनि परशुराम से हम इस समय डरें?
उनका यह अनुचित विघ्न अशोभन है इस क्षण
शिव-द्रोही कभी नही है मेरा सुन्दर प्रण।"[98]

रावण ने अपने राजपद के अभिमान मे बहुत अत्याचार किये। उसकी मनमानी आज्ञा से जनता भयभीत रहती थी—

"रावण की लंका रावण के दैहिक भय से
है काँप रही युग-युग से मैं भी देख रहा
जन का जीवन विद्रोह आत्म को उठा रहा
रावण की जनता रावण का परतन्त्र दास
इसलिए यहाँ की मिट्टी पर हँस रही क्रान्ति।"[99]

अस्तु, स्पष्ट है कि महाकाव्यकारों ने राजाज्ञा की सर्वोपरिता का अंकन करते हुए भी उसकी निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की यथाप्रसंग अवमानना की है।

5 राजतन्त्रीय व्यवस्था के मानदण्ड

• राजतन्त्रीय व्यवस्था के वास्तविक विधान को समझने के लिए निम्नांकित तथ्य चिन्तनीय है—

(क) राजा-रानी के अधिकार-कर्त्तव्य

राजतन्त्र में राजा-रानी अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों से परिचित होते हैं। जो शासनतन्त्र का स्वामी होता है, उसी के द्वारा अधिकारों का उपभोग और कर्त्तव्यों का पालन किया जाता है। राजा अपने राज्य में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होता है। उसमें राजतन्त्र की तीनों शक्तियाँ—विधायनी, कार्यकारिणी और न्यायपालिका निहित होती है। राजशक्ति से अधिष्ठित राजा की रानी भी अपने पति की अनुगामिनी होती है। महाकाव्यकारों ने दर्शाया है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करे। प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए उचित व्यवस्था करे और निष्पक्ष न्याय सभी को मिले। कैकेयी राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए कहती है—

"प्राण रक्षा हो प्रजा की,
कर्म अपने कर सकें निश्शंक होकर जन सभी,
यह देखना, कर्त्तव्य राजा का महत्तम
अन्यथा, अधिकार शासन का न उसको॥"[100]

राजा दशरथ वृद्ध हो चुके थे और राजकार्य से मुक्त होना चाहते थे। उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज पद देने के लिए नगर के गणमान्य सज्जनों, ऋषि-मुनियों आदि से मन्त्रणा की। राजा दशरथ अपने कर्त्तव्यों से भली-भाँति परिचित थे। अस्तु, सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—

"कैसे मैं कहूँ कि कैसा मेरा राज धर्म,
अपने पूर्वज-सा किया कहाँ तक नृपति-कर्म
सतान समान प्रजा पालन कर सका कहाँ।
मुझसे जितना बन सका, किया उतना ही तो
छिपती न छिपाए, छिपी हुई असफलता जो।[101]

कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ का विवाह राजकुमारी त्रिशला से हुआ था। राजा-रानी दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे। रानी त्रिशला राजा के कर्त्तव्यों का संकेत करते हुए कहती है—

"दासी की विनती है स्वामी! भगवान प्रजा को मत भूलो।
मैं सदा तुम्हारे पास नाथ! जितना मन हो उतना झूलो॥
पर तब जब जनता राजा को, सुख से पूजा कर सुख माने।
राजा आनन्द विभोर हुए, सुन-सुन कर 'त्रिशला' से ताने।"[102]

दैत्यराज तारक ने दशरथनन्दिनी तथा शृंगी ऋषि की पत्नी राजकुमारी शान्ता का हरण कर बन्दी बना लिया था। शृंगी ऋषि ने कोशलपति से जाकर अपनी व्यथा कथा कह सुनाई। राजकुमारी शान्ता को मुक्ति दिलाने के लिए युद्ध की तैयारी की गई। शृंगी ऋषि ने अहिंसात्मक उपायों से शान्ता को मुक्त कराने की सलाह दी थी। किन्तु सेनापति सैन्य दल और अन्य नागरिक रण का आग्रह कर रहे थे। राजा ने तब महर्षि वशिष्ठ से इस सम्बन्ध में मन्त्रणा की। महर्षि वशिष्ठ ने राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा—

"हे नृप तुमने किया उचित अति परामर्श निरधारा।
नृप का धर्म सत्य को खोजे सुमन्त्रणा के द्वारा।
सद्विमर्श हो प्राण नीति का, उसमें हो न प्रमादी।
राजा सावधान हो तौले सत्य विभिन्न, विवादी।
सर्वश्रेष्ठ मत का निर्णय कर कार्य क्षेत्र में जाये।
प्राण रहे या जाय न इसका ध्यान कभी फिर लाये।"[103]

कोशलपति दशरथ ने तारक वध हेतु ससैन्य प्रयाण किया। उन्होंने मार्ग में मुनि वशिष्ठ के आश्रम में विश्राम किया और उनकी शुभकामनाएँ प्राप्त कीं। मुनि ने राजधर्म का निर्देश देते हुए राजा दशरथ की विजय की कामना की—

"नृप का धर्म कठोर दण्ड का वितरण करना।
दस्युजनों का दर्प और दुस्साहस हरना।
तुमने उसके हेतु उचित पग आज उठाया।
सेवा भाव विकास देख मैंने सुख पाया।
साधुवाद के योग्य महीपति वह हितकारी।
व्यथित व्यक्ति के खेद ताप का जो सहारी।
जितना ही असमर्थ, दीन हो व्यक्ति प्रजाजन।
उतना ही वह कुशल नृपति-सेवा का भाजन।"[104]

आदर्श राजतन्त्र में राजा के साथ-साथ रानी भी वीरता के लिए विख्यात थी। वे राज्य की सुरक्षा के लिए प्रजा की प्रेरणा शक्ति सदृश्य थी और स्वयं भी युद्ध में भाग लेने के लिए तत्पर रहती थी। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने भी शत्रु को राज्य का पंचम अंश देकर तुष्ट करने के विपरीत राजा गंगाधर राव के सम्मान की रक्षा हेतु युद्ध के लिए प्रेरित किया और स्वयं भी युद्ध के लिए तत्पर हो गई—

"रनिवासों में रानी जागे।
तज कर अपना भोग विलास।
रंग भवन के कक्ष-कक्ष में
हो हथियारों का ही हास।।"[105]

राजा दशरथ ने वृद्धावस्था प्राप्त होने पर मन्त्रि-परिषद और पौरजनों से परामर्श कर बड़े पुत्र राम को युवराज पद देने का निश्चय किया। तत्कालीन उत्तर भारत में आर्यों का राज्य था और दक्षिण में अनार्यों का शासनतन्त्र था। आर्य शासक

कमजोर पड़ते जा रहे थे। रानी कैकेयी ने आर्य जाति के गौरव को बनाये रखने तथा अनार्यों को नियन्त्रित करने हेतु राम को सक्षम पाया। कैकेयी ने रानी के पद गौरव के अनुकूल राम को युवराज पद देने के विपरीत चौदह वर्ष का वनवास दिये जाने के लिए राजा दशरथ को बाध्य किया। रानी कैकेयी को आर्यों के प्रदेश की रक्षा के लिए कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था क्योंकि अनार्यों का बढ़ता हुआ संघर्ष आर्यों के पराभव का कारण हो सकता था। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने रानी कैकेयी के अनुचिंतन को इसी सन्दर्भ में रूपायित करते हुए लिखा है—

> "युग-धर्म सो रहा आज कहाँ
> गौरव-रक्षा के साज कहाँ
> मस्तिष्क न देता था उत्तर
> रानी की नौका बीच भँवर।"[106]

श्री चाँदमल अग्रवाल के महाकाव्य 'कैकेयी' में महाराजा दशरथ की रानी कैकेयी भी दक्षिण में अनार्य राजाओं के साम्राज्यवादी इरादों से परिचित थी। उन्हें आशंका थी कि असुरों का साम्राज्य विस्तार होने पर आर्य देश का पराभव होगा। रानी कैकेयी अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग थी—

> "कहीं ऐसी दशा में इन-उठाती सिर
> असुर साम्राज्यवादी शक्तियों से घिर,
> बने न शिकार कुछ भू भाग ही, या फिर
> समूचा देश ही न असावधानी में।"[107]

अयोध्या नरेश श्री राम की पत्नी और रानी सीता भी अपने कर्त्तव्यों से भली-भाँति परिचित थीं—

> "अर्धांगिनी नृपति की शुचि शक्ति रानी,
> नेतृत्व स्वत्व हित रक्षक हों स्त्रियों की।
> शिक्षा समान अधिकार सुधार से जो,
> पत्नी सुयोग्य गृहणी जननी बनी वे हों।।"[108]

राजा नल पक्षियों की बोली से परिचित थे। उन्होंने वन में एक राजहंस को पकड़ लिया। राजहंस के दुख निवेदन पर राजा नल को दया आई। उन्होंने गुणी हंस को मुक्त करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। राजा नल अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग थे—

> "उचित कहाँ था मुझे, तुम्हारा जीवन-हरना,
> राजा का तो कार्य, प्रजा की रक्षा करना।
> श्रेष्ठ राज्य में, दीन-हीन कब दुख पाते हैं,
> निरपराध-जन, कहाँ सताये कब जाते हैं।"[109]

अंगराज कर्ण ने अपनी सद्इच्छा से उत्तम राज्य-व्यवस्था की। राज्य के सभी अंगों का इस प्रकार संयोजन किया कि राजतन्त्र व्यवस्था में भी प्रजातन्त्र शासन होने लगा—

"प्रजापाल ने जनमत का सहयोग प्राप्त कर।
राजतन्त्र को प्रजातन्त्र कर दिया वहाँ पर॥
नृपामात्य, गढ़ मित्र, लोक, धन, बल कर सचय
अब राष्ट्र हो गया सुशोभित सप्त अगमय॥"[110]

(ग) आदर्श राजा के गुण

राजतन्त्र मे आदर्श राजा अथवा आदर्श रानी के सत्ता म आने से राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति होती है। हिमवान देश के राजा हिमाचल हिमालय के ही समान गुणो से युक्त थे। पार्वतीकार के शब्दों में—

"उस विशाल हिमवान देश के राजा तेजोधारी
वीर हिमाचल थे यथार्थ निज सत्ता के अधिकारी,
अचल हिमाचल के समस्त गुण उनमे सहज समाये,
सोने मे सुगन्ध आत्मा के गुण भूपति ने पाये॥"[111]

राजा हिमाचल के समान उनकी रानी भी सर्वगुण सम्पन्न और शासन कार्य मे सहयोग देने वाली थी—

"उनकी लक्षमणमयी-धरा सी कुल-लक्ष्मी कल्याणी,
साम्राज्ञी थी, धर्म-प्रेम की प्रतिमा मैना रानी;
स्नेह, शील, सौन्दर्य तेज की मर्यादा वह जग में,
भरती जीवन-रस सचारित शासक की रग-रग मे।"[112]

आदर्श राजा राज्य सिंहासन को प्रजा की धरोहर मानते थे। निषदपति नल उच्च आदर्शों वाले राजा थे। 'दमयन्ती' महाकाव्य मे राजा नल के उच्चादर्श की अभिव्यक्ति हुई है—

"है प्रजा धरोहर मात्र! राज्य सिंहासन
सग्रह मे है अच्युत, त्याग का आसन।"[113]

रामराज्य आदर्श राजतन्त्र माना गया है। अयोध्या के राजा राम त्याग, निरपेक्ष न्याय, अलौकिक शक्ति की मूर्ति थे। 'जगदालोक' महाकाव्य मे ठाकुर गोपालशरण सिंह ने राम के अलौकिक गुणों को देखकर रामराज्य को आदर्श निर्धारित किया है—

"रहा राम का राज्य अलौकिक
विभूतियों का सचय
जो जग का आदर्श बन गया
अनुपमता में निश्चय।
था ऐसा वह शासन जिसमे
रहा न कोई पीडित,
कहीं पाप का नाम नहीं था
रोग शोक थे अविदित॥"[115]

आदर्श राजतन्त्र की चरम परिणति रामराज्य म हुई। वस्तुत राम स्वय को राजा न मानकर जनसेवक मानते थे। कविवर पत ने 'लोकायतन' महाकाव्य म राम-राज्य को लोक कल्याण का पुण्य स्वरूप माना है—

"राम राज्य की रानी थी जन सेवा,
राजा भी करता जन-मत का पालन।"[115]

राजतन्त्रीय शासन प्रणाली मे राजा सर्वशक्तिमान होता है। उसके चारो ओर ऐसे लोग रहते हैं, जो उनकी कृपा के आकाक्षी होते हैं। महाकवि बाणभट्ट वाणी के सम्राट होते हुए भी सम्राट हर्षवर्धन की कृपा के आकाक्षी थे। हर्ष के भाई कृष्णवर्धन बाण के मित्र थे और बाण को सम्राट हर्ष द्वारा सम्मान दिलाना चाहते थे। कृष्णवर्धन बाण को सम्राट हर्ष के गुणो का बखान करते हुए उनके पास भेजते हैं—

बोले कुमार। हे अशि प्रतीक्षित वधु-विमल,
करना नृपेन्द्र वार्ता सुमधुर, सविनय, अचपल,
वे धीर, वीर गम्भीर, सुहृद, सयमी सफल,
तेजोज्ज्वल महापुरुष-सम्मुख होना न विकल॥ "[116]

वैशाली के राजा सिद्धार्थ भी आदर्श राजा थे। श्री अनूप शर्मा ने 'वर्द्धमान' महाकाव्य मे सम्राट सिद्धार्थ के गुणो का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यही यशस्वी हरि वश-व्योम के
दिनेश सिद्धार्थ प्रदीप्तमान थे,
प्रसिद्ध वे भूपति सर्वभौम थे
सतोगुणी थे, जिन धर्म दूत थे।'[117]

'वीरायन' महाकाव्य मे भगवान महावीर ने आदर्श राजा के गुणो की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

"राजा भोगो का भक्त न हो, राजा सन्यासी बना रहे।
राजा जनता के दुखो को, हर्षित हो अपने शीश सहे॥
जनता की आँखो का आंसू, राजा की आखो मे निकले।
राजा की कोमल गदा देख, पत्थर पिघले, लोहा पिघले॥"[118]

इस प्रकार समीक्ष्य महाकाव्यों में राजाओ के आदर्श गुणो का निरूपण कर राज्यादर्श के युगीन प्रतिमान निर्धारित किये गये हैं।

(ग) राजा और युवराज

राजतन्त्र मे राजपद परम्परागत होता है। राजा का ज्येष्ठ पुत्र युवराज माना जाता है। राजा की मृत्यु के उपरात अथवा उसकी इच्छा से राजपद युवराज को प्राप्त होता है। अयोध्या के राजा दशरथ के वृद्ध हो जाने पर पौर परिषद के गणमाण्य सदस्यो ने राम को युवराज पद प्रदान करने की प्रार्थना की और मन्त्रि-परिषद् ने भी इसका अनुमोदन किया था। यथा—

"यौवराज्य प्रदान कर श्रीराम को
भार हल्का कीजिए विश्राम को,
और प्रभु के नाम का जप कीजिए,
धर्म कृत्यों में समय व्यय कीजिए।"[119]

बालि को मारकर राम ने अपने मित्र सुग्रीव को किष्किंधा का राज्य सौंप दिया। बालि की पत्नी तारा ने इस पर विलाप किया और अपनी संकटपूर्ण स्थिति का उल्लेख करते हुए अपने भावी जीवन के लिए आश्वासन चाहा। इस पर नीति-निपुण हनुमान ने बालि पत्नी तारा को आश्वस्त किया कि भगवान राम ने आपके पुत्र अंगद को युवराज पद दिया है और आपकी सहमति से ही सुग्रीव शासनतंत्र चलायेंगे—

"रहेगा किष्किंधा का राज्य
पूर्ववत ही निर्बाध स्वतंत्र,
बनेंगे श्री अंगद युवराज
आपका संतत चलेगा मंत्र।"[120]

राजा दशरथ को अन्य सभी सुख उपलब्ध थे किन्तु सन्तान हेतु उन्हें विशेष चिंता थी। राज्य का कोई उत्तराधिकारी युवराज नहीं था। संतान प्राप्ति के लिए उन्होंने पुत्रेष्ठि यज्ञ किया। श्री पोद्दार रामावतार ने राजा दशरथ की मन स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है—

"रानी। तुम तीनों की तीनों उपकारी हो
तुम तीनों दशरथ के उर की फुलवारी हो
तुम सभी धर्म-संलग्न किन्तु सुत नहीं एक।
मेरे मानस में दुख की केवल यही रेख
यह दुख मुझको ही नहीं, समस्त प्रजा को भी।"[121]

जब कोई राजा वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता था और उसका बड़ा पुत्र राज्य के कार्यभार को संभालने में समर्थ हो जाता था तो राजतंत्र की वंशानुक्रमिकता के अनुसार वृद्ध राजा ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का भार सौंपता था। राजा दशरथ ने देखा कि वे वृद्ध हो गये हैं और उनके ज्येष्ठ पुत्र राम सर्वगुण सम्पन्न है तो उन्होंने राम को राज्य सौंपने की इच्छा व्यक्त की—

"मैं वयोवृद्ध दशरथ कब तक भूपाल रहूँ
किस समय गूँजती-सी मैं अपनी बात कहूँ
सुत को न समय पर देता जो नृप राज्य भार
छा जाता उसके निकट दोष का अंधकार
शोभित न श्वेतकेशी सिर पर किरीट मणिमय
दर्पण-प्रतिबिम्ब श्याम-हित करता नित्य विनय।"[122]

सम्राट दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को युवराज का पद दिया किन्तु उनकी छोटी रानी कैकेयी के आग्रह पर राम को वनवास और भरत को राज्य सौंपा गया। राजा दशरथ इसके लिए यद्यपि परमदुखी हुए तथापि वचनबद्ध हो चुके थे—

"सम्राट! स्थगित हो स्थगित, राम राज्याभिषेक
बैठे गद्दी पर पुत्र भरत, यह माँग एक॥
दूसरी माँग यह है रघुवंशी विश्वासी।
चौदह वर्षों तक राम बने अब वनवासी॥
दण्डकारण्य में रहे राम, इच्छा मेरी
जाने में नहीं करे वह ममतावश देरी
त्यागे वह सुन्दर राज वस्त्र, पहने वल्कल
गमन सद सब की रथ-यात्रा, बाकी पैदल।"[123]

निश्चय ही राम कथापरक एवं अन्य पौराणिक-ऐतिहासिक कथापरक प्रबंध काव्यों में युवराज पद की प्रतिष्ठा का समाख्यान राजतंत्रवादी चेतना का ही प्रतिफलन है।

(घ) राजतन्त्र में मन्त्रि-परिषद का महत्त्व

आदर्श राजतंत्र में राज्य व्यवस्था में सुसाशन हेतु मन्त्रि-परिषद गठित होती थी। राजा जनक की सहायता हेतु निस्वार्थी मंत्रीगण नियुक्त थे। 'उर्मिला' महाकाव्य में यह तथ्य का संकेत समुपलब्ध है—

"धीमान् मंत्रीगण सकल हैं कार्य में पूर्ण दक्ष,
निस्वार्थी हैं सतत रखते राज्य सेवा समक्ष,
धर्म प्राणा सकल जनता की मनोकामनाएँ
होती पूरी सकल सुप्रजा की मनोकामनाएँ।"[124]

राजतंत्रीय शासन पद्धति में राजा अपने बड़े पुत्र को युवराज पद सौंपते समय पौर, जनपद और मन्त्रि-परिषद् की राय लेते थे। राजा दशरथ ने भी राम को युवराज पद देने से पूर्व सबकी राय ली थी—

"पौर की भी राय कर लेना अभी तो शेष।
कौन वैसे बन सके युवराज या कि नरेश?
अष्ट मंत्री सह बुलाया मन लिए शुभ आस।
जानपद औ, पौर सयुक्ताधिवेशन खास॥"[125]

निषध देश के राजा नवल सकल गुण युक्त धीर-वीर थे। उनकी प्रजा राजा के उत्तम शासन से सुखी और समृद्ध थी। राजा नल को शासन में सहायता देने हेतु राजसभा थी। सभासदों के मध्य सुशोभित होकर राजा कार्य सम्पादन करते थे—

"सभासद बैठे हैं सब शांत
अहा कितने उदात्त सम्भ्रान्त
+ + +
मुकुट शोभित नृप वीर्य विशाल,
भानु-सा कान्तिमान है भाल॥"[126]

कैकेयी के दो वरदान माँगने पर राम 14 वर्ष के लिए वन को गये और भरत

को राजगद्दी मिली। किन्तु भरत ने अपने बड़े भाई राम के राज्याधिकार को स्वीकार नहीं किया। उन्होने राम को पुन अयोध्या लौटाने के लिए मन्त्रणागार मे परिषद की बैठक आयोजित की ताकि वे परिषद से उचित विचार विमर्श कर सकें—

"नृपति-मन्त्रणागार विविध मणि खम्भों वाला,
भरता जो सब ओर मौन आतंक निराला।
+ + +
जुड़े वहाँ पर आज विभागो के अधिकारी
सचिव सुमंत्र समान प्रतिष्ठा प्रभुता धारी।
जुड़े विशिष्ट विशिष्ट शिष्ट सज्जन पुरवासी,
ग्राम ग्राम प्रति जुड़े विविध साकेत-निवासी।।"[127]

'रामराज्य' महाकाव्य मे शासन की सहायता हेतु राम सचिवो, प्रमुख नागरिको आदि से परामर्श लेते थे, ऐसा श्री बलदेव प्रसाद मिश्र ने निरूपित किया है—

"पौर जानपद प्रमुख वि या जो सचिव तथा मुनिगण मतिधारी
सदा राम को मिलती रहती, उनकी सम्मतियाँ सुखकारी।"[128]

राम ने लोकहित मे उत्तम शासन की व्यवस्था की थी। वर्तमान शासन व्यवस्था की तरह उस समय भी मंत्रि-परिषद की आयोजना थी—

"सात-आठ केन्द्रीय सचिव थे, शास्त्र-विलक्षण तपे-तपाये
जिनके परामर्श से प्रभु न भारत-शासन-चक्र चलाये।
विविध विभागो के अधिपतियों का सर्वेक्षण सभी कहीं था
प्रार्थी वही, वही निर्णायक, ऐसा वहाँ विधान नहीं था।"[129]

महत्वपूर्ण बिन्दुओ पर विचार-विमर्श करने हेतु राजा दरबार का आयोजन करते थे। नृपति सिद्धार्थ ने रानी त्रिशला के स्वप्न विचार हेतु दरबार का आयोजन किया—

"लो, लगा अभी दरबार आ गए कुछ जन।
सुप्रतिष्ठित नागर जो सचमुच ही सज्जन।।
मंत्री, सेनापति अन्य कर्मचारी गण।
आ गए सभी सम्राट सहित धीरज मन।।
जा पहुँचे जब अपने-अपने आसन पर।
निज रत्न जटित सिंहासन पर भी नृपवर।।"[130]

चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने शासन प्रबंध को पुर्नगठित करके नया रूप दिया। दिग्विजय के पश्चात् राज्य व्यवस्था को सगठित करने से ही शासन व्यवस्थित होता है—

"कर्मवीर को सह्य न था कर्मों से बचना,
की उसने केन्द्रीय मंत्रि-परिषद की रचना।
+ + +
मंत्रि बीस, उपमंत्रि हुए प्राय इतने ही,
सचिव तथा उपसचिव नियुक्त हुए कितने ही।

प्रमुख पदों के बाद विपुल पद गौण बचे जो,
दिए गए विश्वस्त जनों को, योग्य जँचे जो।
ले शपथें, दायित्व सबों ने शीघ्र सँभाले
दिए गए जो काम, कभी वे गए न टाले।।"[131]

समीक्ष्य महाकाव्यों के उद्धृत प्रसंग न केवल मंत्रि-परिषद की महत्ता को निरूपित करते हैं अपितु राजतंत्रीय व्यवस्था में भी लोकतांत्रिक चेतना को संकेतित करते हैं।

6 राजतंत्रीय व्यवस्था में सैन्य संगठन एवं युद्ध संचालन

राजतंत्र शासन प्रणाली में राजा ही समस्त सेना का प्रधान होता था। उसी के आदेशानुसार सैन्य संगठन किया जाता था। युद्ध आदि में राजा स्वयं सेना नायक का काम करता था। राजतंत्र शासन प्रणाली में राज्य विस्तार के लिए, सुन्दर राजकन्या की प्राप्ति हेतु अथवा अन्य किसी कारणवश परस्पर युद्ध होते रहे हैं। सांकश्य नृपति सुधन्वा ने सीता और शिव धनुष की प्राप्ति हेतु मिथिला पर आक्रमण किया था। राजा जनक यद्यपि युद्ध को न्यायोचित नहीं मानते थे। उन्होंने सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध किया—

"सांकाश्य नृपति ने युद्ध घोषणा की सगर्व
मिथिला को घेर लिया उसकी सेनाओं ने
सुविशाल सैन्य दल जमा हो गए जहाँ तहाँ
गज-दांत घोड़े, हाथी, रथ जमा हुए आकर
लेकिन विदेह विश्रान्त, मौन
सोचते—'युद्ध है गर्व अग्नि
जो जन उठती प्रभुता समक्ष
यह मानवता की दुर्बलता का घृणित चित्र
ईर्ष्या के पापों का केवल विस्फोट ध्वंस।।'[132]

राम के वनवास की अवधि में भरत ने राम का प्रतिनिधि बनकर उत्तम शासन व्यवस्था चलायी। उनके राज्य में सात अंगों में सेना भी एक अंग थी। 'रामराज्य' महाकाव्य के रचयिता बलदेव प्रसाद मिश्र ने राम के मुख से राज्य के सप्तांगों की चर्चा करायी है—

"राज महिषी है वह! भण्डार? भरे चारो पुरुषार्थ अनूप
सकल अंगों सम्पन्न सुराज्य, और प्रभु-चरणाश्रित है भूप।
राज्य के हैं ये ही सप्तांग, सचिव, नृप, राष्ट्र, सैन्य, पुर, कोष,
सुहृद। ये सब जब आस्तिक रहें तभी संघता, सुराज्य-संतोष।'[133]

हर्ष के बड़े भाई प्रभाकरवर्धन की धोखे से गौड़ देश के भूपति ने हत्या कर दी। राजतन्त्र में महत्वाकांक्षी राजगण कुटिल नीति अपना कर राज्य विस्तार के लिये

हमेशा प्रयत्नशील रहे हैं। सम्राट हर्ष अपने भाई का बदला लेने के लिए मंत्रि-परिषद से मन्त्रणा करते हैं और महासेनापति को आदेश देते हैं कि सभी राजा हर्ष की अधीनता स्वीकार करें अथवा युद्ध के लिए तत्पर हों—

"तब महासंधि विग्रहाधिकृत को निर्देशन
प्रत्येक भूप को सत्वर राजपत्र-लेखन
स्वीकृत हो प्रभु सत्ताऽस्तित्व या रण महान
सम्राट हर्षवर्धन शासन सेना प्रयाण।"[134]

राम ने लंका पर आक्रमण करने से पूर्व रिक्ष, वानर आदि की सेना का संगठन किया था। उन्होंने अंगद को रावण के पास महाविनाश से बचने के लिए दूत के रूप में भेजा कि युद्ध का मार्ग त्यागकर सीता को लौटा दिया जाय किन्तु रावण ने ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप राम-रावण युद्ध हुआ—

'अंगद ने बहु विधि समझाया, रावण ने जब दिया न ध्यान।
तब प्रभु ने आदेश किया, "अब आगे सैन्य करे प्रस्थान।
आत्म-सुरक्षा स्वत्व-सुरक्षा, अपना जन्म-सिद्ध अधिकार
यह प्रहार का अन्तिम पथ भी इसके लिए हमें स्वीकार"।
हुआ दुंदुभीनाद उभय दिशि तुमुल हो उठा जयजयकार
होने लगी उभय दिशि में ही, विविध आयुधों की बौछार।
तरु शाखाएँ लट्ठ बन गईं, पत्थर बने ढाल तलवार
विफल हुए जिन पर असुरों के बरछे भाले तीर कटार।"[135]

झांसी के राजा गंगाधरराव की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजों ने झांसी राज्य को अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न किया। रानी लक्ष्मीबाई ने सेना का संगठन करके युद्ध का मार्ग चुना। रानी के दो विश्वासघात शत्रु-सेना से मिल गये। इस पर रानी रौद्र रूप धारण करके स्वयं सैन्य संचालन करने लगी। रानी की वीरता इतिहास प्रसिद्ध है। कविवर श्री पाण्डेय के शब्दों में—

"रानी अरि-मर्दन काट-काट
उड़ रही पवन में फर, फर, फर।
लप-लप करती असि जिह्वा से
शोणित बहता था तर, तर, तर।।
बर-वाजि पवन की चीर-चीर
चचल-गति में लहराता था।
पलकों के गिरते-गिरते ही
अरि मुण्डों पर चढ़ जाता।"[136]

राजा के नेतृत्व में युद्ध संचालन का निराला ही ढंग होता था। सेना के प्रयाण से पूर्व राजा ज्योतिषी से मुहूर्त निश्चित करवाते थे और मंगल विधि से शस्त्र पूजन होता था; तब सेना युद्ध के लिए प्रयास करती थी। यथा—

"निकला विराट् सेना-समुद्र धाराघोष पूर्ण
भू पर असंख्य पग-तल गज-आघात पूर्ण
नादोत्, शंख, गुंजा, काहल, पटहादि नाद
भारत की अतुल सैन्य मात्रा यह निर्विवाद।"[137]

महाभारत के युद्ध के समय व्यूह रचना, सैन्य संगठन और युद्ध के नियम आधुनिक युग की युद्धनीति से भिन्न थे। उस समय युद्ध के नियमों का उल्लंघन नीति विरुद्ध माना जाता था। पैदल के साथ पैदल, घुड़सवार के साथ घुड़सवार ही लड़ते थे। 'जयभारत' प्रबन्ध काव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने आर्यों के युद्ध के नियमों और मर्यादाओं का भावपूर्ण वर्णन करते हुए लिखा है—

"युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही।
तुल्य प्रतिद्वन्द्वियों को छोड़कर औरों से—
यों ही नहीं लड़ते थे योद्धा उस काल के
बहुधा पदातियों से केवल पदाति ही,
अश्व-गजरोहियों से अश्व गजारूढ़ ही,
रथियों से केवल रथी ही थे झगड़ते।
हारे-थके शत्रु को वे देते थे,
वर्महीन पर भी प्रहार करते न थे।
कोई कायर युद्ध करे तो वे नहीं करते,
मारते नहीं थे किसी हार मानते को भी।
शस्त्र भग होने पर कहते विपक्षी से—
"ऐसे क्या लड़ोगे, रहो, ले लो कुछ मुझसे"।
यदि यह कहता—'अभी तो भुजदण्ड है"
तो वे शस्त्र छोड़ करते मल्ल युद्ध ही।
समर भी उनके लिए था एक रंग-सा।'[138]

चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी सेना का नए ढंग से संगठन किया था। उसकी सेना में पैदल, घुड़सवार, गज सेना, पोतवाहिनी आदि सम्मिलित थीं। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' महाकाव्य में श्री रामखेलावन वर्मा ने सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध में सैन्य संगठन का वर्णन इस प्रकार किया है—

"हुआ संगठन, हुई वृद्धि सेना में भारी,
छै भागों में हुई विभक्त वाहिनी सारी।
निर्भय सीना खोल समर में डटने वाले,
धर कर आगे पाँव, न पीछे हटने वाले।
शूर सिंह की भाँति, व्याघ्र की भाँति लड़ाके
मिले जहाँ, जब, किये गये भर्ती भट बाँके।
मस्त शस्त्र-सम्पन्न, ओज उत्साह भरी थी,
पग-सेना अरि-दर्प दलन, रण खेल खरी थी।"[139]

इस प्रकार अनेक महाकाव्यो मे युद्ध से सम्बन्धित प्रसग समुपलब्ध हैं। ये सभी प्रसग एक ओर तो महाकाव्यकार के वर्णन-कौशल के परिचायक हैं, तो दूसरी ओर राजतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत सैन्य सगठन एव युद्ध सचालन पद्धतियो का निदर्शन करते हैं।

7 राजतन्त्र मे न्याय व्यवस्था

राजतत्र मे राजा ही प्रधान न्यायाधीश होता है। वह दरबार लगाकर प्रजा की समस्याओ का न्यायपूर्वक निर्णय करता है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबध में जनता को निष्पक्ष न्याय मिलता था। कवि के शब्दो में—

"पुर-पुर न्यायागार, नाम जिनके दो भाग।
'कटक शोधन' एक अपर धर्मस्थ कहाए।
व्यावहारिक ये एक, अपर न्यायज्ञ 'प्रदेष्टा'
हुई विमूलित न्याय-विमूलन की हर चेष्टा।
अडी न टाँगें, पक्षपात के गडे न टाँके,
गए न्याय के नाम एक डडे सब हाँके।
अति कठोर कानून किसी के लिए न राचके,
रही दया की धेनु न्याय के हरि से बच के
बश चलते कर सका कटीले का मन कोई,
यन अवध्य बच सका धर्म के नाम न कोई।"[140]

निरकुश राजतन्त्र मे प्रजा दुखी रहती है। अत्याचारी राजा केवल स्वार्थ के लिए ही शासन करता है। भरत के मामा भरत से कठोर शासक बनने का आग्रह करते हैं—

"शासक है निष्ठुर माला
काटे छाँटे मनमाना।
संघर्ष भरा है उसके
कृतिपट का ताना बाना।"[141]

निरकुश राजतत्र म राजा आतक फैलाकर ही शासन चलाते हैं। वीर भोग्या वसुन्धरा' की नीति राजतन्त्र म सफल रही, अनन्त काल तक प्रचलित रही। यथा—

"है मत्स्य न्याय ही जग मे
लघु को महान खा जाते।
जो हैं अदम्य औरों के
बस वे ही हैं रह पाते॥
है वीर भोग्य यह अवनी,
वे सहज ईश सब धन के।
सिंहासन है उन ही का
जो रहे न दुर्बल मन के॥"[142]

रावण विजय के पश्चात् राम अयोध्या लौटे। बड़ी धूमधाम से राम का राजतिलक समारोह सम्पन्न हुआ। महाकाव्यकार ने राजा राम की प्रशस्य न्याय व्यवस्था का विवरण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

> "हो राजदण्ड दृढ़ चण्ड क्षितीश्वरों का,
> रक्षा निमित्त निर्धन निर्बलों की।
> अन्याय का बाधक, रक्षक न्याय का हो,
> सन्मित्र साधुजन का, अरि दुर्जनों का।"[163]

'जानकी-जीवन' महाकाव्य में श्री राजाराम शुक्ल ने भी रामराज्य की न्याय व्यवस्था का यशोगान किया है—

> "अन्याय का निधन हो अनिवार्य न्याय से,
> निष्पक्ष जाँच जन की जनता समक्ष हो।
> दोषी सदोष ठहरें, बिन दोष मुक्त हो,
> हो क्षीर-नीर-दृढ़ निर्णय हृत-बक का॥'[164]

पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ गुप्त वेश में राजा विराट के यहाँ चाकरी करके एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत कर रहे थे। राजा विराट का साला कीचक दुष्ट प्रवृत्ति का व्यक्ति था, उसकी कुदृष्टि द्रौपदी पर पड़ी। एक दिन कीचक ने द्रौपदी के सभा बीच में लात मार दी। इस पर द्रौपदी ने राजा विराट को धिक्कारा। 'जयभारत' महाकाव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने विराट को अन्याय के प्रति मौन देखकर अन्याय के प्रति आक्रोश इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "छोड़ धर्म की रीति, तोड़ मर्यादा सारी,
> भरी सभा में लात मुझे कीचक ने मारी।
> उसका यह अन्याय देखकर भी भयदायी,
> न्यायासन पर मौन रहे तुम बन कर न्यायी।
> हे वयोवृद्ध नर नाथ, क्या यही तुम्हारा धर्म है?
> क्या यही तुम्हारे राज्य की राजनीति का मर्म है?"[165]

जो राजा अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और उसकी प्रजा दुखी रहती है, तो वह निश्चयतः शासन का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। न्यायप्रिय राजा जनक ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि यदि उनके राज्य में कोई भिक्षुक दुःखी रहे अथवा प्रजा साहित्य, संगीत, कला आदि में गतिशील न हो तो इसके लिए राजा स्वयं दोषी होता है—

> 'यह किसका है अपराध?
> वृद्ध का नहीं, राज्य संचालक का।
> वह देश जहाँ रोती फिरती है भूख स्वयं
> विद्या-विहीन है नर नारी
> संगीत, कला, साहित्य नहीं
> आचरण नहीं जनजीवन में

उसका संचालक दोषी है मानवता के कारागृह में
वह बंदी है।[146]

प्रकारान्तर से इस प्रकार के प्रसंग राजा की न्याय के प्रति आस्था को दृढ़ करते हैं। दूसरे न्याय पर आधृत राज्य व्यवस्था का समर्थन अनुमोदन महाकाव्यकारों की युगीन चेतना का भी परिचायक है।

8 राजा प्रजा सम्बन्धों का आदर्श

राजतन्त्र में राजा प्रजा के सम्बन्ध विविध प्रकार के रहे हैं। राजा प्रजा का पुत्रवत पालन करता था। वह रात दिन लोक हित की दृष्टि से शासन करता था। आदर्श राजा शूर वीर धीरोदात्त निष्पक्ष न्यायकर्त्ता और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर राज्य संचालन करता है। राम वनगमन के समय वन में निषादराज श्रीराम लक्ष्मण और सीता से मिलकर अति प्रसन्न होते हैं। निषादराज गुह ने अपने राज्य में उनका भव्य स्वागत किया। निषादराज गुह नीची जाति के थे किन्तु राम ने उनसे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। गुह ने वनवासी राम का अयोध्या के भावी सम्राट के रूप में स्नेह भरा स्वागत सत्कार किया। इससे राम की लोक व्यवहार कुशलता का ही परिचय मिलता है—

मेरे बाल सखा हैं रघुवर
प्राणों से भी प्यारे।
भावी शासक अवध राज्य के
और जनता के प्यारे ।।[147]

कुरु राज्य में सर्वत्र सुव्यवस्था थी। प्रजा सुखी थी। राजा प्रजा के संबंध समानता के से थे। प्रत्येक नागरिक अपने को स्वतन्त्र मानता था। राजतन्त्र में प्रजातन्त्र का सा व्यवहार होता था। यथा—

स्वराज्य संरक्षक बंधु तन्त्र था समाज संचालन राजतन्त्र था।
जहाँ व्यवस्थापित धर्म तन्त्र था मनुष्य प्रत्येक वहाँ स्वतन्त्र था।।[148]

निषधपति नल के राज्य में प्रजा सब प्रकार से सुखी समृद्ध और सुरक्षित थी। उनका राज्य रामराज्य की भाँति आदर्श सुराज्य था। राजा नल को प्रसन्न और सुखी रखने का हर सम्भव प्रयत्न करते रहते थे। कवि के अनुसार राजा को प्रजा का किसी प्रकार का भय नहीं था—

न इनको कभी सताती ईति
न नृप से भी है ऐसी भीति
कि कल को वह लेगा भू-छीन
और हम रह जायेंगे दीन।[149]

राजा जनक योगी और प्रबुद्ध राजा थे। वे प्रजा को अपने समान मानते थे और हर समय प्रजा के कल्याण में ही लगे रहते थे। उनके समय में प्रजा के सम्बन्ध आदर्श कोटि के थे—

"मैं प्रजा समर्थित हूँ नरेश
पर हूँ तो एक मनुज ही मैं
राजा भी एक प्रजा ही तो है न्यायपूर्ण
सम्राट सृष्टि का स्वयं सत्य है हे महर्षि !"[150]

स्पष्ट है कि राजतन्त्रीय व्यवस्था में भी जनहित संरक्षण होता रहा। यह मानना भ्रांतिपूर्ण होगा कि राजतन्त्र में प्रजा का अहित ही होता है। राजा प्रजा के आदर्श सम्बन्ध मिथिला नरेश 'विदेह' और उनकी प्रजा में दृष्टव्य हैं। कवि के अनुसार राजा जनक स्वयं अपने कर्तव्य के प्रति पूर्णतः सजग थे—

"धरती राजा की नहीं, मनुज की ही केवल
राजा तो केवल रक्षक है, न्यायी है, सेवक, प्रहरी है
वह नृपति जो कि समन्याय लिए
करता सुकर्म इस धरती पर वह कर्मयोग का मानव है
वह स्वयं महात्मा है अपने सिंहासन का
जन मन-धन का वह ऋषि-महान् कर्तव्य लिए।"[151]

राजा दशरथ प्रभुता सम्पन्न और सर्वशक्तिमान् सम्राट थे। किन्तु वे स्वयं को राजा का प्रतिनिधि मात्र ही मानते थे। श्री चाँदमल अग्रवाल ने 'कैकेयी' महाकाव्य में राजा और प्रजा के आदर्श सम्बन्धों को निरूपित किया है—

"राज्य फिर थाती प्रजा की सर्वदा,
नृपति उसका एक प्रतिनिधि-मात्र ही।
प्राण तो होती प्रजा, नृप मात्र ही,
जन मनोरथ देखना होगा सदा॥"[152]

श्री राम को आदर्श राजा और रामराज्य को आदर्श राज्य माना जाता है। रामराज्य में प्रजा को सब प्रकार के सुख उपलब्ध थे तथा राजा और प्रजा में भेद करना कठिन था। यथा—

'महाराज श्रीरामचन्द्र ने रामराज्य इस भाँति चलाया
राजतन्त्र या प्रजातन्त्र है भेद न यह कोई लख पाया।
और कालक्रम से जब आई भौतिक जग तजने की बारी
रहे अभिन्न प्रजा से अपनी, ऐसे थे अपूर्व अधिकारी।'[153]

दुर्योधन को राजपद प्राप्त हुआ किन्तु प्रजा के मन को वह नहीं जीत सका। कवि की दृष्टि में राजा और प्रजा के सम्बन्ध एक दूसरे से समर्पित होने चाहिए—

"राज्य मिला, पर यश न मिला दुर्योधन को,
वश करने में लगा प्रजा के वह मन को।
उद्धत भी वह यश न था नृप-कौशल से
प्रजा राज्य के, राज्य प्रजा के ही बल से।"[154]

राजा का प्रथम कर्तव्य होता है कि वह प्रजा की शत्रुओं एवं अन्याय करने

वालो से रक्षा करे। यदि राजा स्वय विपरीत आचरण करने लगे तो राजा प्रजा के सम्बन्ध ही समाप्त हो जाते हैं—

"जब रक्षक बन जाये भक्षक
अपगध वृत्ति आराधना,
वह राष्ट्र मृत्यु के तट बैठा
गिन श्वास रहा, सच जानना।"[155]

'जानकी-जीवन' महाकाव्य मे राजा प्रजा के सम्बन्धो का आदर्श स्वरूप निरूपित किया गया है। रामराज्य मे राजा और प्रजा सम्बन्धो का आधार एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा थी। कवि के अनुसार—

"स्वामी समान नृप सेवक भी प्रजा का,
प्यारी प्रजा स्व वश शालिनी स्वामिनी सी।
सम्बन्ध अद्भुत प्रजापति का प्रजा का,
है राजधर्म शुभ मर्म सुकर्म का भी।"[156]

इस प्रकार राजा-प्रजा के आदर्श सम्बन्धो का आधार पारस्परिक सम्मान-सद्भाव और हित सरक्षण ही हो सकता है। इसी भावबोध को हिन्दी महाकाव्यकारो ने उद्घाटित किया है।

9 राजतन्त्र के प्रति जन अवधारणा

राम सदृश्य लोक हितैषी राजाओ के प्रति लोगो मे सदैव सम्मान और श्रद्धा की भावना रही है। किन्तु स्वार्थी, अन्यायी, अत्याचारी और क्रूर राजाओ के प्रति जन अवधारणा हमेशा विरोधी रही है। प्रजातन्त्र मे राजा का सदैव विरोध होता रहा है। राजतन्त्र की पतनावस्था का चित्रण 'प्रियमिलन' महाकाव्य मे मिलता है। वर्तमान युग मे राजतन्त्र की अवस्था अपने आदर्शों से च्युत हो गई है। अग्रेजी राज्य के समय भारतीय रियासतो के राजा स्वार्थी, विलासी और भीरू हो गये हैं। कविवर श्री नन्दकिशोर झा के शब्दो मे—

"राजा कहाँ राजते हैं अब ? हैं नकेल के ऊट
ऊँचा सा शिर किये पी रहे मन ही मन विष-घूंट।
मेरुदण्ड मानो टूटा है, है स्वतन्त्रता सर्व !
फिर भी बड़े बने रहने का छोड़ न सकते गर्व।"[157]

जनक राजा होने के साथ ही जन सामान्य के प्रतिनिधि भी थे। जब रावण सीता का हरण कर लका ले गया, तो महर्षि भारद्वाज ने राजा जनक से आर्य देश की प्रतिष्ठा के प्रति चिन्ता व्यक्त की। राजा जनक ने रावण के इस अन्यायपूर्ण दुष्कृत्य के प्रति जो भाव व्यक्त किये हैं, उनमे दुष्ट राजाओ के प्रति जन-सामान्य की आक्रोशपूर्ण अवधारणा व्यक्त हुई है—

"वह देश जहाँ समता का है आदर्श नहीं
उसका सिंहासन ध्वस्त जाएगा जन-रथ से

उनका नरेन्द्र मिट जायेगा अन्याय लिए
जन के तूफानों की थपकी से प्रभुता दीप बुझेंगे ही।"[158]

राजतन्त्र का आधार वर्गभेद रहा है। दास-स्वामी, प्रजा-राजा, ऊँच नीच राजतन्त्र के ये भेद निरन्तर रहे हैं। दुष्यन्त के पश्चात भारत सिंहासन पर सम्राट भरत आसीन हुए। उनकी माता शकुन्तला राज परिवार छोड़कर ऋषि कण्व के आश्रम में चली गई। पिता और पुत्र उन्हें रोक नहीं सके। भरत ने देश में उत्तम शासन करने का संकल्प किया, किन्तु महर्षि विश्वामित्र ने राजतन्त्र के बारे में जो भविष्यवाणी की, वह आज भी जन अवधारणा के सर्वथा अनुरूप है—

"पर राजतन्त्र से समाधान—
होगा न मधुर मानवता का
मिट सकता इससे नहीं कभी,
अस्तित्व उच्चता-लघुता का।"[159]

'विदेह' महाकाव्य में कवि की वैज्ञानिक दृष्टि से अनुस्यूत अनेक प्रसंग राजा जनक के मुख से व्यंजित हुए हैं। कवि ने राजतन्त्रीय पद्धति को धर्मानुरक्ति तक ही परिसीमित बताया है। यथार्थतः वैज्ञानिक युग के जन सामान्य का दृष्टिकोण भी यही है। यथा—

"है मनुज अभी धर्मानुरक्त
इसलिए नृपति की शक्ति अभी जीवित भू पर
लेकिन जिस दिन चेतना सत्य की जागेगी
मानव अपना जिस दिन अस्तित्व सँभालेगा
उस दिन कोई भी व्यक्ति नहीं भूपति होगा
मानवता का सम्राट मुक्ति देगा सबको।"[160]

राजतन्त्र की भारतीय परम्परा में रामराज्य आदर्श माना गया है। जनसाधारण की अवधारणा भी यही रही है कि रामराज्य पुनः स्थापित हो। महाकाव्यकार श्री बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में—

"लोग राम को प्रभु कहते थे उनका अपना राम और था
प्रभु इच्छा से पूर्ण, उसी में उनकी इच्छा का सुठौर था।
परमकर्म योगी रहकर भी शान्ति राम ने कभी न खोई
वैसा हँस-मुख वैसा निरलस, उस युग में विरला था कोई।"[161]

रामराज्य के पश्चात् राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था निरंतर पतनोन्मुखी होती गई। 'लोकायतन' महाकाव्य में कविवर श्रीपंत ने रामराज्य को कृषि युग का श्रेष्ठ तंत्र घोषित किया है। लोक भावना के अनुसार रामराज्य के पश्चात् राजतन्त्र का सूर्य ओझल होता गया—

"राज्य तन्त्र का सूर्य क्षितिज में ओझल,
रामराज्य था कृषि-मन का युग दर्पण,

गत युग के जीवन मन के संचय को
जगद्धात्रि, लो करता तुम्हें समर्पण।"[162]

इस प्रजातन्त्र और समाजवाद के युग में राजतन्त्रीय शासन प्रणाली के प्रति जन अवधारणा विपरीत होती गई है। सन् 1947 में इस देश में अंग्रेजी शासन समाप्त हुआ। अंग्रेजों का राज्य समाप्त होते ही देशी रियासतों को भी समाप्त किया गया। 'मानवेन्द्र' महाकाव्य के कवि ने भारतीय रियासतों राजाओं के शासन तन्त्र की समाप्ति को भी उचित बताया है—

"स्वतन्त्रता के दीप देश को—राह दिखाने वाले।
प्रजातन्त्र को राजतन्त्र से—मुक्ति दिलाने वाले॥
इनके साथ ताजधारी सब—मुकुट चढ़ाने आये।
राजतन्त्र तज स्वतन्त्रता का—ध्वज फहराने आये।"[163]

उद्धृत काव्य प्रसंग व्यंजित करते हैं कि महाकाव्यकारों के मन में राजतन्त्रीय शासन पद्धति के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। उन्होंने विविध कथ्य प्रसंगों के माध्यम से इस व्यवस्था की विगर्हणा को ही उभारा है।

10 राजतन्त्र की उपलब्धियाँ

सुयोग्य राजाओं के राज्य में साहित्य, संगीत, कला, ज्ञान और विज्ञान के विकास को विशेष महत्त्व दिया जाता था। राजा विद्वानों और कलाकारों को राज्याश्रय देकर प्रोत्साहित करते थे। सामाजिक जीवन में उत्सवों का आयोजन राजा स्वयं करते थे और उनमें प्रजा भी सम्मिलित होती थी। स्वयंवर, वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, दीपावली, दशहरा आदि पर्वोत्सव राजा और प्रजा के सद्भाव की वृद्धि करने वाले थे। सम्राट विक्रमादित्य, हर्ष, समुद्रगुप्त आदि स्वयं विद्वान्, गुण-ग्राहक और कला मर्मज्ञ नरेश थे। उनके दरबार में विद्वानों और कलाकारों का सम्मान होता था। महाकवि कालिदास विक्रमादित्य के राजकवि थे। संक्षेप में राजतन्त्र की उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं—

(क) साहित्य, संगीत आदि कलाओं का प्रश्रय

महाराज धृतराष्ट्र की राजसभा में कला और साहित्य के प्रकर्ष के लिए विशेष विधान था। 'एकलव्य' महाकाव्य में कौरवराज धृतराष्ट्र की राजसभा में कला वैभव की अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है—

"राज सभा शोभित है। शक्ति के अपाग में
शोभा की छटा है। शिल्प जैसे ऋतुराज है।
प्रस्तर-स्तम्भों में खिलाए पुष्प जितने हैं
कलियों की एक एक पखड़ी है खिलती,
लतिका के बीच पुष्प, पुष्प बीच लतिका,
काव्य बीच कल्पना है, कल्पना में काव्य है।"[164]

सम्राट विक्रमादित्य ने कालिदास की नयी कविता सुनकर कवि प्रतिभा को पहचाना। उन्होंने कालिदास को राजकवि का पद दिया। कवि कालिदास को राज्याश्रय प्राप्त होने पर ही उनकी प्रतिभा का मुक्त विकास हुआ। यथा—

"मेधावी कवि को लखकर राजा ने किया विचार—
इन्हें राजकवि के पद पर बैठाकर लूं सत्कार—
रक्खा फिर विक्रमादित्य ने कवि सम्मुख प्रस्ताव
बोले कवि—'कवि नही चाहता बन्धन का उपहार
वह स्वतन्त्र है मुक्त विहग-सा वह है पारावार
कवि का काम सदा करना है समुचित कला विकास
नही बाँधना काव्य कला को अनुशासन के पाश'।"[105]

रामराज्य मे सब प्रकार के सुख सुलभ थे। ज्ञान विज्ञान और कला की उत्कर्ष अपने चरम विकास पर पहुँचा हुआ था। 'जानकी-जीवन' महाकाव्य मे कवि श्री राजाराम शुक्ल ने रामराज्य के विज्ञान और कला वैभव को चित्रित करते हुए लिखा है—

"सत्कला विज्ञान के विज्ञान से
देश दिव्यैश्वर्य श्री सम्पन्न था।
न्यूनता की न्यूनता ही थी जहाँ,
सौ गुना आयात से निर्यात था।"[106]

'वीरायन' महाकाव्य मे मिश्र जी ने महाभारतकालीन 'हस्तिनापुर' राज्य में विज्ञान के उत्कर्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"पहले भारत के वीरो का, उत्थान 'हस्तिनापुर' मे था।
विद्वान 'हस्तिनापुर' मे थे, विज्ञान 'हस्तिनापुर' मे था॥
थे 'कृष्ण' यहाँ थे 'व्यास' यहाँ, थे वीर यहाँ रणधीर यहाँ।
सब मिट्टी में मिल जाता है, रहता है, नही विवेक जहाँ।"[107]

मिथिला के राजा जनक स्वयं ज्ञानी तो थे ही, अन्य ऋषि-महर्षियो को भी उनके राज्य मे सम्मान और प्रश्रय प्राप्य था। महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी दोनों विदुषी पत्नियाँ उनके राज्य की शोभा थी। राजा विदेह ने ज्ञान चर्चा हेतु साधको, तपस्वियों और ज्ञानियों की सभा का आयोजन किया था और ब्रह्मनिष्ठ ऋषि को पुरस्कार देने की घोषणा की थी। यथा—

निश्चित बेला मे आमन्त्रित दार्शनिक वृन्द
आये सहर्ष मिथिला के सभा-भवन में अनुशासित पथ से धीरे-धीरे
निर्देशित आसन पर सबके सब बैठ गये
तब तक सिंहासन के सम्मुख विनयानुकूल नृप खड़े रहे
नेत्रो मे सम सम्मान लिए।

+ + +

ध्वनि की समाप्ति के बाद जनक ने कहा नम्रता के स्वर से—
हे अतिथि, सभासद, प्रजा वृन्द।
मैं स्वागत करता हूँ सबका श्रद्धा के कुसुमित भावों से
यह आर्यावर्त महान साधना औ' चरित्र का महादेश है—
युग-युग से
साधना ज्ञान से मानव ने पायी है अति सूक्ष्मानुभूति

+ + +

इसलिए जानना चाह रहा हूँ आज कौन है ब्रह्मनिष्ठ।"[168]

राजा जनक योगी तो थे ही, कला प्रिय भी थे। उनकी राजसभा में संगीत नृत्य आदि सभी कलाओं के पनपने का अवसर प्राप्त था। यथा—

"भू के इन्द्रासन पर बैठे योगी विदेह
देखते नृत्य के कला कुंज
बैठे हैं निकट नृपति के प्रिय ऋषि याज्ञवल्क्य
जो नयन मूंद कर सुनते हैं नूपुर-गुंजन,
संगीत, नाट्य कलरव, प्रसन्न।"[169]

मिथिला नगरी साहित्य, संगीत और कलाओं की केन्द्र स्थली थी। राजा जनक स्वयं इनके विकास के लिए सचेष्ट रहते थे—

'प्रिय सीर मुक्ति का केन्द्र स्थल
यह मिथिला है
सुन्दरता की नगरी विशाल
भव्यता, मधुरता का संगम
साहित्य-कला-संगीत त्रिवेणी का स्वरूप
जिसके अम्बर से झरती है कवितावलियाँ
खिलते जिसके भू पर नित कोमल काव्य कुसुम
जिसकी मिट्टी पर स्वयं प्रकृति की कला व्याप्त
जिसकी साँसों से ही संगीत निकलते हैं।
यह है विदेह का देश
जहाँ जीवन को भी जीवन मिलता
करते शुक-पिक भी बात देव भाषा में ही।"[170]

(ख) सामाजिक उत्सवों का समायोजन

राजकुमार शस्त्र और शास्त्र विद्या गुरुओं की देखरेख में सीखते थे। जब राजकुमारों की शिक्षा समाप्त होती थी, तो सामाजिकों के सम्मुख उनकी कुशाग्रता का प्रदर्शन होता था। यह एक प्रकार का सामाजिक उत्सव ही होता था जिसमें राजा-प्रजा का सम्पर्क होता था। कौरवों और पांडवों की शस्त्र-विद्या का प्रदर्शन किये जाने हेतु राजा धृतराष्ट्र के आदेश पर सामाजिक उत्सव आयोजित किया गया था—

'आज धार्तराष्ट्रों और पांडवों की शिक्षा का,
होने को प्रदर्शन है, जनता के सामने।
ऐसी धृतराष्ट्र श्री जनेश्वर की आज्ञा है
भारद्वाज द्रोण के विशेष अनुरोध से। [171]

राजा अपनी राजकुमारियों के विशिष्ट गुणों को ध्यान में रखते हुए योग्य वर की खोज करते थे। इस हेतु स्वयंवर के रूप में सामाजिक उत्सव आयोजित किये जाते थे। सीता, द्रौपदी, विद्योत्तमा दमयन्ती आदि राजकुमारियों के स्वयंवर आयोजित किये गये थे। इन उत्सवों का न केवल सामाजिक अपितु राष्ट्रीय महत्त्व भी था। कलिंगाधिप चित्रांगद ने भी अपनी राजकुमारी के विवाह हेतु स्वयंवर रचा था। इस उत्सव में तत्कालीन भारत के अनेक प्रसिद्ध राजा उपस्थित हुए थे। कलिंग की राजकुमारी ने दुर्योधन का वरण किया था। कवि के शब्दों में—

'बना सखोत्सव वरण महोत्सव नयनोत्सव था।
मंगल ध्वनिमय मंगल मानो मदनोत्सव था॥
वरासन स्थिति महास्वयंवर रंगस्थल में।
एक एक था बना स्वयं वर उस नृप दल में॥'' [172]

सम्राट हर्ष के समय में अनेक सामाजिक उत्सवों का आयोजन होता था। मदनोत्सव बसन्त ऋतु में आयोजित किया जाता था। इसी प्रकार शरदोत्सव भी आयोजित किया जाता था। महाकवि बाणभट्ट ऐसे ही शरदोत्सव में हर्ष द्वारा पुरस्कृत किये गये थे—

''कज्जल रज्जल बादल की बेला बीत गई
मेरी कविता साहित्य समर में जीत गई
वार्षिक शरदुत्सव आज सरस्वति के तट पर
आए कुमार ही आमन्त्रण देने घर पर।
जाते ही देखा, स्वयं हर्ष ही सभाध्यक्ष
कृष्णाग्रह से आसीन हुआ मैं नृप-समक्ष
स्नेहिल सुदृष्टि से देख देख वे मुस्काए,
अधरों पर किंचित विस्मित भाव उभर आए। [173]

राजा दशरथ ने पुत्रेष्ठि यज्ञ किया तो चौथेपन में उनकी तीन रानियों के चार पुत्र उत्पन्न हुए। इससे न केवल राजघराने में ही अपितु समस्त राज्यवासियों में प्रसन्नता की लहर उमड़ पड़ी। घर घर में राम जन्मोत्सव मनाया गया। यथा—

''अतिशय आनन्द विभोर आज सुखमय दशरथ
फूल ही फूल से शोभित उनका इच्छा पथ
सुन पुत्र जन्म-संवाद, हृदय मन में झकोर
हर्ष ही हर्ष की मन में बासन्ती हिलोर।
सादर सूचना वशिष्ठ पुरोहित को सत्वर
गूंजने लगे प्रिय वाद्य वृन्द पर मंगल स्वर

सम्पूर्ण नगर मे महोल्लास छा गया तुरत
दौड़ने लगे हर पथ पर सुन्दर रथ ही रथ
घर घर मे जन्मोत्सव के गायन मगलमय
हर ओर आज आनन्द तरंगित जय ही जय
लगता कि पुत्र का जन्म आज सबके घर मे
इतनी प्रसन्नता नर नारी के अन्तर मे।"[114]

निष्कर्ष—अन्तत. यह कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक जीवन मे राजतन्त्र की महत्वपूर्ण सुदीर्घ परम्परा रही है। वैदिक युग से लेकर मुगल काल तक इस देश मे राजतन्त्र प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहा। दशरथ, राम, पृथु भरत, हरिश्चन्द्र, कृष्ण, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, हर्ष आदि महान् राजा हुए, जिन्होने राजतन्त्र को गौरवान्वित किया है। सम्राट दशरथ की वीरता देवो को भी काम्य थी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम आज भी हमारे आदर्श हैं। न्यायी, उदार और सत्यप्रिय हरिश्चन्द्र को कैसे भुलाया जा सकता है? राजा जनक की ज्ञान गरिमा से महामुनि व्यास भी प्रभावित थे। विक्रमादित्य की वीरता और न्यायप्रियता हमारे जीवन मे घुलमिल गई है। गुप्तकाल के सम्राटो का स्वर्ण युग भारतीय इतिहास की धरोहर बन गया है। सम्राट हर्ष, पृथ्वीराज, झासी की रानी लक्ष्मीबाई—ये राजतन्त्र की शोभा की अन्तिम कड़ी हैं, जिन्हें भारतीय जन मानस गौरव से याद करता है। यद्यपि राजतन्त्र के साथ-साथ गणतन्त्रीय शासन प्रणाली भी प्रचलित रही है तथापि सामाजिक जीवन की मर्यादा, राजनीतिक स्थिरता, शाति, सुख समृद्धि, ज्ञान विज्ञान, साहित्य और कला की उन्नति भारत के राजाओ के शासन तन्त्र मे ही हुई है। आधुनिक युग मे राजतन्त्र अपना गौरव खो चुका है क्योंकि अब वैसे उत्तरदायी राजा नही होते हैं। यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत म लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई है। फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों के अधिकाश कथानको मे भारत के महान् राजाओ के जीवन चरितो की प्रासगिकता को स्वीकार किया गया है और इस स्वीकृति का मुख्य आधार राजतन्त्र का गुणात्मक उत्कर्ष ही है।

पाद टिप्पणी

1. स०पं० रामचन्द्र पाठक—आदर्श हिंदी शब्दकोश, पृ० 549
2. स० जयशंकर जोशी—हलायुध कोश, पृ० 324
3. स० कालिका प्रसाद—बृहद हिन्दी कोश
4. सं० सत्यप्रकाश बलभद्रप्रसाद मिश्र—मानक अग्रेजी हिन्दी कोश, पृ० 876
5. Monarch Gr Monos—alone+archein—to rule
   1 The heriditary head of a state, king, Queen etc
   2 A person or thing surpassing others of the same kind

3 A large migrating butterfly of N America

Monarchy A Government or a state headed by monarch

—*Webster's—New World Dictionary*, P 483

6 Monarchy—A kind of government of which there is a monarch a state with monarchical government, the territory of a *monarch*

—Chamber's 20th Century Dictionary P 847

7 Monarchy—Encyclopaedia Americana Vol, 19 P 336

8 Monarchy—Encyclopaedia Britanica Vol 15 P 686 687

9 Ibid

10 डॉ० सुभाष कश्यप तथा विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 267

11 म० महामहोपाध्याय गणेशदत्त शास्त्री—पदमचन्द्र कोश पृ० 527

12 I A Concise—Sanskrit English Dictionary P 1225

II P K Gode & C G Karve—Sanskrit English Dictionary, P 1670

13 शिलालेख—1, 6 स० स० 2, पंक्ति 5 (Rock Edict of Ashoka)

14 डॉ० रामशरण शर्मा—भारतीय सामन्तवाद पृ० 17

15 डॉ० कमला गुप्ता—हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद पृ० 18

16 डॉ० वासुदेवशरण शर्मा अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 155 219

17 डॉ० रामशरण शर्मा—भारतीय सामन्तवाद, पृ० 271

18 "His functions were three fold to give military protection to his lands and their inhabitants to organise agriculture industry and trade on these lands, to serve his liege lord or his king in war"

—Will Durrant—*The Story of Civilization* Part IV P 560

19 "A common partnership was recognised by bestowing of Jagirs in lieu of military or offer services by the vassis to their chiefs'

II "The feudal chiefs had great influence in political military and administrative organisation of the state"

—Dr G N Sharma—Social Life Medieval Rajasthan (1500-1800AD) P 86 87

20 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र, पृ० 279

21 वही, पृ० 283

22 वही, पृ० 285

23 ए० अप्पादोराय—राजनीतिसार (अनु० आशाराम) पृ० 129

24 हृदयनारायण समरवाल तथा रामभुनाथ गुप्त—राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० 427

25 जे० जे० रूसो—दि सोशल कान्ट्रैक्ट पृ० 62

26 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र, पृ० 357 359

27 समरवाल एवं गुप्त—राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० 428

28 रूसो—दी सोशल कान्ट्रैक्ट पृ० 62-63

29 डॉ० सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 17 18

30 Aristocracy 1 Originally government by the best citizens

2 Government by a privileged minority or upper class, usually of inherited wealth and social position
3 a country with this form of government oligarchy
4 a privileged ruling class, nobility
5 Those considered the best in some way, as an aristocracy of brains
6 aristocratic quality or spirit
—Webster's—New World Dictionary P 79

31 रामरतन एवं गुप्त—राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त पृ० 430 पर उद्धृत
32 वही
33 Democracy is a government of the peole for the people and by the people
—Abraham Lincoln
34 " a government in which the will of the majority of qualified citizens to constitute the great bulk of the inhabitants say, roughly, at least three fourts so that the physical force of the citizens coirscides (broadly speaking) with their voting power
—Lord Bryce—Moderd Democracies Vol I P 26
35 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र पृ० 368 370
36 एडी आशीर्वादम्—राजनीतिशास्त्र, पृ० 405
37 वही, पृ० 406-407
38 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र, पृ० 376 377
39 'Brahmadeva, the chief God thought over the matter and came to the conclusion that human society can survive only if a code of law was framed and enforced through instrumentality of a king He composed a comprehensive code, created an asexual sour named 'Virjas' appointed him king and men agreed to obey his orders"
—Dr A S Altekar—State and Government in ancient India P 13
40 वृन्दावनदास—प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृ० 89
41 वही, पृ० 48
42 *सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र पृ० 235*
43 एडी आशीर्वादम्—राजनीतिशास्त्र (अनु० गंगारत्न पांडेय), पृ० 64
44 रामजी उपाध्याय—प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 511
45 प्रो० अनन्त सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 55
46 राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥
—वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड, सर्ग 67, श्लोक 34

यमो वैश्रवण शक्रो वरुणश्च महा बल ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता व्रत ॥

—वही—सर्ग 67, श्लोक 35

47. डॉ० श्यामलाल पांडेय—अवतारवाद (रामायण और महाभारत कालीन), पृ० 4
48. वृन्दावनदास—प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृ० 148
49 प्रो० अनत सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 57-58
50 अराजकेहि लोके स्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम् सृजत् प्रभुः ॥

—मनुस्मृति—अध्याय 7, श्लोक 3

51. प्रो० अनत सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 61
52 वही, पृ० 63
53. डॉ० सुभाष काश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 267
54 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र, प० 236-237
55. पुखराज जैन—प्रमुख राजनीति विचारक, पृ० 28-30
56 पी० के० चड्ढा—प्रमुख राजनीतिक विचारक, पृ० 173
57. "Machiavelli was the first thinker to examine and analyse the characteristic of nation state and attempted to produce a theory of this political organism "

—Doyle—A History of Political Thought, P 128

58. अमरलाल एव गुप्ता—राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० 74
59 डॉ० सुभाष कश्यप एव विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 267-268
60 "ता ई विशो न राजानं वृणाना बीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन् ।" —ऋग्वेद—10 124|8
61 यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न ।
शतपथ ब्राह्मण—9 3|4-5
62 प्रो० अनत सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 49
63 प्रो० अनत सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 45
64 डॉ० श्यामलाल पाण्डे—अवतारवाद (रामायण और महाभारत कालीन), पृ० 29
[illegible] प्रो० अनत सदाशिव अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 64
66 श्री भगवानदास केला—साम्राज्य और उनका पतन, पृ० [illegible]
67. वृन्दावनदास—प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृ० 238
68 रतनचन्द शर्मा—निषादराज, पृ० 14
69 चाँदमल चन्द्र—कैकेयी, पृ० 82
70 वही, पृ० 83
71 डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र—रामराज्य, पृ० 118
72 वही—साकेत सत, पृ० 36
73. राजेश्वरी अग्रवाल—सीता समाधि, पृ० 21
74 साकेत सत, पृ० 55
75 श्यामनारायण प्रसाद—गुरु गोविन्दसिंह, पृ० 16
76 प० राजाराम शुक्ल—मानसी जीवन, पृ० 257
77 गुरु गोविन्दसिंह पृ० 54
78 लक्ष्मीनारायण मिश्र—सेनापति कर्ण, पृ० 61
79. बालकृष्ण शर्मा नवीन—उर्मिला, पृ० 240

80 आनंदकुमार—अंगराज, पृ० 62
81 वही, पृ० 62
82 रामखेलावन वर्मा—चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० 35
83 सीता समाधि, पृ० 15
84 पोद्दार रामावतार अरुण—विदेह, पृ० 141
85 रामराज्य, पृ० 29
86 अंगराज, पृ० 92
87 अंगराज, पृ० 95
88 चन्द्रगुप्त मौर्य पृ० 9
89 डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय—आंजनेय, पृ० 176
90 पोद्दार रामअवतार अरुण— अरुण रामायण, पृ० 106 107
91. मैथिलीशरण गुप्त—जयभारत, पृ० 139
92 गुरु गोविन्दसिंह, पृ० 15-16
93 उदयभानु हंस—संत सिपाही, पृ० 35
94 रामराज्य, पृ० 66
95 बाणाम्बरी, पृ० 219
96 अरुण रामायण, पृ० 249
97 रघुवीरशरण मित्र—वीरायन, पृ० 26
98 अरुण रामायण, पृ० 53
99 विदेह, पृ० 197
100 कैकेयी, पृ० 86
101 अरुण रामायण, पृ० 110
102 वीरायन, पृ० 89
103 गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—तारकवध पृ० 342
104 तारकवध, पृ० 360
105 श्यामनारायण प्रसाद—झाँसी की रानी, पृ० 109
106 केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'—कैकेयी, पृ० 17
107 कैकेयी, पृ० 40
108 जानकी जीवन, पृ० 98
109 ताराचंद हारीत—दमयन्ती, पृ० 51
110 अंगराज पृ० 38
111 डॉ० रामानंद तिवारी शास्त्री भारती नंदन—पार्वती, पृ० 49
112 वही, पृ० 50
113 दमयन्ती, पृ० 304
114 ठाकुर गोपालशरण सिंह—जगदालोक, प 13
115 सुमित्रानंदन पंत—लोकायतन, पृ० 10
116 बाणाम्बरी पृ० 208
117 अनूप शर्मा—वर्द्धमान, 42
118 वीरायन, पृ० 308
119 रतनचन्द्र शर्मा—निषादराज, पृ० 35
120 आंजनेय, पृ० 61
121 अरुण रामायण, पृ० 7

122. अरुण रामायण, पृ० 109
123. वही, पृ० 147
124. उर्मिला, पृ० 21
125 कैकेयी, पृ० 47
126 दमयन्ती, पृ० 27
127 साकेत सन्त, पृ० 65
128 रामराज्य, पृ० 137
129 रामराज्य पृ० 141
130 *वीरेन्द्र प्रसाद जैन—तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ० 25*
131 चन्द्रगुप्त मौर्य पृ० 535
132 विदेह, पृ० 105
133 रामराज्य, पृ० 53
134 बाणाम्बरी पृ० 258
135 रामराज्य, पृ० 100
136 झाँसी की रानी, पृ० 211
137 बाणाम्बरी, पृ० 260
138 मैथिलीशरण गुप्त—जयभारत, पृ० 372
139 चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० 541
140 चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० 539
141 साकेत सन्त, पृ० 34
142 वही, पृ० 35
143 जानकी जीवन, पृ० 101
144 वही, पृ० 128
145 जयभारत, पृ० 268
146 विदेह, पृ० 65
147 निषादराज, पृ० 14
148 अंगराज, पृ० 120
149 दमयन्ती, पृ० 21
150 विदेह, पृ० 66
151 वही, पृ० 65
152 कैकेयी, पृ० 33
153 *रामराज्य, पृ० 147*
154 जयभारत, पृ० 153
155 आंजनेय, पृ० 103
156 जानकी जीवन पृ० 103
157 नवकिशोर झा—त्रिपथगा, पृ० 212
158 विदेह, पृ० 198
159 पोद्दार रामावतार अरुण—महाभारती, पृ० 474
160 विदेह पृ० 26
161 *रामराज्य पृ० 147*
162 नारायन, पृ० 11
163 रघुवीरशरण मित्र—मानवेन्द्र, पृ० 514

164. रामकुमार वर्मा—एकलव्य, पृ० 30
165. श्री विमल—कालिदास, पृ० 153-164
166 जानकी जीवन, पृ० 321
167. वीरायन, पृ० 72
168 विदेह, पृ० 42-43
169. वही, पृ० 59
170 विदेह, पृ० 128
171. एकलव्य, पृ० 100
172. अपराध, पृ० 54
173. बाणाम्बरी, पृ० 225-226
174 अरुण रामायण, पृ० १

4

लोकतान्त्रिक सामाजवादी चेतना

समाजवाद—स्वरूप, परिभाषा और मूल तत्त्व

समाजवाद शब्द की उत्पत्ति 'सोसियस' (Socius) शब्द से हुई है जिसका अर्थ समाज है। समाजवाद का सम्बन्ध समाज के समग्र स्वरूप मे सुधार लाने से है। वर्तमान युग मे समाजवाद एक राजनीतिक विचारधारा ही नही अपितु समाज-दर्शन के रूप मे भी उतरा है। वैसे समाजवाद शब्द इतना लचीला हो गया है कि इसे किसी परिभाषा मे बाँधना कठिन है। आज प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को समाजवादी कहता है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो सबका कल्याण चाहती है, जो व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन समझती है, जो लाभ के स्थान पर सेवाभाव पर बल देती है, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और स्वतन्त्र प्रतियोगिता की विरोधी है, जो शोषण, अन्याय, गम्भीर आर्थिक असमानताओं तथा अन्य सामाजिक बुराइयों का अन्त चाहती है, जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक उपलब्धियों को सामान्य लाभ के लिए प्रयोग मे लाना चाहती है, जो कम-से-कम बड़े उद्योगो का समाजीकरण चाहती है, जो सबको विकास का समान अवसर प्रदान करना चाहती है।

'समाजवाद' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'सोशलिज्म' (Socialism) है। राजनीति-कोश मे 'समाजवाद' शब्द एवं उसके अर्थगत प्रयोगो का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि 'सोशलिज्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1822 मे सेंट साइमन के अनुयायियो के लिए किया गया था। कुछ अंग्रेजी विद्वानो के अनुसार 'लदन कोआपरेटिव मैगजीन' में 1876 मे प्रथम प्रयोग किया गया और इसके कुछ वर्ष बाद ही राबर्ट ओवेन के अनुयायी अपने आपको 'समाजवादी' कहने लगे। 1835 मे पियरेलेरो ने एनसाइक्लोपीडिया नूवेल मे समाजवाद पर लेख लिखा था। उसमें उसने समाजवाद को व्यक्तिवाद विरोधी विचारधारा बताया है। सन् 1840 तक 'समाजवाद' शब्द का समूचे यूरोप मे प्रयोग होने लगा और व्यापक रूप से इसका अर्थ—उत्पादन के साधनों, पूंजी, भूमि अथवा सम्पत्ति पर समूचे समाज का नियंत्रण अथवा स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रशासन सबके हितों को ध्यान मे रखकर किया जाना चाहिए।[1] हेर वेबल का अभिमत है कि वास्तव मे समाजवाद-दर्शन का अर्थ समस्त विश्व है। धर्म के क्षेत्र मे इसका तात्पर्य नास्तिकता से, राज्य के क्षेत्र मे लोकतन्त्रात्मक गणराज्य से, उद्योग के क्षेत्र मे समष्टिवाद से, नैतिकता के क्षेत्र मे अनन्त आशावाद से, अध्यात्म दर्शन के क्षेत्र

में प्राकृतिक भौतिकवाद न तथा पारिवारिक जीवन के विस्तार और वैवाहिक सम्बन्धों के अन्त से है।[3]

परिभाषाएं

मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश में समाजवाद को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—(1) समाजवाद, समाजतन्त्र—वह सिद्धान्त जिसके अनुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक हित के आगे गौण होती है। (2) प्रतियोगी उत्पादन के स्थान पर सहकारी पद्धति, भूमि एवं पूंजी पर राष्ट्रीय स्वामित्व उत्पादन का राज्य द्वारा वितरण, (3) निःशुल्क शिक्षा तथा बच्चों का भरण-पोषण दाय भाग (उत्तराधिकार) का उन्मूलन।[4]

जी० डी० एच कोल के अनुसार समाजवाद परस्पर निकटतम सम्बन्धित चार बिन्दुओं में निहित है—

1 एक मानवीय समुदाय जिसमें वर्ग भेद को समाप्त कर दिया गया हो।

2. एक सामाजिक प्रणाली जिसम कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी से न तो इतना अमीर और न इतना गरीब हो कि उनका परस्पर समान रूप से मेल न हो सके।

3 उत्पादन के समस्त साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व एवं उपयोग।

4 समाज के समस्त नागरिक अपनी क्षमताओं के अनुसार एक दूसरे की सेवा करें।[5]

वैबस्टर शब्दकोश के अनुसार "समाजवाद सामाजिक संगठन के सामूहिक अथवा सरकारी स्वामित्व और वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण के लिए लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनिवार्य साधनों पर आधारित राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त है। अथवा यह (समाजवाद) एक नीति या व्यवहार है जो उपर्युक्त सिद्धान्तों पर आधारित है। समाजवाद का उद्देश्य प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग, लाभ कमाने के स्थान पर सामाजिक सेवा तथा सभी को आय और सामाजिक अवसर अधिक समान रूप से उपलब्ध करना है।'[5]

'दर्शन-कोश' में समाजवाद की व्याख्या इन शब्दों में की गयी है—'समाजवाद ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित है। यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करती है। समाजवाद दो प्रकार के स्वामित्वों से निर्मित होता है—सार्वजनिक स्वामित्व एवं सहयोग तथा सामूहिक स्वामित्व। सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत शोषक वर्ग नहीं होते और मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण नहीं होता तथा उत्पादन में लगे मजदूरों में परस्पर सहायता और मैत्रीपूर्ण सहयोग के सम्बन्ध होते हैं।[6]

समाजवाद में किसी प्रकार का सामाजिक उत्पीड़न नहीं होता, न विभिन्न जातियों में असमानता होती है, न नगर और गांवों में विरोध होता है और न मानसिक एवं शारीरिक श्रम में ही किसी प्रकार का विभेद किया जाता है। समाजवादी समाज

मे केवल दो ही मैत्रीपूर्ण वर्ग होते हैं—एक मजदूर और सामूहिक खेती करने वाले किसान तथा दूसरे बुद्धिजीवी वर्ग। क्रमश इन दोनो वर्गों मे भिन्नता समाप्त हो जाती है। समाजवाद मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था योजनाबद्ध होती है। सामाजिक उत्पादन के विकास और सुधार का उद्देश्य जनजीवन की भौतिक एव सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है। इस प्रकार समाजवाद मे उत्पादन के साधनो के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त हो जाता है। इससे व्यक्तिगत लाभ का भी अन्त हो जाता है और शोषक वर्ग का अस्तित्व मिट जाता है। समाजवाद का मूल आधार आर्थिक है।

ब्रिटानिका विश्वकोश के अनुसार समाजवाद व्यापक सिद्धान्त समूह और विश्वव्यापी आन्दोलन दोनो के लिए प्रयुक्त होता है जिसने विविध रूप धारण किये हैं। समाजवाद ऐतिहासिक विकास के दौर मे विभिन्न परिस्थितियो म बदलता रहा है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि समाजवाद मुख्य रूप ■ एक सिद्धान्त और आन्दोलन है जिसका उद्देश्य उत्पादन और वितरण के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व और नियन्त्रण द्वारा जन सामान्य के हित के लिए समाज का सामूहिक सगठन करना है।[7] समाजवाद की कानूनी एव व्यावहारिक परिभाषा यही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की पूर्णतया अन्त करके उस सार्वजनिक सपत्ति मे परिवर्तित कर दिया जाय और आय का सभी लोगो मे समान वितरण कर दिया जाय।[8]

समाजवाद व्यक्तिवाद के विरोध मे सामाजिक जीवन को महत्त्व देता है। समाजवाद मे व्यक्तिवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न सभी विषमताओ और बुराइयो का अन्त हो जाता है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि समाजवाद मे लोकतन्त्र को कोई स्थान नहीं होता। सार्वजनिक सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार होता है और सरकार सर्वाधिकारी होती है। समाजवादी कहे जाने वाले देशो—चीन, रूस, युगोस्लाविया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया आदि मे राजनीतिक सत्ता एक ही दल के हाथो मे रहती है। इसस लोकतन्त्र के सिद्धान्त को आघात पहुँचता है और व्यक्तिगत विकास म बाधा उत्पन्न होती है किन्तु समाजवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो सार्वजनिक कल्याण पर आधारित है। फ्रास, ब्रिटेन, अमेरिका, भारत आदि ■ जिस प्रकार की लोकतान्त्रिक व्यवस्था देखने को मिलती है वैसा लोकतन्त्र वास्तव मे सुविधा सम्पन्न लोगो के हितो के लिए ही उपयुक्त है। वास्तविक लोकतन्त्र तो समाजवादी समाज व्यवस्था मे ही व्यवहृत हो सकता है। समाजवादी समाज की रचना व्यापक लोकतन्त्र पर आधारित है, जिसमे राज्य के सभी श्रमिक वर्ग क्रियाशील रहते हैं। समाजवादी लोकतन्त्र म सभी सामाजिक अधिकार उपलब्ध होते हैं जैसे श्रम करने, विश्राम करने और अवकाश के समय का अधिकार, नि शुल्क शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार, वृद्धावस्था मे सुरक्षा का अधिकार, स्त्री-पुरुषो और सभी जातियो के नागरिकों को समान अधिकार, राजनीतिक स्वतन्त्रता जैसे भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतत्रता, सभा करने की स्वतन्त्रता, निर्वाचित करने और निर्वाचित होने की स्वतन्त्रता का अधिकार।[9] पूँजीवादी देशो मे राजशक्ति उन लोगों के हाथो मे होती है जो आर्थिक जीवन का सचालन एव नियत्रण करते हैं। जिस आदमी के पास पूँजी नहीं है, जो

अपना पेट पालने के लिए किसी पूँजीपति के अधीन कार्य करने के लिए विवश है, जो सामाजिक रचना के दूषित होने के कारण अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक प्राप्त नहीं करता, उसे केवल वोट का अधिकार मिल जाने से ही वह पूँजीपति के बराबर नहीं हो जाता।[10] वस्तुतः "एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में समाजवाद समाज की सभी उपलब्धियों में कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित करता है। यद्यपि प्राप्त निष्कर्ष प्रत्यक्ष ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित होते हैं तथापि परोक्ष में सभी सामाजिक परिवर्तन और उनके हेतु असमानता तथा वर्ग संघर्ष से उद्भूत दिखाई पड़ते हैं। अतः कहा जा सकता है कि समाजवाद अपने आन्तरिक परिवेश में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का पर्याय है तथा बाह्य रूप में प्रगतिशील विश्व रथ का कल्याण पथ पर परिचालित करने वाला सारथी और उस पर आरूढ़ मानवीय अधिकारों—स्वतन्त्रता, समानता, प्रेम एवं उत्थानमूलक वैतन्यता का रक्षक है।"[11]

समाजवाद के मूल तत्त्व

राजनीति कोश में समाजवाद के जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

1. व्यक्तियों के जीवन में सामाजिक पहलुओं पर बल दिया जाय। व्यक्ति को निस्संग एकाकी प्राणी न मानकर समाज का अंग माना जाय। इस दृष्टि से सरकार के विभिन्न कार्यकलाप सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखकर हों।
2. पूँजीवाद मानव जाति का चिर शत्रु है। कभी यह प्रगतिशील रहा हो किन्तु अब उपयोगी नहीं रहा। अतः उसका विनाश होने में ही मानव जाति का कल्याण है।
3. पूँजीवाद के विपरीत समाजवाद में स्पर्धा के स्थान पर सहयोग का समर्थन होता है।
4. समाजवाद में आर्थिक समता में स्थापित करने का प्रयत्न किया जाएगा क्योंकि आर्थिक समता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता।
5. समाजवाद में उत्पादन और वितरण के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होगा जिससे समाज के सभी लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।[12]

मेरे विचार से समाजवाद के मूल तत्त्व निम्नलिखित हो सकते हैं—

1. सामाजिक प्रभुत्व का पक्षधर

समाजवाद का शाब्दिक अर्थ भी यही होता है कि ऐसी विचारधारा या ऐसा दर्शन जो व्यक्तिवाद के स्थान पर सामाजिक दर्शन की श्रेष्ठता को महत्त्व देता हो। समाज के सामूहिक प्रयास से ही व्यक्तियों का कल्याण होता है अतः व्यक्ति से समाज अधिक महान् और उच्चतर होता है।

2 व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त

समाजवाद में पूँजीवाद की विषमताओं को कोई स्थान नहीं है। पूंजीवाद शोषण और व्यक्तिगत लाभ की व्यवस्था पर टिका होता है। इसके विपरीत समाजवाद में निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो जाता है और श्रमिक वर्ग को उनके श्रम का पूरा लाभ प्राप्त होता है।

3 प्रतियोगिता के स्थान पर परस्पर सहयोग को मान्यता देना

पूंजीवादी समाज व्यवस्था में स्वतन्त्र प्रतियोगिता को प्रश्रय मिला होता है। इससे कमजोर वर्ग धनी और उच्च वर्ग का मुकाबला नहीं कर पाते। इससे एकाधिकार-वादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और समाज मे आर्थिक वर्ग बन जाते हैं। समाजवाद न केवल आर्थिक प्रतियोगिताओं को समाप्त करता है अपितु समाज के किसी भी विशिष्ट वर्ग की श्रेष्ठता का भी अन्त करता है। सामाजिक जीवन का विकास परस्पर सहयोग से ही सम्भव होता है, न कि प्रतियोगिता से।

4 समता और स्वतन्त्रता समाजवाद के सुदृढ़ स्तम्भ हैं

समाज में अमीर और गरीब स्त्री पुरुष उच्च और निम्न जितने भी वर्ग हो उनको दूर करके सबकी समानता स्थापित की जाती है। वर्गहीन समाज मे ही वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग किया जा सकता है। समाजवाद म ही श्रमिकों को सामाजिक न्याय प्राप्त होता है और उनको विकास के पर्याप्त अवसर मिलते है।

5 उत्पादन के साधनो पर सामाजिक नियन्त्रण

समाजवादी समाज मे सभी प्रकार की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण होने स उत्पादन के साधनों पर समाज का ही नियन्त्रण होता है। निजी उद्योग व्यक्ति का शोषण करते हैं और पूँजीवाद को इसम प्रश्रय मिलता है। अत उत्पादन के साधनो पर समाज का आधिपत्य होने से उपभोक्ता वस्तुएँ सभी को समान रूप स उपलब्ध होती हैं और सबको सावजनिक सेवाओं का समान रूप से लाभ मिलता है।

6 समाजवाद राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता का पक्षधर है

पूँजीवादी अथवा व्यक्तिवादी समाज व्यवस्था म आम व्यक्ति को कागजी स्वतन्त्रता तो प्राप्त होती है किन्तु व्यवहार में वह जातीय श्रेष्ठता, आर्थिक सम्पन्नता और राजनीतिक पद के सामने कठपुतली के समान व्यक्तित्वहीन हो जाता है और उसके लिए स्वतन्त्रता महज धोखा मात्र होती है।

समाजवाद और लोकतन्त्र

समाजवाद अपने प्रारम्भिक रूप मे एक विचारधारा के रूप मे प्रचलित हुआ था जिसम व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के द्वारा उत्पन्न सामाजिक विकृतियो और

विषमताओं को दूर करने के लिए सामाजिक सर्वोपरिता की बात कही गयी थी। व्यक्तिवादी और पूँजीवादी समाज व्यवस्था मे व्यक्ति और पूंजी को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि समाज विशृंखलित होने लगा। राजा, सामन्त सेठ-साहूकार या अन्य पदाधिकारी अथवा जातीय उच्चता के पक्षधर समाज मे विशिष्ट व्यक्ति माने जाते रहे हैं और उन्होंने मात्र अपने निहित स्वार्थों की ही पूर्ति की है। इससे मानव समाज खण्ड खण्ड होने लगा। जाति, धर्म, कुल, सम्पत्ति, ऐश्वर्य-वैभव के कारण समाज मे अल्पसख्यकों की ही सत्ता रही और ये हजारो वर्षों से बहुसख्यक जन समुदाय का हर प्रकार से शोषण करते रहे हैं। समय समय पर समाजवादी विचारधारा ने हर प्रकार की विषमता, शोषण प्रवृत्ति और श्रेष्ठता को चुनौती दी है। इस प्रकार अपने विकास के वर्तमान रूप में समाजवाद ने एक व्यापक जीवन दर्शन का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। वैसे समाजवाद सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सगठन की आधुनिक विचार-धारा है जिसके प्रवर्तन का श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एगेल्स को है।[13]

वर्ग मुक्त समाज मे लोकतन्त्र शासन पद्धति को मान्यता दी गयी है। इग्लैण्ड, अमेरिका, भारत, पश्चिम जर्मनी, जापान, फ्रास आदि देशो मे लोकतन्त्र शासन प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इन देशों मे लोकतन्त्र कागजी है और लोकतन्त्र के नाम पर सुविधा सम्पन्न लोग ही सत्ता मे पहुँच पाते हैं और समाज मे आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक विषमताएँ बरकरार रहती हैं। भारतीय राष्ट्र मे लोकतात्रिक शासन प्रणाली का अव-लोकन करके यही सिद्ध होता है कि आम आदमी के लिए निर्वाचित हो सकना कितना कठिन है। बुर्जुआ समाज मे लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली बुर्जुआ वर्ग के हितो का रक्षण करती है। वैसे इस वर्ग द्वारा सविधान रचना, ससद का निर्माण और अन्य प्रतिनिधि सस्थाएँ बनायी जाती हैं और आम लोगो के दबाव के कारण वयस्क मताधिकार तथा औपचारिक राजनीतिक स्वतन्त्रताओं की घोषणा की जाती है, परन्तु व्यवहारिक रूप में अधिसख्यक जनता इन लोकतात्रिक अधिकारो से कदम-कदम पर वचित कर दी जाती है। "समाजवादी लोकतन्त्र लोकतन्त्र का सर्वोच्च स्वरूप है। यही अधिसख्यक लोगो का उचित लोकतन्त्र है जो श्रमिक वर्ग के हितो की रक्षा करता है। आर्थिक रूप से यह उत्पादन के साधनो पर सामाजिक आधिपत्य का आधार लिए हुए है। सर्वप्रथम वास्तविक रूप से व्यापक, प्रत्यक्ष और समता के आधार पर गुप्त मतदान पद्धति समाज-वादी रूस मे प्रारम्भ की गयी थी। समाजवादी लोकतन्त्र मे सभी नागरिको को सवै-धानिक अधिकारो की प्राप्ति का अधिकार होता है। समाजवादी लोकतन्त्र मे श्रमिक वर्ग को बिना किसी भेदभाव के आर्थिक सुरक्षा का अधिकार प्राप्त होता है।"[14] प्रो० सीले के अनुसार लोकतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति शासन मे हाथ बटाता है। डायसी के अनुसार लोकतन्त्र शासन उसे कहते हैं जिसमे राजशक्ति सम्पूर्ण जनता के आपेक्षिक दृष्टि से बड़े भाग के हाथो मे हो। लार्ड ब्राइस कहते हैं कि लोकतन्त्र पद्धति मे शासन शक्ति सम्पूर्ण जन समाज के सदस्यो मे निहित होती है जो वोट द्वारा उसका प्रयोग करते हैं।[15] 'सोशलिस्ट इंटरनेशनल' की उद्घोषित मान्यता है कि बिना लोकतन्त्र के समाजवाद का अस्तित्व असम्भव है और एक आर्थिक व्यवस्था को जो सर्वाधिकारवादी

या तानाशाही राज्य के रूप में कार्य करे, समाजवादी समाज का नाम देना मिथ्या बात होगी।[16] डा० हर्नशा के अनुसार लोकतांत्रिक समाज वह है जिसमें समानता की भावना प्रबल हो तथा जिसमें समानता का सिद्धान्त परिव्याप्त रहता हो।[17] निश्चय ही लोकतांत्रिक समाजवाद, समाजवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

समाजवाद और पूंजीवाद

पूंजीवाद सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित समाज की संरचना है जो सामन्तवाद के स्थान पर प्रतिष्ठित हुई। पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत प्रभुत्व होता है और मजदूर वर्ग का शोषण होता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आधारभूत नियम है। पूंजीवाद की प्रवृत्तियाँ उत्पादन में अराजकता, सामयिक गतिरोध, दीर्घ स्थायी बेरोजगारी बहुसंख्यक जनता की गरीबी, प्रतियोगिता और युद्ध है।[18] पूंजीवाद का उद्‌भव सोलहवीं शताब्दी में हुआ और समाज के विकास में इसका प्रगतिशील योगदान रहा। सामन्तवादी समाज व्यवस्था को बदलने में पूंजीवाद ही सफल हुआ। पूंजीवादी विकास के दौर में पूंजीवादी के विरोधी तत्व उभरे और वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हुआ। पूंजीपतियों, बिचौलियों आदि के साथ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष बढ़ता गया और द्वितीय महायुद्ध के रूप में पूंजीवादी साम्राज्यवाद प्रकट हुआ। वर्तमान समय में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली एकाधिकार वादी हो गयी है। पूंजीवाद में स्वयं गतिरोध उत्पन्न हो जाने से इसका ह्रास होने लगा और समाजवादी स्वरूप का उद्‌भव और विकास हुआ। इस प्रकार मानव विकास के ऐतिहासिक दौर में पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर समाजवाद प्रतिस्थापित हुआ है। रूस, चीन, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया आदि देशों में समाजवादी व्यवस्था का निर्माण हो रहा है।

समाजवाद और गांधीवाद

समाजवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारदर्शन है जो मानव के सतत संघर्षशील विकासक्रम का परिणाम है। समाजवाद में व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ निहित हैं। यदि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है तो उसे समाजवादी जीवन पद्धति में ही वास्तविक न्याय, समता, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र आदि की उपलब्धि हो सकती है। समाजवाद क्रांतिकारी और गतिशील सिद्धान्तों पर आधारित है। दूसरी ओर गांधीवाद गांधीजी के विचारों का समुच्चय है। बी० पी० सीतारमैया के शब्दों में "गांधीवाद सिद्धान्तों का, मतों का, नियमों का, विनियमों का और आदेशों का समूह नहीं हैं, प्रत्युत वह एक जीवन शैली या जीवन दर्शन है। यह एक नई दिशा की ओर संकेत करती है तथा मनुष्य के जीवन तथा समस्याओं के लिए प्राचीन समाधान प्रस्तुत करती है।"[19] गांधीवाद के मूल सिद्धान्त सत्य, अहिंसा, प्रेम, भ्रातृ भाव आदि हैं। इसे वाद न कहकर जीवन में एक प्रयोग के रूप में एक तरीका समझना चाहिए। गांधीवाद एक ऐसा वाद है जो सबके कल्याण की बात करता है, हिंसक शस्त्रों के स्थान पर

अहिंसक मार्ग को अधिक श्रेष्ठ मानता है, शत्रुता के स्थान पर मित्रता और घृणा के स्थान पर प्रेम का सबक सिखाता है, इसमें कार्य की प्रेरणा का स्रोत सत्य, धर्म और ईश्वर है। इसमें छल, कपट, स्वार्थ, क्रूरता, हिंसा, द्वेष इत्यादि विकृत प्रवृत्तियों को स्थान नहीं। गांधीवाद यह स्वीकार करता है तथा इस पर बल देता है कि जितनी मात्रा में साधनों की पवित्रता, शुद्धता होगी उतनी ही मात्रा में साध्य पवित्र और श्रेष्ठकर होगा।[30]

गांधीवाद में समाज को क्रांतिकारी ढंग से बदलने की सम्भावनाएँ नहीं होती। गांधीवाद शोषकों से उनके शोषण का अधिकार छीनने के पक्ष में नहीं है। गांधीवाद-विचार था कि सामाजिक प्रगति लोगों की आवश्यकताओं के बढ़ने में नहीं है बल्कि उन आवश्यकताओं को संयम द्वारा कम करने में है। गांधीवाद सामाजिक राजनीतिक समस्याओं का हल नैतिक स्तर पर ढूंढता है। गांधीवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि भारतीय चिंतन और प्रमुख रूप से जैन धर्म रहा है। गांधीवाद में व्यक्ति के अथवा समाज के अथवा विकास के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाता है। अन्ततः गांधीवाद की परिणति व्यक्तिवाद के चरम विकास में हो सकती है। इसमें व्यक्ति के संघर्षहीन स्वरूप को सर्वथा अस्वीकार किया गया है। किशोरीलाल मशरूवाला ने लिखा है कि गांधीवाद हिंसारहित मार्क्सवाद है। गांधीवाद आध्यात्मिक मूल्यों (नैतिकता, धर्म, सत्य, अहिंसा) पर आधारित है, ईश्वर श्रद्धा और ईश्वर विश्वास इसके मूल आधार हैं, धर्म उसका प्राण है, परोपकारिता अर्थात् मानव मात्र की निःस्वार्थ सेवा आत्मसिद्धि का मुख्य साधन है।[31]

समाजवाद और साम्यवाद

समाजवाद गतिशील समाज का समग्र दर्शन है। समाजवादी दर्शन का विकास पूंजीवाद से संघर्ष करने के परिणामस्वरूप उद्भूत हुआ। समाजवाद के दो प्रमुख कार्य हैं—(क) समाज को पूंजीवादी विकृतियों, विषमताओं, शोषण आदि से मुक्त कर सबको उनकी योग्यता के अनुसार कार्य देना और विकास के साधन उपलब्ध कराना। (ख) वर्गहीन समाज की स्थापना करना जिसमें व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार समस्त सुविधाएँ प्राप्त हों। अर्थात् समाजवाद की परिणति साम्यवाद में हो सके।

साम्यवाद एक वैज्ञानिक दर्शन है जो ऐतिहासिक विकास के नियमों पर आधारित है। इसकी स्थापना कार्ल मार्क्स ने की थी। साम्यवाद में किसी राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं होगी। समाजवाद में मजदूर और किसान वर्ग में थोड़ा अन्तर रहता है। जब साम्यवादी समाज का निर्माण हो जाता है तो इस प्रकार का विभेद समाप्त हो जाता है। उत्पादन की शक्तियों के समुचित विकास की परिणति में मजदूर, किसान और बौद्धिक वर्ग के सभी विभेद समाप्त हो जाते हैं। साम्यवादी समाज में राजनीतिक और वैधानिक संस्थाएँ और विचारधाराएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। सभी लोग स्वेच्छा से अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंगे। विवेक पर

आधारित आंतरिक संयम ही उनके जीवन को संचालित करेगा। विश्व के समस्त राष्ट्रों में सभी प्रकार के भेद समाप्त हो जायेंगे।

समाजवाद सामाजिक स्थिति का एक दौर है जिसमें पूंजीवाद का अस्तित्व खत्म हो जाता है। उसमें आदमी आदमी का शोषण नहीं कर सकता और हरएक सबकी जिन्दगी को अच्छी और सुन्दर बनाने के लिए काम करता है। समाजवादी दौर में भी समाज के कामों को संगठित करने के लिए राज-यन्त्र की आवश्यकता बनी रहती है। यह राज यन्त्र पूरी तरह से काम करने वालों के हाथ में रहता है। इस दौर में जनता के जीवन व स्तरों में कुछ भेद भी बने रहते हैं। जो लोग समाज की सेवा के लिए अधिक काम करते हैं उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक मिलता है। कम्युनिज्म समाज का एक ऊँचा दौर है। वह समाजवाद के बाद की प्रगति है। कम्युनिज्म समाजवाद के सफल हो जाने पर ही मुमकिन हो सकेगा अर्थात् समाज की तमाम भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफी पैदावार बढ़ा सकने पर ही वह मुमकिन हो सकेगा।[22]

मार्क्सवादी साम्यवाद या मार्क्सवाद आधुनिक क्रांतिकारी चिन्तनशील धारा है। यह एक भौतिकवादी जीवन दर्शन है जो परोक्ष चिंतन की अपेक्षा भौतिक सम्पन्नता-मय, स्वस्थ सामाजिक जीवन को ही अपना लक्ष्य मानता है।[23] डॉ० हरिकृष्ण पुरोहित के शब्दों में मार्क्सवाद विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियों का वह घोषित सिद्धांत है जिसके आधार पर वे अपनी राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक योजनाओं को निर्मित कर सर्वहारा क्रांति की सफलता के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।[24] डॉ० रणजीत लिखते हैं कि मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद, दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और समाजशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है।[25]

समाजवाद और अराजकतावाद

अराजकतावाद एक सामाजिक-राजनीतिक बुर्जुआ अवधारणा है जो सब प्रकार की सत्ता (सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के भी विरुद्ध है) और बड़े पैमाने पर उत्पादन के आधार पर होने वाली सामाजिक प्रगति के लिए छोटे-छोटे निजी स्वामित्व के हितों का विरोध करता है। अराजकतावाद का दार्शनिक आधार व्यक्तिवाद, आत्मवाद और स्वेच्छाचारिता में निहित है। अंग्रेजी में 'anarchy' शब्द का अर्थ प्रायः गड़बड़ के अर्थ में लिया जाता है परन्तु मूल शब्द ग्रीक भाषा का है और उसका अर्थ बगावत नहीं, बल्कि बंधन न होना है।[26] काफर के अराजकतावाद में राज्य को महाविनाशक और अपराधी समझा गया है। काफर के शब्दों में अराजकतावाद का सिद्धांत यह है कि राजनीतिक सत्ता किसी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धांतिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावाद का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि अराजकतावाद

जीवन और व्यवहार का एक सिद्धांत है जिसमे समाज राजसत्ता रहित होगा। उस समाज में सामजस्य स्थापित करने के लिए किसी कानून या सत्ता की आवश्यकता नहीं होगी। यह सामजस्य उत्पादन और उपभोग तथा एक सभ्य नागरिक की विविध तथा अनन्त आवश्यकताओ और आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए स्वतंत्र रूप से संगठित विभिन्न क्षेत्रीय एवं व्यावसायिक समुदायों के स्वतंत्र समझौतो से उत्पन्न होगा।[27]

अराजकतावाद के प्रमुख प्रवर्तक प्रूधो, बाकूनिन और क्रोपाटकिन थे। अराजकतावाद वैयक्तिक सम्पत्ति को दूसरो की चोरी मानता है। प्रूधो एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता था जिसमे मनुष्य परस्पर मिलकर एक साथ रह सकें तथा उनका पारस्परिक व्यवहार न्याय समानता, स्वतन्त्रता और औचित्य पर निर्भर हो। सम्पत्ति का उपयोग सब करें पर उस पर स्वामित्व किसी का न हो। किसान और मजदूर स्वेच्छापूर्वक संगठित हो और मिलकर उत्पादन करें। ऐसे समुदायों व संघो मे शासक व शासित का भेद न हो।[28] अराजकतावाद के प्रवर्तक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग भी उचित मानते थे। बहुत समय तक अराजकतावादियों ने मार्क्सवाद को अपनाकर साम्यवादी समाज की रचना म सहयोग भी दिया किन्तु रूसी क्रांति के पश्चात उनम मतभेद हो गया और वे उससे पृथक हो गये। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर अराजकतावाद उचित प्रतीत नहीं होता। संभवत इसी वजह से अराजकतावाद की विचारधारा क्षीण होती गयी।

समाजवादी विचार-दर्शन दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं कलागत पहलुओ के परिप्रेक्ष्य मे दार्शनिक पहलू

समाजवाद एक व्यापक जीवन दर्शन है, जिसम सामाजिक जीवन का प्रत्येक पक्ष समाहित है। वर्तमान समाजवाद जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा कार्ल मार्क्स की देन है। मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद का दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख गुण प्रतिकूलता या विरोध (Contradiction) है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति और समाज को समझने का एक दार्शनिक तरीका है। केवल द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही ऐसी समझ उत्पन्न होगी जो वस्तुगत सत्य की जटिलता और उसके विरोध, वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में सम्पूर्ण और आपेक्षिक, स्थिर और परिवर्तनशील और सामान्यीकरण के एक प्रकार के नियमों से दूसरे प्रकार के अधिक गहन नियमों में सम्बन्ध को समझने म सक्षम है।[29] द्वन्द्वात्मक दर्शन मे कुछ भी अन्तिम, पूर्ण और पवित्र नहीं है। यह प्रत्येक वस्तु म बाह्य और आंतरिक परिवर्तन को लक्षित करता है। होने और गुजर जाने के अलावा कुछ भी स्थायी नहीं है और इस परिवर्तन प्रक्रिया की गति अनन्त रूप मे निम्नता से उच्चता की ओर है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद स्वय म विचारशील मस्तिष्क में इस परिवर्तनशील प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है। मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववाद विश्व के बाह्य स्वरूप एव मानवीय विचारो तथा गतिशीलता के सामान्य नियमों का विज्ञान है।[30] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता है कि प्राकृतिक घटनाओं

को देखने-परखने और पहचानने का तरीका द्वन्द्वात्मक है और इन प्राकृतिक घटनाओं का विश्लेषण, अवधारणा और सिद्धांत विवेचन भौतिकवादी है।[31]

मार्क्सवादी दर्शन में विश्व के भौतिकत्व या वस्तुगतता की पहिचान को उसके सतत परिवर्तित रूप की पहिचान से पृथक नहीं किया जा सकता।। भूत तत्त्व की स्थिति नित्य, सतत गतिशील और विकास को प्राप्त होती रहती है। द्वन्द्ववाद इस भौतिक जगत के विकास का मूल सिद्धांत है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वैज्ञानिक उपलब्धियों के सामान्य नियमों तथा मानवीय इतिहास के अनुभवों से उद्भूत हुआ है जिसमें यह मालूम हुआ कि सामाजिक जीवन और मानव चेतना प्रकृति की तरह ही निरन्तर परिवर्तित एवं गतिशील है। एंगेल्स के शब्दों में द्वन्द्ववाद विश्वव्यापी अन्तः सम्बन्धों का विज्ञान है। विश्व की प्रत्येक व्यवस्था या पद्धति की रचना उसके तत्वों की अन्त क्रिया से निर्मित होती है। ठीक उसी प्रकार सभी वस्तु रूप (bodies) अपने गुणों को अन्त क्रिया एवं गतिशीलता के द्वारा प्राप्त करते हैं जिनके माध्यम से ये गुण व्यक्त होते हैं। अन्त क्रिया विश्वव्यापी है। गुणों में सभी प्रकार के संभावित परिवर्तन और उनके पारस्परिक सम्बन्ध इस अन्त क्रिया में ही निहित रहते हैं।[32]

द्वन्द्ववाद के मूल सिद्धांत को मार्क्स ने हीगेल के दर्शन से ग्रहण किया। हीगेल का दर्शन आदर्शवादी है और विचार अथवा चेतना को प्रमुख एवं शाश्वत मानता है और भूत तत्त्व को गौण। मार्क्स ने इसके विपरीत भूत तत्त्व को प्रमुख माना और चेतना को उसका गुणात्मक परिवर्तन स्वीकार किया। हीगेल के द्वन्द्ववाद को स्वीकार करते हुए उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की संज्ञा दी। द्वन्द्ववाद के तीन सामान्य नियम हैं—

1 मात्रात्मकता से गुणात्मकता में और गुणात्मकता से मात्रात्मकता में परिवर्तित होने का नियम (The law of Transformation of quantitative into qualitative changes and vice versa)

2 विरोधी विचारों घटनाओं, वस्तुओं, शक्तियों आदि की एकता और संघर्ष का नियम (Law of unity and struggle of opposites)

3 निषेध के विरोध का नियम (The Law of the Negation of Negation)

1. मात्रा से गुण भेद आदि

मात्रा भेद से गुण भेद का नियम यह स्पष्ट करता है कि विकास की अवस्था में वस्तुएँ क्यों और कैसे नये-नये आकार-प्रकार और गुण आदि धारण करती रहती हैं।[33] वस्तुओं की मात्रा और गुण एक दूसरे से पृथक्, असंबद्ध अथवा स्वतंत्र नहीं हैं बल्कि उनमें घनिष्ठ आंतरिक सम्बन्ध है और ये वास्तविक जगत में ही स्थित हैं।[34] यह नियम किसी वस्तु के मात्रा और गुणों में अन्त सम्बन्ध और अन्त क्रिया को प्रकट करता है। पहले-पहल यह मात्रा से गुणात्मक परिवर्तन अतिअल्प और सूक्ष्म होता है जो दिखायी नहीं देता। पश्चात् यह आकस्मिक रूप से मेढक की उछाल के समान

मौलिक गुणात्मक परिवर्तन का रूप धारण कर लेता है। यह परिवर्तन उस वस्तु की स्थिति और परिवर्तन के विविध रूपों पर निर्भर करता है।[35]

विरोधों की एकता और संघर्ष का नियम

विरोध द्वन्द्व का सार है। एक का विभाजन और उसके विरोधी तत्त्वों का ज्ञान ही द्वन्द्ववाद का सार है।[36] इस नियम से प्रकृति की गतिशीलता का उद्‌घाटन होता है। दो विरोधी के मिलने से संघर्ष होना स्वाभाविक है और इस संघर्ष से ही विकास होता है। राहुल जी के शब्दों मे—"विरोधी जब मिलेंगे तो संघर्ष जरूर होगा और संघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, नयी परिस्थिति अर्थात् विकास को जरूर पैदा करेगा।[37] विरोधो के संघर्ष को ही विकास की संज्ञा दी जा सकती है। संसार की प्रत्येक वस्तु निरन्तर विकास की अवस्था मे है। फलतः विरोधी समागम का नियम यह बताता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु या घटना मे परस्पर विरोधी शक्तियो की संघर्षमयी एकता विद्यमान है और उनके अन्तर मे निहित विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष ही उनके विकास का मूल कारण है।[38] इस प्रकार विरोधी प्रवृत्तियो का मिलन एवं संघर्ष के जड और चेतन दोनो ही रूपो मे सतत क्रियाशील है। इसी से विकास होता रहता है।

निषेध के निषेध का नियम

मात्रा से गुण मे परिवर्तन और विरोधो के संघर्ष के नियमो पर विचार करते समय विकास की प्रक्रिया मे निषेध की प्रवृत्ति भी अनिवार्यतः देखने मे आयी है। पूर्व स्थिति का निषेध होने पर ही गुणात्मक परिवर्तन सम्भव होता है। किसी वस्तु में निहित उसके अन्तर्बाह्य विरोध ही यह प्रकट करते हैं कि वह स्वयं अपने निषेध को समाहित किये हैं। विकास के समस्त रूपो मे निषेध एक अनिवार्य और युक्तिसंगत तत्त्व है। यदि अस्तित्व के पूर्व रूपो की अस्वीकृति न हो तो विकास किसी भी क्षेत्र मे घटित नही हो सकेगा। निषेध का सामान्य अर्थ किसी वस्तु की अस्वीकृति है। द्वन्द्ववाद मे निषेध की अवधारणा केवल 'निषेध' से ही नही है अपितु आगामी विकास की संपूर्ण प्रक्रिया ही निषेध पर आधृत है। निषेध के दो रूप देखे जा सकते हैं—एक पूर्ण ध्वंस और दूसरे प्रथम स्थिति से अधिक उत्तम, अधिक पूर्ण और प्रगतिशील। द्वन्द्वात्मक निषेध के दो लक्षण हैं—(1) यह विकास की अनिवार्य शर्त और उसका खण्ड रूप है, (2) यह नये और पुराने की सबद्धता का नियोगी है।

इस प्रकार विकास की प्रत्येक प्रक्रिया मे निषेध अनिवार्यतः घटित होता है और गुणात्मक रूप से परिवर्तित वस्तु मे उसके पूर्व रूप के कुछ गुण भी विद्यमान रहते हैं। निषेध वस्तु के पूर्व रूप और उसके विरोधी रूप से संघर्ष के पश्चात् जो संयुक्त रूप प्रकट होता है वही निषेध का निषेध है। मार्क्स के विचार से यह संयुक्त स्थिति नहीं है अपितु पूर्व की स्थिति के निषेध का भी निषेध इसमे समाहित है। अतः इसे निषेध का निषेध ही कहना उचित है। इस प्रकार (निषेध का निषेध नियम में) जिस वस्तु विचार, घटना, शक्ति आदि का जिसके द्वारा निषेध किया जाता है उसी मे स्वयं

आगे विकास की प्रक्रिया के दौर मे निषिद्ध किये जाने की कडी और निरतरता के लक्षण उपस्थित रहते हैं।[39]

सामाजिक पहलू

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धात को मानव समाज के इतिहास पर आरोपित किया और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार विश्व का, उसके विकास का, मानव जाति के विकास का और मानव मन पर इस विकास के प्रतिबिम्ब का सच्चा चित्र मिल सकता है क्योंकि यही प्रणाली जीवन और मृत्यु, पुरोगामी और प्रतिगामी परिवर्तनो की असख्य क्रियाओ-प्रतिक्रियाओं को सदा ध्यान रखती है।[40] मार्क्स ने मानव इतिहास को निम्न-लिखित छ अवस्थाओ मे विभक्त किया है—

1 आदिम साम्यवादी अवस्था
2. दास प्रथा की अवस्था
3 सामन्तवादी अवस्था
4 पूँजीवादी अवस्था
5. समाजवादी अवस्था या सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व
6 साम्यवादी अवस्था।[41]

मानव जाति का विगत इतिहास इन अवस्थाओ मे से होकर गुजरा है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के मूल मे अथवा केन्द्र मे आर्थिक निर्धारणवाद है। चूँकि मानव का अस्तित्व तभी सभव होता है जब उसके जीवित रहने के लिए रोटी, कपडा और मकान उपलब्ध हो। आदिम काल से वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रकृति से सघर्ष करता आ रहा है। अत अपनी आवश्यकताओ के लिए उत्पादन क्रिया ही अन्य सभी क्रियाओ मे सर्वोत्तम है। एगेल्स ने लिखा है कि—"समस्त विगत इतिहास वर्ग सघर्षों का इतिहास रहा है और समाज के ये सघर्षरत वर्ग सदा अपने युग की उत्पादन तथा विनिमय प्रणाली स, या एक शब्द मे कहे तो, अपने युग की आर्थिक परिस्थितियो स उत्पन्न हुए हैं, और यह कि समाज का आर्थिक ढाँचा ही वस्तुत वह आधार है, जिसके ऊपर किसी भी ऐतिहासिक युग की कानूनी और ऊपरी राजनीतिक सस्थाओं का और धार्मिक, दार्शनिक तथा दूसरे विचारों का ऊपरी ढाँचा खडा किया जाता है और इस आधार को ग्रहण करके ही हम ऊपरी ढाँचे को अन्तिम रूप से समझ सकते हैं।"[42] इतिहास के विगत युगो मे हम प्राय हर जगह विभिन्न सामाजिक श्रेणियो मे विभाजित समाज का एक पेचीदा ढाँचा पाते हैं—सामाजिक श्रेणियो की नाना रूपी दर्जेबन्दी। प्राचीन रोम मे पेट्रीशियन, नाइट, प्लेवियन और दास मिलते हैं। मध्य युग मे सामन्ती प्रभु, अधीन जागीरदार, उस्ताद-कारीगर, मजदूर-कारीगर, मदास दिखाई देते हैं, और लगभग इन सभी वर्गों मे गौण दर्जे-बन्दियाँ होती हैं।[43] आधुनिक पूँजीवाद समाज मे वर्ग सघर्ष समाप्त नहीं हुआ है।

केवल संघर्ष का नया रूप उपस्थित हुआ है। पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग ये दो ही आज के समाज मे विरोधी वर्ग हैं जो संघर्षरत हैं।

समाज और उसके विकास के नियमो को ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त के द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है। डॉ० अरोडा के शब्दों मे—"ऐतिहासिक भौतिकवाद समाजोत्थान के लिए तार्किक भौतिक सिद्धान्तो का ही प्रस्तुतीकरण है। सत्यरूपेण यह इतिहास की आर्थिक व्याख्या है।"[44] मार्क्स का कहना है कि मानव की मूल प्रकृति आर्थिक है और इतिहास का क्रम सदैव आर्थिक समस्याओ द्वारा निर्धारित होता है।[45] अर्थ ही सामाजिक गतिशीलता की धुरी है। मनुष्य निरन्तर अपने उत्पादन के साधनो मे सुधार संशोधन करता रहा है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे उसकी आन्तरिक असंगतियाँ समाहित रहती हैं। इन असंगतियो का सम्बन्ध उस समय की उत्पादन पद्धति से अवश्य रहता है। "उत्पादन का बदला हुआ ढग ऐसी शक्तियो और प्रवृत्तियो को जन्म देता है जिनका पूर्ववर्ती उत्पादन के ढग पर आधारित सामाजिक सम्बन्धो और सस्थाओ से सहज विरोध होता है। नई शक्तियो और पुराने सम्बन्धो का अथवा दूसरे शब्दो मे प्रगति और प्रतिक्रिया का यह संघर्ष बढते-बढते एक ऐसी अवस्था मे पहुँच जाता है जबकि परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है।"[46]

इस प्रकार ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने पूँजीवाद से समाजवादी व्यवस्था के संक्रमण को ऐतिहासिक अनिवार्यता का स्वरूप प्रदान किया है। पूँजीवादी समाज व्यवस्था से समाजवादी समाज व्यवस्था मे संक्रमण करने के लिए जो समय लगता है उसके मध्य मानव के सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष मे नवीन सम्बन्धो का निर्माण हो रहा है। रूस, चीन, क्यूबा, यूरोप के अन्य समाजवादी देशो मे समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो गई है और संक्रमण द्वारा नवीन स्थितियाँ उभर रही हैं। अब तक के व्यावहारिक अनुभवो से यह सिद्ध होता है कि मानव-समाज की भौतिक-वस्तुगत अनिवार्यता को समझकर प्रकृति के नियमो का मानव हित मे उपयोग किया जा सकता है। वस्तुगत अनिवार्यता का ज्ञान एवं मनुष्य के हित मे उसका उपयोग ही मनुष्य की स्वतन्त्रता मे निहित होता है। स्वतन्त्रता वस्तुगत अनिवार्यता को समाप्त नहीं कर देती बल्कि यह तो इसका प्रतीक है कि मनुष्य इस अनिवार्यता को समझते हुए उसका उपयोग करता है। वस्तुगत अनिवार्यता से मेल खाते हुए ही मानव के क्रियाकलाप स्वतन्त्र होते हैं। प्रकृति और समाज के नियमो से निरपेक्ष मनुष्य की स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती। मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता तो उन नियमो को समझकर आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करने में है।[47]

समाजवाद और कला

समाजवादी दर्शन मे कला व्यक्तिपरक न होकर समाजपरक मानी जाती है। कला सामाजिक चेतना का ही विशिष्ट स्वरूप है, फलत उसका मूल जन समुदाय के भौतिक क्रिया व्यापार मे है जिसके सूत्र किसी विशिष्ट उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत प्रतिफलित होने वाले सामाजिक सम्बन्धो से सम्बद्ध है।[48] मार्क्स की मान्यता थी कि

कला का मूल मानव जीवन के भौतिक विकास की सापेक्षता में ही निहित है। कला का अस्तित्व भौतिक जीवन से अलग नहीं। कला भौतिक जीवन की ही अभिव्यक्ति करती है। कला मनुष्य के चारों ओर की दुनिया को प्रतिबिम्बित करके हमें इस दुनिया का बोध प्राप्त करने में सहायता देती है और राजनीतिक, नैतिक एवं कलात्मक शिक्षा के शक्तिशाली यंत्र का काम करती है।[59] कला का जन्म श्रम की प्रक्रिया में ही हुआ है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रारम्भ करने से पहले सामूहिक उत्साह और शक्ति को जगाने के लिए नाटकीय ढंग से समूह नृत्यों की प्रथा चली जिनमें कलात्मक ध्वनियों के सहारे सामूहिक अंग संचालन की कला का विकास हुआ।[60]

कला का जन्म तो सामूहिक श्रम से हुआ, किन्तु बाद में यह सामूहिक प्रेरणा का साधन बन गई। कला का विकास मानव विकास के साथ साथ ही होता गया है। क्रिस्टोफर काडवेल ने लिखा है कि कला सामाजिक चेतना का ही विशिष्ट स्वरूप है। उसका मूल मानव समुदाय के भौतिक क्रिया कलापों में है जो उसकी उत्पादन पद्धति के सम्बन्धों से सामाजिक रूप में सम्बद्ध रहते हैं।[61] कलाकार की प्रतिमा का निर्माण भौतिक शक्तियों के सक्रिय परिवेश में होता है। जिस कलाकार का जीवन से सम्पर्क नहीं होता, समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसकी कला दृष्टि अतिशय कल्पना-जीवी, एकांगी और जीवन शून्य हो जाती है। सामाजिक दर्शन कलाकार को मर्मभेदी दृष्टि, उसके चिंतन और उसकी भावनाओं को नई दिशा देता है।[62] इस प्रकार समाजवादी दर्शन में कला सामाजिक जीवन की गतिशीलता को ही प्रेरित करती है।

समाजवाद के प्रमुख भेद-प्रभेद

कल्पनावादी समाजवाद (*Utopian Socialism*)

कल्पनावादी समाजवाद एक विचारधारा है जो सामाजिक प्रभुता पर आधारित है। इसके अनुसार सम्पत्ति पर सर्वसाधारण का अधिकार होगा, समाज के सभी सदस्यों को श्रम करना अनिवार्य होगा और उत्पादन का सब में समान रूप से वितरण होगा। 'यूटोपिया' शब्द ग्रीक भाषा का है। इसका शाब्दिक अर्थ 'अस्तित्व रहित स्थान' है। सर्वप्रथम टामसमोर ने एक ऐसे काल्पनिक द्वीप का नाम 'यूटोपिया' रखा जिस पर एक आदर्श समाज प्रतिष्ठित हो। कालान्तर में 'यूटोपिया' शब्द काल्पनिक समाज व्यवस्था के लिए प्रयुक्त होने लगा।[63] काल्पनिक समाजवाद वास्तव में अब सेन्टसाइमन, सेन्ट टामस फौरियर तथा राबर्ट ओवेन के विचारों के लिए रूढ़ हो गया है। उन्होंने समाज में परस्पर सहयोग के सिद्धान्तों पर आधारित समाज की प्रतिष्ठापना का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जो विवेक और शिक्षा पर बल देता था। काल्पनिक समाजवादी राजनीतिक संघर्ष तथा क्रांति के बारे में नकारात्मक दृष्टिकोण रखते थे।

राजनीति कोश में काल्पनिक समाजवाद के बारे में कहा गया है कि सम्भवतः 'स्वप्नलोकीय समाजवाद' शब्द बन्ध का सबसे पहले प्रयोग कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगिल्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र में अपने से पूर्ववर्ती उन समाजवादी विचारकों—

जीन द सिसमादी, सेन्ट साइमन, चार्ल्स फूरियर, विलियम गाडविन, राबर्ट ओवेन आदि के लिए किया था जिनके समाजवादी विचार मुख्य रूप से कल्पना और दया पर आधारित थे। इन विचारकों के पास अपने विचारों को कार्य रूप देने के लिए कोई व्यावहारिक कार्यक्रम न था। इसलिए इन विचारको को स्वप्नलोकीय विचारक तथा उनके समाजवाद को स्वप्नलोकीय समाजवाद कहा गया। मार्क्स के पूर्ववर्ती स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारक अपने समय के सामाजिक अन्यायों की निन्दा करते थे, राबर्ट ओवेन जैसे कुछ सक्रिय विचारकों ने अपने वैयक्तिक प्रयत्नों के जोर से अपने विचारो को आदर्श समाजो के निर्माण का प्रयास भी किया था लेकिन उनके पास न तो सामाजिक विश्लेषण की कोई प्रणाली थी और न वे यही समझ पाते थे कि संसार के अन्याय को अनिवार्य रीति से कैसे दूर किया जा सकता है।[64]

वस्तुतः काल्पनिक समाजवाद आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद का पूर्वरूप था। मार्क्स ने इन पूर्वगामी काल्पनिक समाजवादियो के विचारों से बहुत कुछ ग्रहण किया और परिणामस्वरूप साम्यवादी घोषणा-पत्र के रूप मे उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की। काल्पनिक समाजवादी विचारको ने सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति हेतु साधनो की तरफ ध्यान नही दिया था। उनके आदर्श मात्र काल्पनिक उड़ाने भर रह गये। काल्पनिक समाजवादी समाज की प्रचलित बुराइयो व विषमताओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे चाहते हैं कि मानव समाज विवेक, न्याय और नैतिकता पर आधारित हो किन्तु उनके आदर्शों को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। काल्पनिक समाजवाद की आलोचना करते हुए एगेल्स ने कहा कि—"इन कल्पनावादी तथाकथित समाजवादियों की धारणा के अनुसार समाजवाद को सायास स्थापित करने की कोई योजना नही थी।" इससे एक प्रकार के औसत, खिचड़ी समाजवाद की ही उत्पत्ति हो सकती थी, और सच पूछिए तो यही समाजवाद अभी तक फ्रांस और इंगलैंड के अधिकांश समाजवादी मजदूरो के मन पर छाया हुआ है।[65]

फेबियन समाजवाद (Fabianism)

वैज्ञानिक समाजवाद का विरोध करने के लिए इग्लैण्ड मे सुधारवादियो की एक लहर चली जो फेबियन समाजवाद के नाम से विख्यात हुई। इसका नाम रोमन सेना के सेनापति फेबियस कक्टेटर के नाम पर पड़ा है। फेबियन समाज की स्थापना इग्लैण्ड मे सन् 1884 मे हुई और 1900 मे मजदूर दल के साथ साहित्यिक-प्रचार दल के रूप मे सम्मिलित हुई। यह समाजवाद का ऐसा स्वरूप है जो मन्द गति, किश्त दर किश्त रूप में विकासवादी, प्रजातन्त्रवादी तथा नम्य (Flexible) साधनो द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं, ये अनुनय (Persuation) मे विश्वास करते हैं, दमन या विनाश मे नहीं। परिमितता (Moderation) इनकी तकनीक का प्रधान राग (Keynote) है। फेबियनवाद राजनीति दर्शन को इग्लैण्ड की विशिष्ट देन है। इसके सदस्यों का विश्वास था कि समाज मे रक्तपात और हिंसा के बिना ही क्रमिक और से मर्यादीय प्रक्रिया के द्वारा परिवर्तन लाये जा सकते हैं। रोमन सेनापति फेबियन

विच्टस फेबियस युद्ध नीति मे सीधे मुठभेड को टालता था और विलम्ब करते हुए उचित अवसर पर शत्रु को पराजित करने मे विश्वास करता था। फेबियन समाज द्वारा यह नाम चुने जाने का कारण यह था कि उनकी विचारधारा भी अपने शत्रु पूँजीवाद के प्रति बहुत कुछ ऐसी ही थी। वह पूँजीवाद से सीधी टक्कर लेने में यकीन नहीं रखता था प्रत्युत धीरे-धीरे राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार द्वारा उसके विनाश का विश्वासी था। फेबियन समाज मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की संस्था थी।[56]

फेबियन समाजवादी शिक्षा प्रसार एवं संसदीय उपायों द्वारा समाजवाद लाना चाहते हैं। वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्गों के पारस्परिक सहयोग मे उनका विश्वास है। फेबियन संघ को अनेक विद्वानो का सहयोग मिला है और यह एक प्रकार से गवेषणा संस्थान रहा है। फेबियन समाजवाद का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रमुख विद्वान थीट्रिस और सिडने वेब, मार्गन फिलिप्स, ऐटली, हर्बर्ट मारीसन, लास्की, बर्नाडशा, वैल्स, ग्राह्म वैलेस, जी० डी० एच० कोल, सिडनी आलीवियर आदि हैं। ई० एम० बर्न्स ने कहा है कि फेबियन समाजवाद समकालीन समाजवाद का ऐसा स्वरूप है जो अपने जन्म का स्थान (स्रोत) मार्क्स के सिद्धान्तों मे नहीं खोजता।[57] फेबियन समाजवादी निजी सम्पत्ति का उन्मूलन और वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं। फेबियन समाजवादियों ने लोकतांत्रिक समाजवाद को दृढ़ता प्रदान की है। फेबियन वाद दोष मुक्त नहीं है। फेबियनवादियों को अवसरवादी कहा जाता है। उनके कोई स्थिर सुनिश्चित और तर्कसंगत सिद्धान्त नहीं हैं। कोकर ने उचित ही लिखा है कि फेबियनवादियों का सैद्धान्तिक क्षेत्र मे उतना योगदान नहीं रहा है जितना कि व्यावहारिक क्षेत्र मे। इगलैण्ड के प्रतिभा सम्पन्न और बुद्धिमान लोगो ने इग्लैण्ड के सामाजिक जीवन की दशाओं, अवस्थाओं के बारे में बड़े महत्वपूर्ण तथ्य एकत्रित किये और उनका उचित विश्लेषण भी किया। इसी के परिणामस्वरूप वहाँ क्रमिक रूप से शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाजवाद का नरम रूप व्यवहार में आ सका।[58] अतत मार्क्सवादी समाजवाद के आने पर फेबियन समाजवाद का विकास रुक गया।

प्रजातान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism)

मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा के विपरीत प्रजातान्त्रिक समाजवाद की सैद्धान्तिक जड़ें नव-काण्टवाद मे मिलती हैं। इसके अनुसार समाजवाद ऐतिहासिक विकास की स्वाभाविक उत्पत्ति नहीं है किन्तु एक नैतिक आदर्श है जो समाज के सभी वर्गों को स्वीकार्य है। इसकी मान्यता है कि समाज को समाजवादी सिद्धान्तो के आधार पर पुनर्रचना करना एक नैतिक समस्या है। प्रजातान्त्रिक समाज वर्ग संघर्ष, समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा के अधिनायकत्व को अस्वीकार करता है। इसके अनुसार समाजवाद प्रजातान्त्रिक रूप से उभरता है अर्थात बुर्जुआ राज्य और सरकार के ढाँचे मे सामाजिक और विशेष रूप से सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उपायो से प्रभावी होता है और प्रजातन्त्र के रूप मे अस्तित्व ग्रहण करता है जिसमे पूँजीपतियों सहित सभी वर्गों एवं समूहों मे पारस्परिक एकता रहती है। वस्तुगत रूप से बुर्जुआ समाज

के ढाँचे को चालू रखने के लिए ही प्रजातांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित किया गया है।[59]

प्रजातान्त्रिक समाजवादियों का विश्वास है कि जिन देशों में प्रजातन्त्र की जड़ें दृढ़ हैं वहाँ मताधिकार द्वारा राजनीतिक दलों का विकास करके संसद में बहुमत प्राप्त करके पूँजीवादी व्यवस्था में उचित सुधार किया जा सकता है। इनके विचार मार्क्स के दक्षिणपंथियों के विचारकों के समान हैं। गरीबी, शोषण, अज्ञानता आदि की समस्या का निवारण जन जागृति करके शान्तिमय तरीकों से ही करना चाहते हैं। लाइमन टावर सार्जेण्ट का कथन है— प्रजातान्त्रिक समाजवाद को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि देश की अधिकांश सम्पत्ति पर यथा बड़े उद्योगों, परिवहन आदि पर प्रजातान्त्रिक तरीके से निर्वाचित सरकार का प्रभुत्व होगा। निजी सम्पत्ति के सचयन पर सीमा निर्धारण और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर सरकारी नियमन होगा।"[60] प्रजातान्त्रिक समाजवाद का घर इंग्लैण्ड माना जाता है। प्रजातान्त्रिक समाजवाद के प्रमुख प्रवक्ता राबर्ट ओवेन, सिडनी और बीट्रिशवेब, रैंमजे मैकडोनाल्ड, लास्की, जी० डी० एच० कोल, कार्ल काटस्की, हेनरिक स्ट्रायबल, नार्मन टामस और जवाहर लाल नेहरू रहे हैं।

प्रजातान्त्रिक समाजवाद सर्वाधिकारवाद का विरोधी, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षधर, समानता का पोषक, आर्थिक सुरक्षा की गारण्टी देने वाला है। यह प्रजातान्त्रिक तरीकों में अटूट विश्वास रखता है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण का हामी है। यह आर्थिक सत्ता में विकेन्द्रीकरण चाहता है, राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण का पक्षपाती है। यह सहमति, सहयोग और मानवीय तरीकों से समाजवाद को लाना चाहता है। लेकिन प्रजातान्त्रिक समाजवाद स्वयं में विरोधाभास का घर है। प्रजातन्त्र ने उच्चवर्ग एवं मध्यवर्ग के हितों की ही अधिक सुरक्षा की है। श्रमिक वर्ग तो इसके माध्यम से ठगा ही गया है। लोक कल्याण के नाम पर सरकारी मशीन के हाथों में सत्ता चली जाती है। नौकरशाही फलती-फूलती है। फिर भी—"अधिकांश देशों की प्रवृत्ति लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्तों का ग्रहण करने की है क्योंकि यह विचारधारा साम्यवाद को छोड़कर अन्य सभी विचारधाराओं से अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई है।"[61]

श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)

गिल्ड समाजवाद अंग्रेज बुद्धिजीवियों की उपज है। इस समाजवाद या समष्टिवाद तथा 'सिंडिकेलिज्म' के बीच रास्ता माना जाता है। गिल्ड समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था को अन्यायपूर्ण मानता है और वर्तमान सामाजिक विषमताओं से मुक्ति पाने के लिए ऐसी नवीन समाज व्यवस्था सगठित की जाय जिसमें उद्योग श्रमिक सघों के द्वारा चलाये जाये। प्रत्येक उद्योग के लिए एक-एक गिल्ड होगी। स्थानीय गिल्डों का राष्ट्रीय गिल्ड के लिए प्रतिनिधि भेजेगी। उत्पादन पर गिल्डों का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा। क्रय-विक्रय की दरें गिल्डें ही इस प्रकार निर्धारित करेगी कि उत्पादित वस्तुओं की

कीमत अधिक न होने पाये। गिल्ड व्यवस्था में राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता। हाँ, राष्ट्रीय स्तर पर अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध राज्य द्वारा ही होगा। गिल्ड समाजवाद प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का भी समर्थन करता है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु गिल्ड समाजवाद सवैधानिक और विकासवादी साधनों में आस्था रखता है।[62] श्रेणी समाजवाद के प्रमुख समर्थक-आर्थर जोसफ पेन्टी, हाब्सन, जी० डी० एच० कोल, रसेल, टानी, विलियक मेलोर, सेल्सबरी आदि हैं।

"श्रेणी समाजवाद के मूल विचारों को आर्थर जोसफ पेन्टी ने सन् 1906 में अपनी पुस्तक (The Restoration of the Guild System) में व्यक्त किया। उनके विचार से वर्तमान प्रणाली में मजदूर उत्पादन तो करता है परन्तु उद्योगों पर उसका नियन्त्रण न होने से उसकी दशा शोचनीय होती है। पेन्टी ने उद्योग में स्वशासन के सिद्धान्त को, जिसके अधीन शिल्पी अपने काम के औजारों का स्वामी और स्वायत्तगण का सदस्य था और अपने उत्पादन के स्वरूप और सीमा को निश्चित करता था, फिर से स्थापित करना चाहा।"[63] बीसवीं शती के द्वितीय दशक में श्रेणी समाजवादी विचारों को काफी प्रश्रय मिला। पेन्टी ने उद्योगों और व्यावसायों में मजदूरों के स्वशासन को महत्त्व दिया। जी० डी० एच० कोल के शब्दों में—'उनका तर्क था कि उद्योग से सम्बन्धित श्रमिकों द्वारा उद्योग में स्वशासन हो, जिन्हें औद्योगिक श्रेणियों की प्रणाली से परस्पर सगठित किया जाय, वर्तमान श्रमिक संघों का केन्द्रीय रूप हो।"[64] वस्तुतः श्रेणी समाजवाद गिल्डो द्वारा उद्योग में स्वायत्तता लाना चाहता है। श्रेणी समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण का विरोधी है। वह समाज की आर्थिक व्यवस्था को अधिक प्रजातान्त्रिक बनाना चाहता है। औरेज ने कहा है—"श्रेणी समाजवाद एक-दूसरे पर निर्भर व्यक्तियों का स्वशासित समुदाय है जो समाज में किसी कार्य विशेष को उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से पूरा करने हेतु निर्मित हुआ है। कोल महोदय लिखते हैं—'श्रेणी समाजवाद उत्पादकों और राज्य के बीच की गई साझेदारी की भावना ही है।"

वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद (Scientific Socialism)

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद की संज्ञा दी गई है। इस सर्वहारा वर्ग का समाजवाद भी कहते हैं। वैज्ञानिक समाजवाद अतीत के इतिहास के अध्ययन पर आधारित है और ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य उत्पत्ति है। अलेक्जेण्डर ग्रे के शब्दों में—'वैज्ञानिक समाजवाद इतिहास का दर्शन है, वर्ग संघर्ष का मूर्त रूप है, आर्थिक तत्त्वों पर आधारित शोषण का सिद्धान्त है और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सकल्पना है।"[65] फेडरिक एंगेल्स ने लिखा है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन से समाजवाद बन वैज्ञानिक गया।[66] वैज्ञानिक समाजवाद पूँजीवाद को समूल नष्ट करना चाहता है। साम्यवादी घोषणा-पत्र में मार्क्स एंगेल्स ने लिखा है कि साम्यवाद उन नियमों की स्थापना

करता है जिनके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवाद मे बदला जा सकता है।[67] मार्क्स ने जिन नियमो का पता लगाया उन्हींके आधार पर समाजवाद को वैज्ञानिक होने का गौरव प्राप्त हुआ है। वे नियम इस प्रकार हैं —

1 आर्थिक कारणो से सामाजिक परिवर्तन होते हैं।

2 मूल्य श्रम द्वारा निर्धारित होते है।

3 पूंजीवाद अपनी कब्र स्वयं खोदता है।

4. वर्ग संघर्ष अनिवार्य है।

5 श्रमिक वर्ग ही क्रान्तिकारी बन सकता है क्योंकि उसे अपनी दासता की जंजीरो को तोडने के अतिरिक्त और कुछ नही खोना है।

6 पूंजीवाद का पतन उसकी परिपक्व अवस्था म ही हाता है।

7. समाजवाद अवश्यम्भावी है।[68]

डॉ० सम्पत जैन सरल ने 'मार्क्सवाद' की महत्ता को इन शब्दो में उजागर किया है कि—"मार्क्सवाद वर्तमान युग का युगधर्म बन गया है। प्रत्येक देश मे, चाहे वह पूंजीवादी ही क्यों न हो, साम्यवादी दल और मार्क्सवाद के अनुयायियो का झुंड अवश्य मिल जाएगा। मार्क्सवाद स प्रेरित होकर वर्तमान शताब्दी म सोवियत रूस और चीन मे साम्यवादी क्रान्तियां हो चुकी हैं और अन्य कुछ देशो म साम्यवादी शासन की स्थापना भी हो चुकी है।"[69]

लोकतान्त्रिक सामाजवाद की भारतीय परम्परा और उसके प्रमुख चिन्तक

मानव समुदाय की आदिम अवस्था समाजवादी थी। प्रारम्भिक मानव अपनी शारीरिक एवं मानसिक विशिष्टताओ के कारण जीवन रक्षा के लिए समूहो म रहता था। विशालकाय जानवरो का शिकार करने के लिए व्यक्ति की अपेक्षा समूह अधिक उपयोगी होता था। पशुपालन और कृषि अवस्था म राजसत्ता का उदय हो गया था। भारतीय राजतन्त्र म परोक्ष रूप से लोक भावना का राजसत्ता पर निरन्तर व्यापक अकुश रहा है। "राज्य समाजवादी पद्धति म हस्तक्षेप नही करता था क्योंकि वह एक सामाजिक प्रथा थी। इस युग मे समाज म प्रत्येक को काम करना पडता था, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो परन्तु समाज हित की उपेक्षा की दृष्टि से नहीं। यजुर्वेद मे देशभक्ति के साथ-साथ लोककल्याण, पुरुषार्थ तथा कार्य को महत्त्व दिया गया है, आलस्य अथवा शोषण को नहीं।'[70]

पश्चिम मे लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा का प्रारम्भ 19वी सदी मे हुआ और भारत म 20वी सदी के द्वितीय दशक से। आधुनिक भारतीय समाजवाद पर पश्चिमी समाजवादी विचारधारा का पूरा प्रभाव पडा है। फ्रांस की क्रान्तियो का विश्व के समस्त लोकतांत्रिक देशो पर पडा। जर्मनी और इग्लैण्ड मे समाजवादी विचारो को वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार प्रश्रय मिला। किन्तु सन् 1917 की रूसी क्रान्ति का विश्व के अधिकांश देशों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और समाजवादी आन्दोलनो को गति प्राप्त हुई। "सन् 1924 ई० तक समाजवादी विचारों का प्रसार देशव्यापी हो

गया था तथा बम्बई से 'सोशलिस्ट' नामक पत्र का सम्पादन भी प्रारम्भ हो गया था।'[72] श्रीपाद अमृत डांगे, शौकत अली उस्मानी, मुजफ्फर अहमद, दास गुप्ता को कैद किया गया तो श्रमिक वर्ग अत्यधिक क्रोधित हुआ और संगठन प्रवृत्ति को बल मिला। प्रथम मजदूर-किसान पार्टी की स्थापना सन् 1926 ई० में बंगाल में हुई जिसे शासकीय मान्यता मिली। कालांतर में इसका प्रभाव अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा और समाजवादी संगठन मजदूर-किसान पार्टियों के आवरण में देशव्यापी हो गया जिससे प्रभावित होकर सन् 1929 में 'बाम्बे क्रानिकल' ने लिखा था—'देश में आजकल समाजवाद का वातावरण है। कुछ से भारत में विभिन्न सभा सम्मेलनों और खासतौर पर किसान और मजदूरों के सम्मेलनों द्वारा समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार हो रहा है।'[73] मई सन् 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हो गई थी। पं० नेहरू एवं अन्य भारतीय नेतागण पहले ही रूस भ्रमण कर चुके थे और रूसी समाजवादी क्रान्ति से प्रभावित हो चुके थे।

भारत में लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारों के व्यवस्थित प्रचार प्रसार का सूत्रपात सन् 1934 से ही माना जाता है। सन् 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में समाजवादी दल ने विशेष निर्णयात्मक भूमिका का निर्वाह किया। सन् 1948 में समाजवादी दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से पृथक् हो गया। सन् 1952 में समाजवादी दल के साथ आचार्य कृपलानी का दल 'कृषक-मजदूर-प्रजा पार्टी' भी मिल गया।

भारतीय समाजवादी विचारधारा पश्चिमी समाजवादी विचारों से दो तरह से भिन्न रही है—(1) भारत में समाजवादी चिन्तन सामाजिक, आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से तो हुआ ही, साथ ही इसे विदेशी साम्राज्यवाद के शोषण से भी संघर्ष करना पड़ा। (2) जागीर प्रथा के कारण समाज में बुर्जुआ वर्ग ने शासन पर कब्जा किया था। समाजवादियों ने बुर्जुआ लोकतन्त्र की भी कड़ी आलोचना की।[74] सन् 1949 में भारतीय समाजवादी दल ने लोकतान्त्रिक पद्धति के आधार पर सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु सृजनात्मक कार्य किये। समाजवादी दल अब तक सत्ता में नहीं आ सका, किन्तु सरकार के विरोध में रहकर लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की जड़ मजबूत बनाने में भारत के समाजवादी नेता निरन्तर आन्दोलन करते रहे हैं।

मानवेन्द्रनाथ राय और लोकतन्त्रात्मक समाजवाद

श्री एम० एन० राय गांधी जी के कटु आलोचक थे। उन्हें युवावस्था में ही विश्व के अधिकांश देशों के भ्रमण का अवसर मिला था। सन् 1920 के प्रारम्भ में ही आप रूस पहुँचे। वहाँ लेनिन के साथ काफी समय तक कार्य किया। पश्चात् सन् 1926-27 में आप चीन गये और वहाँ भी समाजवाद के निर्माण हेतु कार्य किया। राय महोदय ने इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रचार-प्रसार में एक चिन्तक के रूप में सहयोग दिया। सन् 1930 में वे भारत में आ गये और सन् 1936 तक जेल में रहे। श्रीराय का कथन है कि गांधीवाद सामाजिक संगति की अव्यावहारिक धरा पर खड़ा है। गांधी जी की अहिंसा एक मुखौटा मात्र है जिसके द्वारा सामाजिक शोषण के स्वभाव को

छिपाया जा रहा है। श्रीराय ने गाँधी जी के नेतृत्व मे चलने वाली कांग्रेस को 'जुलाहो' की एक 'समिति' बताया। 3 4 वर्ष कांग्रेस मे रहकर कार्य करने के पश्चात श्री राय ने सन् 1940 मे कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और दिसम्बर 1940 मे रेडिकल डेमोक्रेटिक दल की स्थापना की। भारतीय लोकतन्त्रात्मक समाजवादी आन्दोलन के विकास मे राय महोदय के उग्र मानवतावाद एव नव मानवतावाद की विशिष्ट देन है।

राय के मानवतावादी विचारो पर बेन्थम, सेफ्टसबरी आदि का प्रभाव था। लौकिक आत्मा को उन्होने स्वीकारा है। उनके मानवतावाद का ढांचा भौतिकवादी है। भौतिकवाद ही उनके विचार म मानवता के सकट को दूर कर सकता है। राय मानव को एव विवकशील प्राणी मानते हैं जो भौतिक पर्यावरण से आवृत्त है। इस प्रकार वह भौतिक जगत का ही अग है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ ही मानव कल्याण भी जुड़ा हुआ है। वैज्ञानिक प्रगति मानव की सृजनात्मक शक्ति की मुक्ति की घोषणा है। नये मानवतावाद मे स्वतन्त्रता, नैतिकता व तर्क को पूरा स्थान मिला है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता भौतिकता ही है। उनकी स्वतन्त्रता के तीन मुख्य आधार हैं—मानवतावाद, व्यक्तिवाद और विवेकवाद।[74] श्री राय की यह महत्त्वपूर्ण अवधारणा है कि प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है, जब आध्यात्मिक चेतना से मुक्त व्यक्तित्व जन कार्यों को सम्पन्न करते हैं। उन्होने मानवीय गुणो के प्रभाव को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलो म भी स्वीकारा है। समकालीन मानव के कष्टो को इसी प्रकार दूर किया जा सकता है।[75]

आचार्य नरेन्द्र देव

भारत मे समाजवाद के गम्भीर चिन्तको मे आचार्य नरेन्द्र देव का प्रमुख स्थान है। आप हिन्दी-अंग्रेजी भाषाओ के प्रकाण्ड विद्वान् और महान् शिक्षाशास्त्री थे। सन् 1934 मे अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन का आपने सभापतित्व किया। आप समाजवादी दल के प्रमुख व्यक्ति थे। भारत म किसानो के सगठन एव आन्दोलन मे आपकी विशेष रुचि रही। भारतीय किसान सभा के सस्थापको मे से एक हैं। आप दो बार किसान सभा के सभापति चुने गये थे। नेहरू जी ने आपको सन् 1936 मे कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति मे आमन्त्रित किया। कई वर्ष तक आपने सक्रिय रूप मे कार्य किया। स्वतन्त्रता के पश्चात कांग्रेस से समाजवादी दल पृथक् हो गया तब आपने समाजवादी दल मे रहकर ही देश मे समाजवादी आन्दोलन को सक्रिय बनाया। आपके समाजवादी विचारो के आधार तत्त्वो म बौद्ध दर्शन भी है किन्तु अपनी विचारधारा में वे मुख्यत मार्क्सवादी थे। उन्होने मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार किया।

आचार्य नरेन्द्र देव को वैज्ञानिक समाजवादी कहा जा सकता है। समाजवाद को वे एक सास्कृतिक आन्दोलन मानते थे। उनके अनुसार गतिशील ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही सामाजिक घटनाओं को समझा जा सकता है। दुनिया की सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। उन्होने इतिहास की भौतिवादी व्याख्या की है। उनके विचार से पूँजीवाद

अपनी सृजनात्मक सम्भावनाएँ खो चुका था। मानवता को युद्ध, शोषण और संकट से बचाने का एक मात्र तरीका वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाना ही है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में उनकी दृढ़ आस्था थी। वे किसी न किसी रूप में उद्योग व्यवस्था में कर्मचारी वर्ग का नियन्त्रण होना आवश्यक समझते थे। मार्क्स के वर्ग संघर्ष में उनकी पूरी आस्था थी। आर्थिक तथा वर्ग चेतना के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन में सामान्य जनता का सहयोग लिया जा सकता है तभी इस प्रकार के संगठित आन्दोलन जन आन्दोलन बन सकते हैं।"[76]

आचार्य जी का कहना था कि निम्न वर्ग के व्यक्तियों में वर्ग चेतना आर्थिक आधारों पर ही आ सकती है। वे सुधारवाद एवं सर्वधानिकतावाद के विरोधी थे। आर्थिक आदर्शों के आधार पर ही राष्ट्रीय संघर्ष को गतिशील बनाये जाने के पक्ष में थे। लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग द्वारा संगठित संघर्ष की अनिवार्यता को वे समझते थे। ग्रामों व नगरों के बीच अस्वस्थ एवं अवांछित संघर्ष को पनपने के विरुद्ध थे। प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण तथा पंचायती राज के द्वारा लोकतान्त्रिक समाजवाद को लाना चाहते थे।

पं० जवाहरलाल नेहरू

पं० जवाहरलाल नेहरू उग्र राष्ट्रवादी थे किन्तु गांधीजी के प्रभाव में आकर उनका उग्रवाद दब गया। वे प्रजातन्त्रवादी थे और संसदीय प्रजातन्त्र में उनकी अटूट आस्था रही। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति अपनायी और पंचशील के सिद्धान्तों को इसका आधार बनाया। भारतीय राजनीति में पं० नेहरू का महात्मा गांधी के बाद ही स्थान आता है। आपने कांग्रेस में रहकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में आपका प्रभाव अत्यधिक रूप से परिलक्षित होता है। देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मृत्यु पर्यन्त आप प्रधानमन्त्री रहे। आप भारत में समाजवादी ढाँचे की समाज संरचना करना चाहते थे। जाति-पाँति, स्त्री पुरुष, ऊँच-नीच, नगर ग्राम के भेद में आपका विश्वास नहीं था। लोकतान्त्रिक समाजवाद में उनका दृढ़ विश्वास था, लेकिन इसकी स्थापना हेतु वे शक्ति या दबाव के पक्षपाती नहीं थे। इस तरह से वे व्यावहारिक समाजवादी थे और धीरे-धीरे समाजवाद की ओर देश को ले जाना चाहते थे। जमींदारी उन्मूलन, रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता की समाप्ति जैसे कार्य सर्वप्रथम किये।

समाजवादी ढाँचे की समाज व्यवस्था के बारे में उन्होंने कहा है कि समाज में सबको अवसरों की समानता मिलनी चाहिए जिससे सौजन्य जीवन बिताया जा सके। इसके लिए हम उत्पादन के उत्तम तरीके अपनायें ताकि हमारा जीवन स्तर ऊँचा हो सके। उन्होंने समनता पर अधिक बल दिया। यद्यपि वे वैज्ञानिक समाजवाद में विश्वास रखते थे, वे समाजवाद की धारणा को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहते थे। प्रजातन्त्र और समाजवाद को वे एक ही मानते थे। वे व्यक्तित्व की पूर्ण सुरक्षा चाहते थे, वे उसका समाज या समूह में विलय नहीं चाहते थे।

नेहरू जी की दृष्टि में राजनीतिक जनतन्त्र के साथ साथ आर्थिक कल्याण और सामाजिक अभ्युत्थान दोनों का जुड़ाव आवश्यक है।[77] उन्हींके शब्दों में हमारी जनतन्त्र में आस्था है, समानता और विशेषाधिकारों के उन्मूलन; दोनों ही लक्ष्यों को समाजवादी समाज की स्थापना द्वारा शांतिपूर्ण उपायों से प्राप्त किया जा सकता है।[78] भारतीय राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में श्री नेहरू के लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि एक लम्बे अर्से तक देश में उन्हींके निर्देशन में लोकतन्त्र का विकास हुआ।

जयप्रकाश नारायण

भारतीय समाजवादी नेताओं में श्री जयप्रकाश नारायण का स्थान शीर्षस्थ रहा है। जनता के बीच रहकर आपने लोकतन्त्रात्मक समाजवाद का प्रचार-प्रसार किया है। सन् 1934 में जब समाजवादी दल की स्थापना हुई तभी से श्री जयप्रकाश नारायण आचार्य नरेन्द्र देव के साथ कार्य करते रहे हैं। सन् 1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में आपको काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नेहरू जी ने सरकार में आकर सहयोग देने के लिए जयप्रकाश जी का कई बार आह्वान किया किन्तु उन्होंने समाजवादी दल में रहकर ही देश सेवा करना उचित समझा। सन् 1954 में जयप्रकाश जी ने प्रजा समाजवादी दल की कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया और सर्वोदय आन्दोलन में लग गये। आपने समाजवाद के आर्थिक आधारों की व्याख्या की है। गांधीजी आपके विचारों के प्रशंसक थे। जयप्रकाश नारायण के समाजवादी विचारों पर अमेरिका तथा इंग्लैण्ड के समाजवादियों के विचारों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

समाजवाद को सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण का वे पूर्ण सिद्धान्त मानते थे। वे सामाजिक एवं आर्थिक समानता के हामी थे किन्तु बौद्धिक क्षमता के स्तर की विषमताओं को स्वीकार करते थे। समाजवाद के द्वारा पूरे समाज का सन्तुलित एवं सततिपूर्ण विकास होगा, ऐसा वे मानते थे। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होने से समाजवाद स्थापित हो सकता है। उत्पादन के बड़े-बड़े संस्थानों पर सामूहिक स्वामित्व होना चाहिए। गाँव आत्मनिर्भर हों, सहकारी खेती की व्यवस्था हो। श्री जयप्रकाश नारायण ने सन् 1975 की आपात्कालीन स्थिति की घोषणा का विरोध किया था। वे लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे। इस हेतु जनता पार्टी की स्थापना करके उन्होंने वास्तविक लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया जो पूरा नहीं हो सका। वैसे आपके समाजवादी विचारों में स्पष्टता का अभाव है। समाजवाद की व्याख्या करते हुए श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा है—"समाजवाद एक ऐसा वर्गविहीन समाज है जिसमें सभी श्रमिक हैं, जिसमें निजी सम्पत्ति के हितों के लिए मानव श्रम का शोषण नहीं होता, जिसमें सभी सम्पत्ति वास्तविक रूप से राष्ट्र की या कामनवैल्थ की है, जिसमें किसी की अनुपार्जित आय नहीं, जिसमें आय की अधिक असमानताएँ नहीं, जिसमें मानव जीवन का संचालन तथा उन्नति योजनाबद्ध तरीके से होती है; जिसमें सब सबके लिए जीते हैं।"[79]

राममनोहर लोहिया

भारतीय समाजवादी आन्दोलन के जुझारू नेता के रूप में डा० राममनोहर लोहिया का नाम प्रसिद्ध है। आप सदैव सरकारी नीति के कटु आलोचक रहे हैं। सन् 1952 में आप कांग्रेस समाजवादी दल के सभापति थे। सन् 1955 में 'सोशलिस्ट पार्टी आफ इण्डिया' की स्थापना हुई और आप उसके प्रथम अध्यक्ष बने। श्री लोहिया ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने में भरसक प्रयत्न किया। उनका प्रबल मत था कि लोक भाषा से ही वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना हो सकती है। विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के वे पक्षपाती थे और कुटीर उद्योगों का विकास चाहते थे। छोटी मशीनों की सहायता से चलने वाले छोटे उद्योगों के विकास से अधिकतम लोगों को रोटी-रोजी मिलेगी, इसीलिए इस प्रकार की अर्थव्यवस्था चाहते थे। वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को तो मानते थे, किन्तु मार्क्सवाद के अंधे भक्त नहीं थे। इतिहास के चाक्रिक सिद्धान्त में उनका विश्वास था। महात्मा गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सहारा लेकर जन अधिकारों की प्राप्ति चाहते थे।

श्रीपाद अमृत डांगे

श्रीपाद अमृत डांगे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के महाप्राण हैं। आप भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। यद्यपि आप वयोवृद्ध, अस्वस्थ और शारीरिक रूप से कमजोर हैं, फिर भी भारत में वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना हेतु आप आज भी प्रेरणा के स्रोत बन हुए हैं। आपने ही सर्वप्रथम चीन की समाजवादी मार्ग से विलग होने की चेतावनी दी थी। अपनी पुस्तक 'भारत आदिम साम्यवाद से आज तक' (India from Primitive Communism to Slavery) में आपने भारतीय इतिहास का मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आलोक में महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है। भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए आपने कांग्रेस की प्रगतिशील नीतियों—विशेष रूप से श्री नेहरू एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी की नीतियों का समर्थन किया है।

लोकतांत्रिक समाजवाद की भारतीय परम्परा के उपर्युक्त विचारकों एवं राजनीतिक कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्बद्ध डॉ० भीमराव अम्बेडकर, राधाकुमुद मुकर्जी प्रभृति के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक चेतना में लोकतांत्रिक समाजवाद सबसे महत्त्वपूर्ण विचारधारा के रूप में विकसित हुई है। भारतीय राजनीति में शायद ही कोई राजनीतिक दल या राजनेता हो, जो स्वयं को लोकतांत्रिक समाजवाद में आस्थावान् न मानता हो अथवा इसका समर्थक न हो। यह विचारधारा इतनी व्यावहारिक, उपयोगी और सर्वमान्य रही है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में इस विचारधारा से सन्दर्भित प्रसंग प्रवृत्तियाँ सर्वत्र उपलब्ध हैं।

समीक्ष्य हिन्दी महाकाव्यों में निरूपित लोकतान्त्रिक समाजवाद की मूलभूत प्रवृत्तियाँ

1. सामाजिक सगठन का लोकतन्त्रीय आधार
2. लोक सामर्थ्य या जनशक्ति में आस्था
3. व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की मान्यता
4. पूँजीवादी शोषण का प्रतिरोध
5. शोषितो, दलितो एव पीडितो के प्रति सहानुभूति
6. सामाजिक समता की सकल्पना
7. श्रम की महत्ता का प्रतिपादन
8. उत्पादन के साधनो का राष्ट्रीयकरण
9. राजनीतिक और आर्थिक स्वत त्रता पर समान बल
10. मूल मानवीय अधिकारो का अनुसमर्थन
11. अधिनायकवादी व्यवस्था (साम्राज्यवाद, राजतन्त्र, उपनिवेशवाद आदि) का विरोध
12. यथार्थवादी एव वैज्ञानिक जीवन दृष्टि
13. 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त मे आस्था
14. राज्य सत्ता के लोप और वर्गविहीन आदर्श समाज की सकल्पना।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे प्रमुखत हुई है। प्रस्तुत प्रकरण म हम उल्लिखित प्रवृत्तियो का ही सन्धान समीक्ष्य हिन्दी महाकाव्यो के माध्यम से करेंगे।

1. सामाजिक सगठन का लोकतन्त्रीय आधार

लोकतान्त्रिक समाजवाद मे समाज के सगठन का आधार लोकतन्त्र होता है। राजनीतिक सत्ता से लेकर अन्य सभी आर्थिक, सास्कृतिक, धार्मिक सगठन जन भावनाओ के अनुकूल ही गठित होते हैं। फ्रासीसी राज्य क्रान्तियो (सन् 1830 एव 1848) मे लोकतन्त्र को वैधानिक रूप प्राप्त हुआ था किन्तु इस प्रकार के प्रजातन्त्र को मार्क्स ने 'वैधानिक अधिकारो का खेल' बताया। जब मार्क्सीय समाजवाद की वैज्ञानिकता और नैतिकता विशाल पश्चिमी प्रजातान्त्रिक राष्ट्रो मे विकसित हुई तो तथाकथित वैधानिक प्रजातन्त्र का रूप धूमिल पडने लगा।[50] तत्पश्चात् प्रजातन्त्र का विकास पूँजीवादी और समाजवादी देशो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे हुआ। वस्तुत पूँजीवादी देशो मे सामाजिक सगठन का आधार पूँजीवादी प्रजातन्त्र है। भारत म भी राजनीतिक आर्थिक सगठन पूँजीवादी प्रजातन्त्र के आधार पर ही गठित हुए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे सामाजिक सगठन के ढाँचे मे प्रजातन्त्र का मिश्रित आधार दृष्टिगत होता है।

राजतन्त्र के अन्याय, अत्याचार और क्रूर व्यवहार से जब लोगो की सहनशक्ति समाप्त हो जाती है तो सत्ता परिवर्तन हेतु जनआन्दोलन होता है और तब लोकराज्य की स्थापना होती है। 'कल्पान्त' मे निरकुश राजतन्त्र को समाप्त कर लोकराज्य

की स्थापना पर बल दिया गया है—

'नीचे से ऊपर तक सारा
बदला राज्य स्वरूप
जन गण इष्ट देव के सन्मुख
विनत हुए सब रूप
लोक राज्य की प्राण प्रतिष्ठा
कर प्रसन्न ये लोग
बिना बुलाये ही जीवन में
आया शुभ संयोग।"[61]

26 जनवरी सन् 1950 से भारत में संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई। स्वतन्त्र भारत में संविधान का लोकतन्त्रात्मक स्वरूप ही स्वीकार किया गया। इस प्रकार देश में सामाजिक संगठनों को लोकतन्त्र का आधार प्राप्त हुआ। स्वाधीन भारत में लोकतन्त्र की स्थापना में प० जवाहरलाल नेहरू का प्रमुख स्थान रहा है। 'मानवेन्द्र' महाकाव्य की निम्नांकित पंक्तियाँ नेहरू जी के इसी वर्चस्व को प्रमाणित करती है—

"लोकतन्त्र ने दीप जलाये, नया विधान बना था
स्वतन्त्रता में प्रजातन्त्र का—नया वितान तना था।
सच तो यह है व्यष्टि सृष्टि में—सबसे यश सृजन यह।
जिसने एक कर दिया भारत, धन्य धन्य वह धन है।।"[62]

इस देश की जनता एक तरफ अंग्रेजी शासन के दमन से पीड़ित थी तो दूसरी ओर देशी राजाओं के अत्याचार भी कम न थे। इस दोहरी दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जनता ने दीर्घकाल तक संघर्ष किया। भारत में लोकतन्त्र की स्थापना हेतु लन्दन की गोलमेज सभा में बाबा साहब भीमराव अम्बेदकर ने अपनी ओजस्वी वाणी में दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा था—

"जनता की हो जहाँ भलाई,
समता का अधिकार मिले।
जनता को जनता के द्वारा—
संचालित सरकार मिले।"[63]

कैकेयी ने लोक विरुद्ध पथ पर चलकर अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए युवराज रामचन्द्र को वनवास दिलवाया और भरत को राज्य पद। राजा दशरथ भी इसका विरोध नहीं कर सकते। किन्तु लक्ष्मण, इस अन्याय का विरोध करते हुए लोकतांत्रिक स्वर में उद्घोषणा करते हैं—

"राज नहीं कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज यहाँ,
जन-गण-मन-रंजन कर्त्ता ही
होता है अधिराज यहाँ।"[64]

शेख मुजीब की अगुआई मे पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। मुजीब प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के पक्षपाती थे। याह्या खान ने चुनाव करवाये। चुनाव में मुजीब की पार्टी की विजय हुई और प्रजातन्त्रीय शासन की आशा बँधी। किन्तु पूर्वी पाकिस्तान की जनता को घोर दमन और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। अन्त मे प्रजातांत्रिक बंगला देश के उदय के लिए उस धरती के लाखो सपूतो ने अपना बलिदान दिया। मुजीब की आशा को 'बंगला देश' महाकाव्य मे निरूपित करते हुए श्री तिलक ने लिखा है—

"एक तन्त्र का कुहरा हट जायेगा
प्रजातन्त्र का सूरज नया उगेगा।
सबको जीने का अधिकार मिलेगा
कमल जिन्दगी का फिर से विकसेगा।"[85]

लोकतन्त्र में सत्ता की बागडोर आम जनता के हाथो में रहती है। यदि शासक-गण जन भावनाओ के विपरीत कार्य करते हैं, तो जनता को अधिकार है कि वह ऐसे शासको को सत्ता से हटाये अथवा उन्हें न्यायपथ पर चलने के लिए बाध्य करे। 'आजनेय' महाकाव्य मे श्री श्याम नन्दन किशोर ने शासक वर्ग के अन्यायपूर्ण कार्यों की ओर ही संकेत करते हुए लिखा है—

"शासित शासक को कहे—
कि वह अन्याय-मार्ग पर चलता है,
आजाद देश मे कौन यहाँ
जिसके टुकड़ो पर पर पलता है ?"[86]

भारतवर्ष मे महाजनपदो के विकास के पहले गणराज्यों का एक युग रहा है। इन गणराज्यो मे वैशाली का गणराज्य अपनी गरिमा के कारण विशेष उल्लेखनीय है। वैशाली मे ऐसी गणतन्त्र शासन प्रणाली प्रचलित थी जिसमे लिखित विधान द्वारा राजकार्य सचालित होता था। सभी को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार उपलब्ध थे—'आम्रपाली' महाकाव्य मे वैशाली गणतन्त्र की शासन प्रणाली का स्पष्ट चित्रण हुआ है। यथा—

"शासन की गणतन्त्र प्रणाली
स्वाभिमान सजग स्वच्छंद
सब समान अधिकार भोगते
मूर्तिमत उन्मद आनन्द

+ + +

नियमन करती थी उस गण का
एक प्रवेणी पुस्तक शुद्ध,
मुक्त मुक्ति स्वच्छन्द कला से
जन-जन सजग सुभग सबुद्ध।"[87]

पूँजीवादी ढाँचे मे लोकतांत्रिक समाजवाद की अनेक बुराइयाँ प्रगट होती हैं,

जिनसे आम जनता के अधिकारों का हनन होता है। वैशाली गणतन्त्र में वर्तमान लोकतांत्रिक समाजवादी भारत की तरह अनेक बुराइयाँ घर कर गई थी। प्रजातन्त्र की रक्षा और लोकहित के नाम पर गणतन्त्र का ढोल पीटा जा रहा था किन्तु वास्तव में वैशाली का गणतन्त्र आम्रपाली के व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सका। 'आम्रपाली' में वैशाली के प्रजातन्त्र के गौरव का सशक्त चित्रण मिलता है—

"यह प्रजातन्त्र यह महातन्त्र
जन-जन का इसमें तत्व निहित,
अक्षुण्ण रहे राज्य धरा
इसमें ही रक्षित सबका हित।"[88]

लोकतन्त्र में किसी प्रस्ताव को कानूनी रूप देने के लिए मतगणना का प्रावधान है। वैशाली गणतन्त्र में महत्वपूर्ण प्रस्तावों के लिए वर्तमान प्रजातन्त्र की तरह मतगणना की जाती थी। 'आम्रपाली' महाकाव्य में वर्तमान प्रजातन्त्र की तरह मत प्रणाली का चित्रण किया गया है—

'पड़ गये छन्द फिर श्याम श्वेत
गणकों ने गणना पूरी की,
बहुमत से यह प्रस्ताव हुआ
गणपति ने इच्छा पूरी की।"[89]

रावण की मृत्यु के पश्चात् श्रीराम ने विभीषण को लंका का राजा नियुक्त किया। कुछ समय पश्चात् रावण के पुत्र अरिमर्दन ने लंका पर आक्रमण किया जिससे समस्त राज्य में भय और आतंक छा गया। विभीषण के अनुयायी घबराने लगे। किन्तु तटस्थ और स्वतन्त्र विचारों के लोग, जो विभीषण के शासनतन्त्र से दुःखी थे प्रसन्न हुए। उन्हें आशा थी कि सम्भवतः नया विजेता देश में लोकतन्त्र की स्थापना करेगा। 'रावण' महाकाव्य में श्री हरदयालुसिंह ने वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ही लोकतन्त्र का समर्थन किया है—

"जे हे स्वतन्त्र-विचार के ते सब सुनत हर्षित भये।
जनतन्त्र थापन-भाव बहु तिन सबन के जागे नये।।
लागे विचारन नव विजेतहिं वच्छ म निज लाइ हैं।
अरु थापना जनतन्त्र शासन की इतै करवाइ हैं।"

समाजवाद और प्रजातन्त्र की व्यवस्था की स्थापना हेतु सदियों से जनता संघर्ष करती आ रही है। 19वीं और 20वीं शताब्दी में लोक शक्ति के उदय के साथ अनेक देशों में सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं और राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र स्थापित हुआ। जनता के दीर्घकालीन संघर्ष के परिणामस्वरूप उद्भूत प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का सर्वत्र स्वागत भी किया गया। 'लोकायतन' में पंत जी ने प्रजातन्त्रीय देशों की अभ्यर्थना की है—

"राजनीतिक, सामाजिक क्रान्ति
घटी बहु—राज्य तन्त्र कर अन्त
छँटा निष्क्रिय सामन्ती धुन्ध

खुला मानस मे नया दिगत।
मिटा जीवन का जीर्ण विषाद,
किया नवयुग ने स्वर्ण प्रवेश,
रुपहले बने लोक ' सम्बन्ध
प्रजातांत्रिक अब भू के देश।"[31]

राम और सीता के भावो और विचारो को युगीन परिप्रेक्ष्य मे यदि आँका जाय तो लोकतन्त्र का आदर्श रूप स्थापित हो सकता है। 'लोकायतन' मे श्री पत ने जन-सेवा रूपी सीता को राम द्वारा नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है—

"देखोगी तुम लोकतन्त्र स्वर्णोदय
मानव जीवन मूल्यों का नव वितरण
नये कल्प की प्रसव व्यथा पृथ्वी की
छिडा निखिल जग मे बाहर भीतर रण।"[32]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि अधिकाश महाकाव्यकार समाजवादी लोकतन्त्र से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निश्चयत प्रभावित हुए हैं। महाकाव्यों के कथानक और उनके नायक राजतन्त्र के पोषक ही क्यों न रहे हों, उनके आदर्शों की अभिव्यक्ति लोकतात्रिक सगठन के अनुकूल हुई है। जनता के सम्मान और हित के प्रति हिन्दी के महाकाव्याकार प्रबुद्ध और सजग हैं। समाज को स्वस्थ लोकतन्त्रीय आधार प्राप्त हो सके—इसकी उपलब्धि मे जनता के सघर्ष को इन महाकाव्यकारों ने सशक्त वाणी प्रदान की है।

2 लोक सामर्थ्य या जनशक्ति मे आस्था

वर्तमान युग वस्तुत जनशक्ति का ही उद्घोष करता है। नूतन समाज रचना मे जनशक्ति की क्रियाशीलता ही आज के महाकाव्य की प्रेरणा है। 'मेधावी' महाकाव्य म श्री रागेय राघव ने जनशक्ति का आह्वान किया है। यथा—

"हे जन शक्ति महान
जागो और जगाओ
हम पृथ्वी स्वर्ग बनायेंगे
हम दुनिया नई बसायेंगे
हम महा जागरण गर्जन कर
अविराम चेतना लायेंगे
हे मजदूर किसान
जागो और जगाओ।"[33]

मुशी प्रेमचन्द की आस्था लोकहित मे थी। उन्होंने जन-जन को समाज की नींव माना है। मुशी प्रेमचन्द सामाजिक सम्पत्ति पर पूँजीपतियों के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते थे। 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' महाकाव्य मे श्री द्विरेफ ने प्रेमचन्द जी की इन्ही भावनाओं को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"है नहीं स्वयं धनिकों का धन
अधिकारी हैं समाज जन-जन
यह न्याय न, वे निसबाद करें
उससे जैसा जब चाहे मन।"[94]

सामाजिक उत्पादन जनता की अपार श्रम शक्ति पर निर्भर करता है। जनता ही "सामाजिक क्रान्तियों तथा राजनीतिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों की किस्मत का फैसला करने वाली मुख्य शक्ति भी है।"[95] यह भावना श्री द्विरेफ ने 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' महाकाव्य में उत्पादन के साधनों पर समाज के सामूहिक स्वामित्व की अभ्यर्थना करके निरूपित की है—

"यह आवश्यक, ये सब साधन
जो वितरण, विनिमय, उत्पादन
इन पर अधिकार रहे सबका
सबका ही हो मधु आराधना।"[96]

त्रिपुरी की जनता असुरों की सत्ता से अत्यधिक पीड़ित थी। शोणितपुर के रण में तारकवध हुआ किन्तु उसके तीनों पुत्रों का शासन त्रिपुरी की जनता के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। 'पार्वती' महाकाव्य में 'त्रिपुर उद्धार' के लिए जन जागृति के साथ क्रान्ति का आह्वान भी किया गया है—

"बोल उठे सब एक कंठ से 'मानवता की जय हो'
गूँज उठा स्वर अंतरिक्ष में 'अन्त समस्त अनय हो'
जीवन का श्रम, श्रेय और सुख चिर अधिकार हमारा,
करना हमको सिद्ध संघ के शक्ति मन्त्र के द्वारा।"[97]

विक्रमादित्य के आश्रित होते हुए भी महाकवि कालिदास जनशक्ति के पक्षधर थे। उन्होंने भारत भ्रमण कर सृजन शक्ति का संचय किया था। 'कालिदास' महाकाव्य में श्री तिलक ने जनता की असीम शक्ति को रूपायित किया है—

"जनता सकती आचार बदल
राजा का बुरा विचार बदल
जनता की शक्ति असीम और
वह सकती है संसार बदल

+ + +

जिसके सिर चाहे धरे ताज
जन चाहे वह दे बदल राज
जनता-जनार्दन के आगे
कोई न असंभव रहा काज।"[98]

लोकतांत्रिक समाजवादी समाज में जनता ही शक्ति का स्रोत होती है श्री चांदमल चन्द्र के महाकाव्य 'कैकेयी' में राजा दशरथ की आज्ञा से रामचन्द्र को कैकेयी ने वनवास दिलवाया। इस पर अयोध्या की जनता में राजा के प्रति रोष उत्पन्न

हुआ। जब राम, लक्ष्मण और सीता वनवास जाने को तैयार हुए तो अयोध्या की जनता ने राजा दशरथ और रानी कैकेयी के आदेश के विपरीत आवाज उठायी, जो लोकतान्त्रिक भावनाओं के सर्वथा अनुकूल कही जा सकती है। यथा—

"करे भाग्य का अपने निर्णय
जनता को अधिकार।
कर न सके उन अधिकारों से,
राजा भी खिलवार।।
शक्ति देश की प्रजा वस्तुतः,
निरे न जड़ हथियार।
चाहे जिसको जनता देवे,
शासन के अधिकार।"[99]

लोकतान्त्रिक शासन पद्धति में किसी भी प्रकार के अन्याय का जनता विरोध कर सकती है। भारतीय जनता ने हमेशा जनहित के लिए संघर्ष किया है। सरदार भगतसिंह अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति के पक्षपाती थे। उनका कहना है—

'शासन जन-हिताय होता है, जनता उसे बदल सकती है,
यदि शासक अत्याचारी हो, जनता उसे कुचल सकती है।
यदि अर्थ शासन का, भारत की जनता है रही लगाती,
अनय और अन्यायी, दोनों को वह रही सदा ही खाती।"[100]

महर्षि वशिष्ठ के मतानुसार राज्य की अधिकारिणी प्रजा ही होती है। 'कैकेयी' महाकाव्य में राजा को प्रजा का प्रतिनिधि मात्र माना गया है। यदि प्रजा चाहे राजा को कभी भी हटा सकती है—

"दण्डधारी भूप को भी जो अगर,—
चाहती हो, तो प्रजा सकती हटा।
कौन रोके, शक्ति उसकी उत्कटा;
चुन सके चाहे अभी राजा अपर।"[101]

प्रजा की इच्छा के विपरीत राम को वन गमन का आदेश मिला। राजा दशरथ के इस निर्णय का प्रजा की तरफ से विरोध किया गया—

"नहीं, नहीं हम होने देंगे,
ऐसा कभी अनर्थ।
कर लें नृप जो मनमानी तो,
जन-मत का क्या अर्थ?
करें भाग्य का अपने निर्णय,
जनता को अधिकार।
कर न सकें उन अधिकारों से,
राजा भी खिलवार।"[102]

श्री पंत ने 'लोकायतन' में जनशक्ति के प्रति अपनी आस्था इस प्रकार व्यक्त की है—

"दृढ़ संकल्प बनाता निर्भय निज पथ,
सामूहिक जन बल ही युग जीवन रथ।
जन समुद्र का दुर्दम ज्वार न थमता,
दुर्बल व्यक्ति सोचता रहता इति अथ।"[103]

देश की दयनीय दशा का अनुभव करते हुए दुष्यंत ने अन्तिम दिनों में जनशक्ति के महत्त्व को समझा था—

"कहूँगा मैं भरत से अब कि नृपता नहीं स्थायी,
भविष्यत जता देगा व्यक्ति सत्ता की व्यथा को
उभरती शासकता ही सदा उस अम्बुद-जन से
कि जो फिर चतुर जिह्वा पर गुलाबी वाक्य ढोता।"[104]

महाभारती के विश्वामित्र ने प्रजातान्त्रिक विचारों को अभिव्यक्त किया है। भरत को शिक्षा देते हुए उन्होंने राजतन्त्र द्वारा उत्तम लोकशासन को असम्भव बताया है।[105] इस प्रकार हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में अनेक स्थलों पर लोक सामर्थ्य या जनशक्ति के प्रति आस्था की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। महाकाव्यकारों पर लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा का प्रभाव ही कहा जायेगा कि उन्होंने आदर्श राजतन्त्र के चित्रण में भी जनशक्ति को समग्र रूप में महत्त्व दिया गया है।

3 व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की मान्यता

लोकतन्त्र में व्यक्ति के स्थान पर समाज को प्रमुखता दी जाती है। समाजवादी लोकतन्त्र अपने को तभी सार्थक करता है जब समाज के सुख, दुःख के लिए व्यक्ति स्वयं को समर्पित कर देता है। 'बंगला देश' महाकाव्य में समष्टि को ही प्रमुखता दी गई है। यथा—

"जब समाज है सुखी, व्यक्ति भी सुखी सभी है,
सुख का अर्थ यही सच्चा है।
घुला मिला देना अपने को ही समष्टि में
सबसे धर्म-कर्म अच्छा है।"[106]

कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने भी व्यक्ति की तुलना में समष्टि को ही प्राथमिकता दी है—

"इह पर के, नर ईश्वर के छोरों पर
स्वर्ण सेतु, शत रत्न ज्योति स्मित निर्मित,
लोक मुक्ति ही मुक्ति, कर्म अब पूजन,
भव गति में विज्ञान ज्ञान संयोजित।"[107]

भरत राम को अयोध्या लौटाने हेतु वन गये। सभी सगे सम्बन्धियों ने भी राम से अयोध्या लौट चलने का आग्रह किया। किन्तु राम के सम्मुख कर्त्तव्य पालन की

भावना प्रमुख थी। भरत के पूछने पर राम जीवन का मर्म स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मानवता का उत्थान ही जीवन का मर्म है। इसी प्रसंग में समष्टि का महत्व भी प्रकाशित हुआ है—

"संघ की शक्ति बन गई आप
व्यक्ति की शक्ति गई जब हार।"[108]

व्यक्ति के क्रिया-कलाप सामाजिक जीवन में समाहित होते हैं। उसके विकास की संभावना भी सामाजिक जीवन पर ही निर्भर है। रांगेय राघव के 'मेधावी' महाकाव्य में सामाजिक प्रभुत्व का ही महत्व दिया गया है—

"व्यक्ति का सामाजिक निर्माण
बनेगा कब जीवन वरदान।"[109]

'रामराज्य' महाकाव्य में राम ने बाली के स्थान पर सुग्रीव को राज्य सौंपा। राम ने उस समय स्पष्ट किया कि यदि व्यक्ति मात्र अपनी उन्नति में लगा रहे तो स्वार्थपरता होगी। व्यक्ति का महत्व संगठित समाज में सबके लिए कार्यरत होने में है—

"यह समुन्नति क्या, रहे यदि राष्ट्र दैवाधीन
निज प्रगति में आत्म-निर्भर हो मनुष्य प्रवीण।
संगठित बन यदि अभावों को करे वह दूर
तो न उस पर दैव रह सकता बहुत दिन क्रूर।"[110]

सोवियत रूस में लोकतांत्रिक समाजवादी आधार पर जिस नये समाज का निर्माण हुआ है, उसका मूल आधार समष्टि ही है। पंत जी ने इस तथ्य की पुष्टि प्रकारान्तर से की है—

"नव्य जाग्रत यह जन भू भाग
धरा की अब समृद्ध जनशक्ति
महत् सामाजिकता का अंग
यहाँ का जीवन सक्रिय अंग।"[111]

'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' महाकाव्य में प्रेमचन्द की भावनाओं को व्यक्त करते हुए श्री द्विरेफ ने समाज या संघ को ही महत्व दिया है—

"जो व्यक्ति कमा कर है खाता
सामूहिक जीवन से नाता
उसके सुख दुख का भार क्षेम
समुदाय संघ पर ही आता।"[112]

प्रजातंत्र में नेतागण जनता को भुलावे में रखकर अपने स्वार्थों की सिद्धि में लगे रहते हैं और अपनी महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। 'आजनेय' महाकाव्य में नेता (व्यक्ति) से पहले जनता (समष्टि) को अधिक महत्व देने की भावना पर बल दिया गया है—

"नेता की महिमा से पहले
जनता की सेवा का महत्व
वह मूढ़ रसातल जाता, जो
जानता नहीं यह गूढ़ तत्व।"[113]

जब समाज में व्यक्तिवाद प्रबल होने लगता है, तो स्वार्थपरता और उच्छृंखलता को प्रश्रय मिलता है। वैशाली गणतंत्र की पतनावस्था में व्यक्ति की महत्ता जब बढ़ने लगी तो सामाजिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो गई। 'आम्रपाली' में भी अमरसिंह ने परोक्ष रूप से समष्टि के महत्व को ही स्वीकार किया है—

"व्यक्ति महत्ता बढ़ती जाती
ढीले पड़े गठित सब तन्त्र,
जनमानस की खंडित भावना
स्वेच्छाचारपूर्ण जनतंत्र।"[114]

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'जयभारत' में कुन्ती ने ब्राह्मण परिवार के मुखिया से कहा कि जिस राज्य में व्यक्ति के जीवन-धन की रक्षा न हो सके, उसे छोड़ देना ही श्रेष्ठ होता है। यदि आप राज्य छोड़कर चले जाते तो अब राक्षस बक का भोज्य न बनना पड़ता। समष्टि-हित में आस्था रखने वाले ब्राह्मण ने कहा—

"जन एक देता प्राण है,
होता सभी का त्राण है,
सबके लिए निज नाश करना
किस भाँति फिर मैं भागता,
निज जन्म भू को त्यागता?
दस भाइयों के साथ मरना भी भला।"[115]

लोकतंत्र में व्यक्ति अपने गुप्त स्वार्थों का त्याग करके जनहित में कार्य करता है। समाज में व्यक्ति का स्थान गौण होता है। सामाजिक संगठन की रचना भी इसी आधार पर हुई है कि व्यक्ति के स्थान पर समाज को अधिक महत्व दिया जाय। जब-जब समष्टि द्वारा देश या समाज के महत्व को नकारा गया है और व्यक्ति अपने ही स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न हुआ है तब-तब सामाजिक संगठन टूटते नजर आये हैं। लोकतंत्र की सफलता व्यक्तियों के त्याग और परस्पर सहयोग पर निर्भर करती है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में समष्टि के महत्व को महाकाव्यकारों ने स्वीकार किया है।

4 पूँजीवादी शोषण का प्रतिरोध

समस्त पूँजीवादी सामाजिक ढाँचा शोषण पर आधृत है। इस पूँजीवाद का विरोध करने के लिए संसार भर में शोषितों के संगठन स्थापित हुए हैं। समाजवादी समाज की परिकल्पना और उसकी स्थापना के प्रयास निरन्तर चलते रहे हैं। फ्रांस, रूस, चीन आदि देशों की क्रान्तियों के मूल में पूँजीवादी शोषण का प्रतिरोध ही कार्यरत

रहा है। वस्तुत. मार्क्सवादी दर्शन तो पूँजीवाद की कब्र पर ही खड़ा किया गया है। लेनिन ने शोषण विहीन समाज की रचना के सम्बन्ध मे स्पष्ट किया है—"समाजवाद ने सारी दुनिया मे मानव द्वारा मानव के समस्त शोषण के खिलाफ लड़ने का लक्ष्य अपने सामने रखा है। हम उस जनवाद को यथार्थ महत्त्व देते हैं, जो शोषितो के काम आता है, उन लोगों के काम आता है जो हीनता की स्थिति मे डाल दिये गये हैं।"[116]

हमारा देश सन् 1947 मे अंग्रेजो की दासता से मुक्त हुआ और साम्राज्यवादी शोषण का अन्त करके लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य की स्थापना का उद्देश्य निर्धारित किया गया। देश के साहित्यकारो ने भी अपनी रचनाओ मे शोषितो, दलितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी महाकाव्यकारों ने तो अपनी सशक्त वाणी मे शोषण के विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठायी है। 'मेधावी' महाकाव्य में श्री रांगेय राघव ने शोषण का अन्त करने के लिए मानव संकल्प को वाणी दी है। वे कहते हैं—

"प्रकृति का नियम यही है एक
कि अति का होगा विध्वंस
युगो के शोषण का यह क्रोध
अरे मानवता का विक्षोभ
सत्य के पथ का नव निर्माण
नही रुक सकता कभी अबाध
नही झुक सकता वह निर्बाध।"[117]

शोषण मुक्त भावी समाज की परिकल्पना करते हुए कवि ने कहा है कि—

"एक धरती होगी यह भूमि
और भौतिक के दुख चूर
बनायेंगे मानव वह पथ
जहाँ शोषण का रहे न नाम
जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य सुख शांति
करेंगे निशि दिन नृत्य।'[118]

पूँजीपतियो का जीवन शोषण के सहारे ही पलता है। जिस समाज मे पूँजीवाद को प्रश्रय मिलता है उसमे आम जनता दु.खी और पीड़ित रहती है। उसमे हमेशा विद्रोह की स्थिति बनी रहती है—

"ऐसा समाज न सके विराज
जिसमे धनिकों का रहे राज
विद्रोह-नृत्य होता उसमें
प्रलयों का जुटता साज-बाज।"[119]

भारतीय समाज का दोहरा शोषण देखकर नेहरू जी को बहुत दु.ख हुआ।

उन्होंने किसान-मजदूरों के शोषण और दुर्दशा का अन्त करने का संकल्प इन शब्दों में व्यक्त किया—

"रोता है किसान भारत का, पूँजीपति हँसता है।
महल बनाने वाला भोला झूँडे में बसता है॥
+ + +
यदि मैं सत्ताधीश बनूँ तो पूँजीवाद मिटाऊँ।
जमींदार से भूमिहार को उसकी भूमि दिलाऊँ॥"[120]

'मानवेन्द्र' महाकाव्य में श्री रघुवीरशरण मित्र ने शोषितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। 'मानवेन्द्र' काव्यनायक श्री नेहरू ने जीवन भर शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया। उनके नेतृत्व में भारतीय जनता शोषण के विरुद्ध संघर्ष में उनके साथ रही—

"जोड़ो इतना जिससे जीवन सुख से चले सभी का।
अब तो राज्य यहाँ जनता का, राजा गया कभी का॥
सावधान ओ पैसे वालो। जनता जाग रही है।
भोली जनता कर्जदार से—निज निधि माँग रही है।"[121]

देश में उभरते हुए पूँजीवाद से उत्पन्न निराशा को दूर करने के लिए नेहरू जी ने विप्लवी स्वरों में जनता का आह्वान करते हुए कहा—

"देश के धन से लिपट बैठे भयंकर नाग,
रश्मियों पर तम, प्रसूनों पर धधकती आग,
जाग विप्लव जाग।
शेषशायी जाग।
त्याग निद्रा त्याग।"[122]

अहिंसा के आवरण में गरीबों के श्रम का शोषण करने वालों के प्रति श्री रामानन्द तिवारी ने 'पार्वती' महाकाव्य में लिखा है कि—

"बुगा चींटी और मछली भूमि-जल में,
अर्थ की ध्रुव साधना कर धर्म छल में,
वे अहिंसा, धर्म औ नभ के पुजारी
सोखते थे दीन की श्रम शक्ति सारी।"[123]

'पार्वती' महाकाव्य के 'कांचनपुर सर्ग' में कवि ने आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विगर्हणा की भावना व्यक्त की है जो परोक्षतः शोषण का विरोध ही है—

'हस्तगत साधन बना उत्पादनों के,
कर नियन्त्रित कार्य सारे कारणों के,
अर्थ पति बन विश्व में शासन चलाते
श्रमिक जीवन मरण का अधिकार पाते।'[124]

पूँजीवाद की बुराइयों से गाँधीजी भी परिचित थे। उन्होंने समाज में व्याप्त शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी और शोषितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की—

"पूँजी जन-जन की थाती है, रक्त न गैरों को मोटी दो।
विधवाओं का खून न चूसो, नंगे भूखों को रोटी दो।
बोले मिल-मालिक गाँधी से—वर्ग क्या है यन्त्र काल में ?
बापू बोले, श्रम से मोती—कैद मत करो स्वर्ण जाल में।"[125]

इस लोकतान्त्रिक भारत में देश की उन्नति के लिए योजनाबद्ध उत्पादन की प्रक्रिया बनायी गयी थी। किन्तु आम जनता को इन योजनाओं का लाभ नहीं मिल पाया। देश का धन कुछ लोगों के पास एकत्रित होता गया और गरीबों की गरीबी बढ़ती गयी। कवि श्री पंत ने उभरते हुए पूँजीवादी शोषण को देखा ही नहीं अपितु शोषितों के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है—

"ऋण पर्वत कंधों पर धर
कैसे उठता जीवन स्तर
तीसरी योजना चलती
जन भू हड्डी का पंजर।
संचित समस्त युग संपद्
धनपतियों में मुट्ठी भर,
अब मध्य निम्न वर्गों के
जन निर्धन से निर्धन तर।"[126]

शोषण का अन्त करने के लिए सरदार भगतसिंह ने सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया था। श्रीकृष्ण सरल ने 'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य में भगतसिंह के क्रान्तिकारी विचारों का निरूपण करते हुए लिखा है—

"क्रान्ति
उद्घोषणा है ममता समानता की
क्रान्ति
चिर शत्रु यह वर्ग और भेद की।
क्रान्ति को न सह्य इन्सान हैवान बने
ऐड़ी पर चोटी का तीव्र आक्रोश हो।
क्रान्ति
विध्वंसक पैशाचिक व्यवस्था की
जिनसे मनुष्य है मनुष्य को निचोड़ता।"[127]

किसी भी प्रकार के शोषण के विरुद्ध आम जनता का संघर्ष शाश्वत है। लेनिन के शब्दों में—"हम समझते हैं कि जब तक वर्गों का अन्त नहीं कर दिया जाता, हम गृह-युद्धों को यानी उत्पीड़ित वर्ग द्वारा उत्पीड़क वर्ग के विरुद्ध, गुलामों द्वारा गुलाम-मालिकों के विरुद्ध, भू-दासों द्वारा भू-स्वामियों के विरुद्ध और उजरती मजदूरों द्वारा पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध चलाये जाने वाले युद्धों को पूर्णतः वैध, प्रगतिशील और आवश्यक मानते हैं।"[128] महाकाव्यकार स्वयं समाज का प्रबुद्ध सदस्य होता है अतः उसकी

भावनाएँ शोषकों के विरुद्ध स्वभावतः अभिव्यक्त होती हैं। हिन्दी महाकाव्यकारों ने शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान किया है।

5 शोषितों, दलितों एवं पीडितों के प्रति सहानुभूति

लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण, उत्पीडन अथवा दमन के लिए कोई स्थान नहीं होता। वर्ग भेद पूँजीवादी समाज की देन है। अतः समाजवादी समाज में वर्ग नहीं होते। जब वर्ग नहीं तो शोषण और उत्पीडन भी नहीं। मुंशी प्रेमचन्द का जीवन और साहित्य देश के शोषित, दलित वर्ग के लोगों एवं पीडितों के लिए समर्पित रहा। श्री परमेश्वर द्विरेफ ने 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' महाकाव्य में प्रेमचन्द के भावों और विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि उन्होंने हर कदम पर शोषितों, दलितों एवं पीडितों का ही साथ दिया था। मुंशी प्रेमचन्द के पिताश्री की अकाल मृत्यु के समय घोर गरीबी होते हुए भी उनसे मृत्यु भोज की अपेक्षा की गई। समाज के धर्माधिकारी नेतागण ऐसे अवसरों की ताक में रहते हैं। श्री द्विरेफ ने प्रेमचन्द की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए नायक गण को कौओं के समान पराये श्रम पर मौज उड़ाने वाला कहा है—

'पके मांसलों की हड्डियां पर
बैठे कौवे आंख लगाये
वे उसने कब श्रम थे, औरों
के श्रम पर जो मौज उडायें।"[129]

'पर उपदेश कुशल बहु तेरे' की उक्ति के अनुरूप समाज के कुछ नेतागण दूसरों के दुःख-दर्द की परवाह न करते हुए व्यर्थ के कार्यों पर व्यय करने हेतु कटिबद्ध रहते हैं, जबकि वे स्वयं ऐसे अवसरों पर किनारा कर जाते हैं। कवि के शब्दों में—

'पर, क्या वे अपने घर में भी
ऐसा कभी किया करते हैं?
दुर्बल का शोषित पी पी कर
ऐसे लोग जिया करते हैं।"[130]

समाज के निर्धन, दुःखी और पीडित लोगों की मजदूरी का फायदा उठाने वाले नर राक्षस से कम नहीं होते। ऐसे दुष्ट लोग जो दूसरों का शोषण करके ही फलते-फूलते हैं अवसर की ताक में ही बैठे रहते हैं—

'यमदूतों से ये नर-राक्षस
काट-काट कर खा जाते हैं
असमय समय अहर्निश दुर्बल—
को जब ज्यों ही पा जाते हैं।"[131]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देशवासियों को बड़ी बड़ी आशाएँ थी कि देश में लोकतान्त्रिक शासन स्थापित होगा और आम जनता की सर्वतोमुखी उन्नति होगी। लोकतन्त्रात्मक गणराज्य स्थापित हुआ, विकास की योजनाएँ बनीं और देश समृद्ध भी

हुआ। किन्तु नेतागण स्वार्थी निकले और जनता मे वैषम्य की पीडा बढती गई। श्री पन्त ने 'लोकायतन' महाकाव्य मे आजादी के बाद के भारत का ऐसा भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है; जिसमें शोषित-पीडित जनता के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है—

"यह गांधी का गौरव युग,
गण लोकतन्त्र का प्राग्ण
हृत बिलो घरोदों मे घुस
रेंगता लोक कृमि जीवन।
बसते ऊँचे महलो मे
स्वार्थी नर, लोक प्रतारक,
जन रक्षक से भक्षक बन
सेवक से प्रभु, भू शासक।"[132]

एकलव्य निषाद जाति के थे। उनमें क्षमता होते हुए भी उच्च वर्ग के छात्रों के साथ धनुर्विद्या सीखने का अवसर वे ना पा सके। वर्ग भेद को मिटाने के लिए एकलव्य के हृदय की पीडा कभी भी क्रान्ति का रूप ले सकती है—

"हमने सहन की है वर्ग की विगर्हणा,
शूद्र कहलाते रहे सेवा-भाव मान के
किन्तु जब मानव को विद्या का निषेध हो
बात क्या नहीं है क्रान्तिकारी बन जाने की?"[133]

'पार्वती' महाकाव्य मे त्रिपुर उद्धार के लिए सर्वहारा वर्ग का कवि ने आह्वान किया है—

"मर-मर कर भी बन्धु न आता तुमने अब मे जीना,
सींच रहे यह स्वर्ण वाटिका देकर रक्त पसीना,
उगा रहे हो रत्न कुसुम बन दो कौडी के माली
नग्न बदन विलोक हँस रही ये तरुओ की डाली।"[134]

सरदार भगतसिंह शोषित वर्ग की पीडा से बहुत व्यथित हैं उनकी कामना है कि श्रमिक वर्ग को उनके द्वारा उत्पादित भाग मे उचित हिस्सा मिलना चाहिए—

'जो स्वेद बहा, धरती से सोना उपजाएँ
उस सोने मे हो उनकी भी साझीदारी,
उन लोगो के बच्चे भूखे नगे न रहें
उन लोगो को अपनी साँसें न लगें भारी।"[135]

काव्य का मूल ही सहृदयता है। महाकाव्यकार हृदय का द्रवणशीलता का आकर है जो दीन दुखियो, पीडितों और शोषितों की आहों से हमेशा पिघलता रहा है। फिर भला स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे महाकवि की सहानुभूति से वंचित क्यों रहें? निश्चयत: समीक्ष्य महाकाव्यो की, राजनीतिक चेतना का प्रस्थान बिन्दु दलित वर्ग की अभ्युत्थानमूलक गति के अकन मे उभरा है। महाकाव्यकारो ने दलित वर्ग मे

आत्मविश्वास उत्पन्न किया है और उनके मानवीय अधिकारों के प्रति आस्था प्रकट की है।

6 सामाजिक समता की सकल्पना

सामाजिक समता का सिद्धान्त लोकतान्त्रिक समाजवाद की आधारशिला है। जिस समाज म समता को महत्त्व नही दिया जाता, उसमे व्यक्तिवादी, पूँजीवादी वर्ग भेद पनपते हैं और मानव के द्वारा मानव का शोषण होता है। समता मानव को समान धारा पर खड़ा करती है और विकास के समान अवसर उपलब्ध होते हैं। राजतन्त्र होते हुए भी रामराज्य मे सामाजिक समता को प्रमुखता दी गई थी। 'निषादराज' महाकाव्य मे श्री रतनचन्द्र शर्मा ने रामराज्य की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए समता को प्रथम नियम बताया है—

> "और सहस्रो नर नारी थे इत उत बैठे,
> सैनिक राज कर्मचारी भी सब थे बैठे,
> ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेद नही था
> रामराज्य का पहला नियम समता ही था।"[136]

समता की स्थिति के बिना सामाजिक जीवन सुखमय नहीं हो सकता। साम्यावस्था ही सामाजिक श्रम और सामाजिक जीवन का सत्य है। समता की स्थिति मे ही वर्गों की समाप्ति और दु खो का अन्त सभव है। रागेय राघव के 'मेधावी' महाकाव्य मे समता के भाव की व्यजना दृष्टव्य है—

> "साम्य मानव की तृष्णा घोर
> एक ही बिन्दु मिटाये आज
> बिन्दु हर डर का, सिंधु समूह
> किन्तु क्या मेधा का उपहार ?
> साम्य श्रम का जीवन का सत्य
> यहीं से मानव का कल्याण
> एक जग जिसमे दुख हो स्वप्न
> चूर हो वर्गों का अभिमान।"[137]

विष्णुगुप्त ने नदवश का नाश करने मे चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की थी। बल्कि विष्णुगुप्त की बुद्धि और चन्द्रगुप्त की वीरता के योग से ही नदवश नष्ट हुआ किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य म विचार वैषम्य था, जो कभी-कभी सतह पर उभर जाता था। श्री रामखेलावन वर्मा ने अपने महाकाव्य चन्द्रगुप्त मौर्य मे काव्यनायक को अधिक उदार चित्रित किया है। विष्णुगुप्त से अपना विरोध प्रकट करते हुए चन्द्रगुप्त कहते हैं—

> "मैं घातक, तुम जातिवाद के पादप के पालक हो,
> मैं अरि, वर्ण व्यवस्था के तुम शाश्वत सचालक हो।

साध्य मुझे आराध्य मुझे है शुभ सामाजिक समता,
तुम्हें स्वार्थवश साम्य विरोधी भेदभाव से ममता।"[138]

चन्द्रगुप्त का यह कथन युगीन सदर्भों से अनुप्रेरित है। इसी प्रकार 'सारथी' महाकाव्य में बताया गया है कि ब्रह्मा ने सुर, नर और दानवों की रचना की। सुरों और नरों को उनकी इच्छा के अनुसार वरदान देकर दानवों को भी उनकी इच्छा के अनुसार ही ब्रह्मा वरदान देना चाहते थे क्योंकि सृष्टि संचालन में वे किसी प्रकार का वैषम्य नहीं चाहते थे। साम्य दृष्टि के कारण ही कवि ने विषमतारहित वितरण के सम्बन्ध में ब्रह्मा की चिन्तित मन स्थिति का निरूपण किया है। ब्रह्मा की यह चिन्ता लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारों से प्रभावित प्रतीत होती है—

"यदि करूँगा भेद मैं ही आत्मजों में
सृष्टि कैसे थम सकेगी ?
वह विषमता से भरेगी
सब मरेंगे लड़ परस्पर
घोर अत्याचार होगा।"[139]

'सारथी' के रचयिता डॉ० रामगोपाल शर्मा दिनेश ने कहा है कि जीवन दृष्टि समता परक है। आवश्यकता से अधिक संचित करने वाले लोगों को लक्षित करते हुए कवि की भावना श्रद्धा के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त हुई है—

"जीवन में जितने साधन हैं
उन्हें बाँट हँस-हँस कर सबको,
अस्त्र शस्त्र के पहरे में रख
क्यों संचित करता है उनको ?"[140]

राजा जनक अपने समय के प्रबुद्ध और आदर्श नरेश थे। शासन प्रबन्ध में वे सामाजिक समता के पक्षधर थे। 'विदेह' महाकाव्य में कवि ने राजा जनक के समतावादी विचारों को इस प्रकार व्यंजित किया है—

"मैं हूँ मनुष्य
यह राज महल सचमुच सबका
वैभव के गिरि भी मेरे नहीं सभी के हैं
धरती सब की, नभ भी सब का
ये चाँद, सितारे, मेघ, सूर्य मानव के हैं, मानव के हैं ?"[141]

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने गुरु एवं पिता श्री तेगबहादुर के बलिदान से प्रेरणा प्राप्त कर सिक्खों के धार्मिक सम्प्रदाय को सैनिक रूप में संगठित किया। सिक्खों की इस सेना का नाम खालसा रखा गया। खालसा की रचनाधर्मिता लोकतान्त्रिक आधार लिए हुए है। खालसा में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं पाया जाता। गुरु गोविन्दसिंह ने खालसा के हर सैनिक को जाति, वर्ण, वेश, ऊँच नीच आदि के भेदभाव से परे माना है। यथा—

"बहु जात-पात विभेद से भारत हुआ विकलांग है।
बस वर्गहीन समाज ही अधुना समय की माँग है।।
हर खालसा का वर्ण, वेश, विचार जाति समान है।
अब से न कोई नीच, वंचित या कुलीन, महान है।।"[142]

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' बचपन से ही कुल, जाति आदि के भेद-भाव से मुक्त थे। ब्राह्मण होते हुए भी हरिजन, ईसाई आदि किसी भी जाति से उन्हें घृणा नहीं थी। सामाजिक समता में उनकी अटूट आस्था थी। 'निराला' महाकाव्य में श्री तिलक ने निराला जी की सामाजिक साम्य भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"मैं, बड़ा, अपर छोटा मुझ से
उसके मन में यह नहीं बात।
वह समझ रहा ब्राह्मण-हरिजन
मुस्लिम-ईसाई एक जात।"[143]

सामाजिक समता की भावना निराला जी के इस संकल्प से और अधिक पुष्ट होती है कि—

"जब तक न धरा पर समानता का
मैं नव कुसुम खिला दूँगा,
जब तक न व्यथित मानव को मैं
अमृत के घूँट पिला दूँगा,
जब तक हरेक झोपड़ी न
महलों में परिवर्तित कर दूंगा,
जब तक न चमन उजड़े को मैं
फूलों से सुरभित कर दूंगा,
तब तक मेरे जीने का कोई अर्थ नहीं।"[144]

समाज में जन्म से न कोई उच्च होता है और न कोई नीच; किन्तु हमारे देश में अति प्राचीन काल से ही जाति और वर्ण के आधार पर ऊँच-नीच के भेद-भित्ति निर्मित हो गयी है। निषाद को अपनी नीची जाति का बोध था, उन्होंने राम से मिलने पर अपने को नीचा अनुभव किया, किन्तु राम ने उन्हें कहा कि नीची जाति में जन्म लेने से ही वे नीच नहीं हैं। समाज में सब समान होते हैं। यथा—

"मानवता के नाते गुह वर!
सभी समान मनुज होते हैं
और जन्म से ही हे नरवर।
तुल्य सभी मानव होते हैं।"[145]

'आंजनेय'-कार का तो अभिमत है कि भेद-भाव रहित एकता ही विशुद्ध सामाजिकता का निर्माण करती है—

"यह जीवों की एकात्मकता,
सामाजिकता का रूप धरे;
सम्मोह डोर से तन बाँधे
जग में आसक्ति अनूप धरे।"[146]

एकलव्य को सामन्ती शासन के वर्ग भेद का शिकार होना पड़ा था। नीची जाति का होने के कारण ही उसे आचार्य द्रोण का शिष्यत्व प्राप्त न हुआ। एकलव्य ने जाति भेद के जहर का घूट पिया था, किन्तु आज भी उसकी सवेदना सामाजिक समता के लिए प्रेरणादायी है—

"ऐसी राजधानी का विनाश होगा शीघ्र ही,
जो महर्षियो को राजनीति से चलाती है।
जिसने किया है भेद मानव के पुत्रो मे।
भूमिपति, भूमि पुत्र वर्ग हो गये दो।"[147]

लोकतन्त्र मे वर्ग भेद समाप्त होना ही चाहिए। आचार्य द्रोण से निराश होकर एकलव्य वर्ग वैषम्य के विरुद्ध आवाज उठायी। 'एकलव्य' महाकाव्य के यशस्वी कवि डॉ० रामकुमार वर्मा ने काव्यनायक के माध्यम से समाज मे समता की भावना को उजागर किया है—

"जाति-भेद नही, वर्ग-वंश-भेद भी नही,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।"[148]

इस प्रकार के असख्य कथ्य सन्दर्भ मानवेन्द्र, जननायक, उर्मिला, अम्बेदकर, कुरुक्षेत्र, लोकायतन, देवपुरुष गाँधी आदि महाकाव्यो मे भी सलुपलब्ध हैं, जिनमे लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना के रूप समत्व भाव पर बल दिया गया है।

7. श्रम की महत्ता का प्रतिपादन

श्रम से ही अर्थ की सिद्धि होती है। दुनिया का समस्त ऐश्वर्य-वैभव, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल श्रम की महत्ता को ही प्रतिपादित करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था का ढांचा श्रम के शोषण पर ही खड़ा हुआ है। मार्क्सवाद के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व मे वर्गहीन समाज की स्थापना होगी। उस समाज मे प्रत्येक व्यक्ति श्रम के आधार पर ही अपनी जीविका उपार्जित कर सकेगा।[149] ट्राट्स्की के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम अनिवार्य होना चाहिए। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था मे तो श्रम का अन्यतम महत्त्व है। श्रम के महत्त्व का निरूपण करते हुए 'पार्वती' महाकाव्य के कवि ने कहा है कि श्रमिक वर्ग को उनके अधिकार मिलने पर समाज मे शोषण का अंत हो जाएगा और सद्साम्य की स्थापना होगी—

"जो श्रम-कण से रहे भूमि को स्वर्ग बनाते,
किन्तु नरक मे रहे कष्ट से काल विताते,
वे ही श्रमिक-किसान बने फल के अधिकारी,
आज अस्त हो गये सकल हल के व्यापारी।"[150]

'आजनेय' महाकाव्य के कवि ने भी श्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया है—

"चलते रहने की सीमा है, श्रम भी तो चुक जाता है,
किन्तु लक्ष्य पर आँख गड़ाये चलता है जो पथिक महान्,
काल ठहर सकता है, लेकिन वह रहता चलता अनिमेष
उसको पथ की दुर्गमता का तनिक नही रहता ज्ञान।"[151]

प्रत्येक राष्ट्र की प्रसन्नता और समृद्धि, विकास और प्रगति उसके श्रमिक वर्ग की तपस्या का परिणाम है। श्रमिक ही घोर विपत्तियो मे साधना करते हुए सच्चा सृजन करता है। श्रम ही सफलता का रहस्य है। नेहरू जी का नारा था—

'है आराम हराम सभी को, खाली [illegible] भरना है
रोना धोना समय गँवाना, पाप पलायन करना है।'[152]

काव्यकार 'अरुण' जी भी सफल जीवन की कसौटी श्रम को मानते हैं—

"सफल जीवन की यह पहचान, कि किसने किया कहाँ तक काम,
विफल जीवन ही उसका हाय, कि जिसने किया अधिक विश्राम।"[153]

स्वय भगवान भी श्रम साधना के बल पर उच्च पद को प्राप्त हुए हैं। श्री रघुवीरशरण 'मित्र' ने वीरायन मे इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

"श्रमिको के तप के दीप जले, आँधी, पानी अगारो मे।
श्रम रूपान्तर से पुजता है, मदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों में।
ये श्रमिक साधुओ के स्वरूप, ये हलधर धरती के हल हैं।
भगवान परिश्रम में रहते, श्रम दीप दुर्बलों के बल हैं।"[154]

श्रम की महत्ता सर्वविदित है। पौरुष और श्रम पर्याय है। निर्माण के मूल मे श्रम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए श्री केदारनाथ मिश्र प्रभात' के महाकाव्य 'ऋतम्बरा' की य पक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

"पौरुष की जय, श्रम को प्रणाम
श्रम बनता जल-जल पिघल पिघल
पौरुष का राजतिलक सलाम
निर्माण सदा जो करता है
पौरुष उसका दूसरा नाम
इस महायज्ञ में सर्वस दे
श्रम रह जाता अविदित अनाम।"[155]

सन् 1959 मे आवडी कांग्रेस के अधिवेशन मे प० नेहरू ने देश म समाजवादी समाज के ढाँचे को स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा देश का विकास किया गया, किन्तु सामान्य व्यक्ति का जीवन स्तर ऊँचा नही उठ सका। देश की अधिकाश सम्पदा कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो गयी। इस लक्षित करते हुए 'लोकायतन' के कवि ने राष्ट्रीय विकास के लिए श्रम की अनिवार्यता का प्रतिपादन पतजी ने भी किया है—

"भू रचनाहित आवश्यक, श्रम कुशल करों का कौशल।
जागृति का डोला आता, उद्यत सशक्त कंधों पर
प्रेरणा मूर्त हो श्रम मे, संम्पद् जन श्रम की अनुचर।"[156]

श्रम ही संपूर्ण राष्ट्र की सुख समृद्धि का वाहक है। श्रम जीवन को गति प्रदान करता है—

"लोक श्रम ही संपद्-सिद्धान्त
जगाता कर्म प्रेरणा, सिद्धि,
धरा, जन-श्रम जल से अभिसिक्त,
उगलती रज से स्वर्ण समृद्धि।"[157]

'रामराज्य' महाकाव्य मे कहा गया है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए श्रम की अनिवार्यता वाछनीय है—

"तन मन से जो मनुज स्वस्थ हो, वह श्रम कर ऐश्वर्य बढाये
शासन का दायित्व यही है नर इसकी सुविधाएँ पाये।"[158]

श्रम की अनिवार्यता के रहते हुए रामराज्य धन-धान्य और ऐश्वर्य से भरपूर था—

"कोई दीन दरिद्र नहीं था, सब थे उद्यत के रग-राते।
विपुल द्रव्य की हाय-हाय मे वे थे अपना मन न फँसाते।"[159]

'तारकवध' महाकाव्य में तारकाक्ष श्रमिक वर्ग की दुर्दशा से व्यथित है। वह शृंगी ऋषि से अपने मन की भावना प्रकट करता है कि श्रमिकों के शोषण का अंत होना चाहिए। श्रम अनिवार्य किया जाय तथा जो श्रम न करें उसे भोजन के अधिकार से वंचित किया जाय—

"श्रम करके सब खाये, नियम परिचालित हो यह
बैठे खाले लोग मरें, व्रत पालित हो यह।"[160]

शृंगी ऋषि ने तारकाक्ष के विचारों को सराहा और कहा था कि—

"श्रम का अमित महत्त्व किया घोषित तुमने ही
मृत का भी अमरत्व किया पोषित तुमने ही।"[161]

महात्मा गाँधी ने श्रमिकों और किसानों को साक्षात् ईश्वर का स्वरूप माना है। वे स्वयं जीवन मे शारीरिक श्रम भी करते रहे। अपने किसी भी कार्य के लिए वह दूसरे पर निर्भर नही रहे। यथा—

"कर्मवीर सच्चा किसान है, राजा है वह जीवन दाता।
जिसने बहा देह मे मोती—अन्न निकाला वही विधाता॥
खाने वाले आज बहुत हैं, गिने चुने हैं करने वाले।
भारत के भगवान कृषक हैं, मोती दो पैरो के छाले॥
पर खाना तो तभी मिलेगा, जब हम जोतोगे खेतों पर।
बिना किये बरसाने वाला, नहीं दिखाई देता ईश्वर॥"[162]

सरदार भगतसिंह की सहानुभूति बचपन से ही श्रमिकों और किसानों के प्रति

थी, उनकी दयनीय दशा को देखकर भगवतीसिंह जी के मन में गहरी वेदना होती थी—

"श्रम भी करें, रहें भूखे भी, यह कैसा अन्याय ?
पापा। उनके हित किसान क्यों करते नहीं उपाय ?"[163]

पं० नेहरू श्रम के बल पर ही देश की काया पलटना चाहते थे उनकी मान्यता थी कि श्रम द्वारा असाध्य को भी साधा जा सकता है—

"श्रम को नहीं असाध्य कहीं कुछ, जप को नहीं असंभव।
नारायण से स्वत्व छीनना—तप को नहीं असंभव।"[164]

नेहरू जी का नारा था—

"काम करो भई, काम करो।
नये नये निर्माण करो।
है आराम हराम सभी को, खाली रहना मरना है।
रोना धोना समय गँवाना, पाप पलायन करना है।।"[165]

वस्तुत: स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्ध काव्यों मे 'श्रम' को एक जीवन मूल्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। श्रम की महत्ता के प्रतिपादन अनुक्रम मे ही श्रमिक के आस्था और श्रमिक वृत्ति में विश्वास व्यक्त किया गया है।

9. राजनीतिक और आर्थिक स्वातन्त्र्य पर समान बल

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था मे राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के राजनीतिक स्वतन्त्रता कोरा दिखावा है। पूँजीवादी व्यवस्था मे राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त होती है किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव रहता है। हमारे देश मे आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। श्री पंत ने राजनीतिक और आर्थिक स्वातन्त्र्य के अभाव की स्थिति के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कहा है कि—

"राजनीतिक आर्थिक अवरोध
किये भू जीवन को म्रियमाण,
मिटा राष्ट्रों का स्पर्धा द्वेष
धन मन का करना निर्माण।
केन्द्र रचना का तात्त्विक अर्थ
देश भर का युगपत् उत्थान।"[166]

श्री पंत ने आर्थिक और राजनीतिक साम्य पर बल देते हुए कहा है कि—

"धरा जन मे हो आर्थिक साम्य
पृथित ध्वसास्त्रों का होता त्याग
विश्व शासन हो जन-संयुक्त
शान्ति, भू रचना प्रति अनुराग।"[167]

निकट भविष्य मे व्यक्ति राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके, ऐसी संभावना पंत जी ने व्यक्त की है—

"भौतिक सुख वैभव का भी वितरण
निकट भविष्यत् मे अजित निश्चित,
व्यक्ति-मुक्ति सामूहिक-मुक्ति उभय
पूरक सतत, परस्पर अवलंबित।"[168]

गांधीजी भारत से अंग्रेजी राज्य का अन्त करने के लिए आन्दोलन चला रहे थे। वे औपनिवेशिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं थे। उनके नेतृत्व मे राजनीतिक और आर्थिक दोनो क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी जा रही थी। यथा—

'सिर से हटे विदेशी सेना, बिल्कुल उठे नियन्त्रण आर्थिक।
स्वतन्त्रता का समर छिड़ेगा, पर सघर्ष चलेगा सात्विक॥'[169]

भारत स्वतन्त्र होने पर प० नेहरू प्रधानमन्त्री बने। गांधीजी ने उनसे आग्रह किया कि जनता को राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ साथ आर्थिक स्वतन्त्रता का लाभ भी मिल सके, ऐसा शासन होना चाहिए—

"अरे राज्य का अर्थ विषमता—मिटे, सरस हो जन मन।
जन हित स्वय समर्पित कर दें—जन जन सब तन मन धन।"[170]

इसी प्रकार अन्यान्य आधुनिक भावबोध के स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्ध काव्यो मे भी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता पर बल दिया गया है।

10 मूल मानवीय अधिकारो का अनुसमर्थन

स्वतन्त्र भारत के सविधान मे प्रत्येक व्यक्ति के मूल अधिकारो को मान्यता प्रदान की गयी है, जैसे—जीने का अधिकार, जीविकोपार्जन का अधिकार, स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार। व्यक्ति के जीवन मे विकास के लिए स्वतन्त्रता और समानता के अवसर प्राप्त होने चाहिए, केवल राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता ही काफी नही है। इसी के साथ वाणी की स्वतन्त्रता भी अपेक्षित है। लोकतान्त्रिक समाज मे व्यक्ति के मूल अधिकारो की रक्षा होनी ही चाहिए—

"आजादी का है अर्थ नही
केवल कपडा, रोटी, मकान
चाहिए आदमी को अपनी
वाणी का भी पूरा वितान।"[171]

वैशाली गणतन्त्र मे नारी के मूल अधिकारो पर बधन लगाया गया था। गणतन्त्र की परिषद् ने आम्रपाली को नगरवधू (जनपद कल्याणी) बनने पर मजबूर किया था—

"उसे न यह अधिकार मिला था
किसी एक से करे विवाह
विधि पुस्तक का नियम परम्पर
जीवन भर वह देह अनाह।"[172]

लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन में स्वय को

समर्पित किया था। द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य सन् 1942 में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का नेतृत्व करते हुए जयप्रकाश जी ने वाणी-स्वातन्त्र्य के लिए आवाज उठायी—

"जन को वाक् स्वातन्त्र्य चाहिए—
दिया लोक नायक ने नारा,
विश्व युद्ध का अतरंग रण—
मच बन गया भारत सारा।"[173]

मातृभाषा व्यक्ति के मूल अधिकारों में से एक है। मातृभाषा में व्यक्ति स्वभावतः अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है। पूर्वी पाकिस्तान की जनता पर उर्दू थोप दी गयी थी, परिणामस्वरूप वहाँ की जनता ने संघर्ष छेड़ दिया और बंगला देश अस्तित्व में आया—

"जान दे सकता भले ही आदमी,
मातृभाषा छोड़ वह सकता नहीं।
मातृभाषा छोड़ कोई आदमी
एक पल भी जी सकता नहीं।"[174]

जीवन के लिए भर पेट भोजन व्यक्ति को मिलना ही चाहिए। व्यक्ति को, आर्थिक अधिकार के अभाव में अन्य अधिकार, निरर्थक लगते हैं। पूर्वी पाकिस्तान की जनता को भूखों मरने के लिए मजबूर किया गया था। शेख मुजीबोरहमान ने आर्थिक आजादी के लिए संघर्ष किया—

"जनता को रोटियाँ चाहिए केवल
बीबी बच्चे की यह भूख मिटाये
और नहीं उसकी इज्जत पर कोई
अपनी खूनी पंजा कभी गड़ाए।"[175]

स्वतंत्रता और समानता व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। लोकतन्त्रात्मक समाजवादी व्यवस्था की नींव इन्हीं दो मूल अधिकारों पर टिकी रहती है। द्विरेफ जी ने 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' प्रबन्ध काव्य में व्यक्ति के मूल अधिकारों को प्रतिपादित किया है। यथा—

"जन्म सिद्ध अधिकार सभी का स्वतन्त्रता, हों सभी समान
दिग् दिगन्त तक, जगत अन्त तक फैले निर्मल सत्य प्रतान
एक साथ, सब एक स्वरों में गायें बस अब यह ही गान
स्वतन्त्रता का अमृत पीकर अमर रहे यह विश्व महान्।"[176]

श्री द्विरेफ जी ने जीवन के मूल अधिकार के प्रति आस्था इन शब्दों में की है—

"जीवित रहना, यह प्रथम कर्म
मानवता ही है मुख्य धर्म
शिक्षा, दीक्षा, घर स्वच्छ, सभी
साधन समान यह मदम मर्म।"[177]

इस प्रकार लोकतन्त्र पर आधारित समाजवाद मे मूल मानवीय अधिकारो का समर्थन किया गया है और हिन्दी महाकाव्यकारो ने अपनी रचनाओ मे उनकी पक्षधरता की है।

11 अधिनायकवादी व्यवस्था (साम्राज्यवाद, राजतन्त्र, उपनिवेशवाद आदि) का विरोध

लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था मे किसी भी प्रकार की अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को स्थान नही है। जनता की आवाज को प्राथमिकता दी जाती है। हमारे देश में अंग्रेजी शासन की समाप्ति के पश्चात देशी राजाओ के शासन को समाप्त किया गया और जमींदारी उन्मूलन का कानून भी पारित हुआ। इसस देश सब प्रकार के अधिनायकवाद से मुक्त हो गया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो के रचनाकारो ने अपनी कृतियों में अधिनायकवादी व्यवस्था का उन्मुक्त रूप मे विरोध किया है। 'पार्वती' महाकाव्य मे त्रिपुरो की जनता जब तारक पुत्रो के अत्याचार से पीडित हुई, तब क्रान्ति द्वारा अनीति, अन्त करने के लिए जनता सगठित हुई। यथा—

"जन-जन के जाग्रत गौरव से कम्पित होगी अन्ध अनीति
दम्भ दर्प अति चार आदि की प्रलय बनेगी भीषण भीति
धर्म धुरन्धर अग्र पुजारी मद विभोर शासक सामन्त
धन कुबेर, श्रीमान्, दानपति सबका क्रांति करेगी अन्त।"[178]

देव सभ्यता मे राजतन्त्र की शासन था। जन सामान्य का देवों और राजाओं ने छल-कपट से निरन्तर शोषण किया है। 'आम्रपाली' का कवि वर्तमान राजनीति के सदर्भ में राज देवों की राजनीति का विरोध करते हुए कहता है—

"छलती आई देव सभ्यता
सहस्र युगो से भू का मान
राजतत्र से छला गया नित
जन मानस, मिथ्या अभिमान।"[179]

'जगदालोक' के कवि ठाकुर गोपाल शरण सिह ने किसी भी प्रकार के अधिनायकवाद का विरोध किया है—

"नाजीवाद निंद्य था पर क्या
था साम्राज्यवाद न नृशस
रावण अतिशय निन्दनीय था
किन्तु क्रूर कम रहा न कस।"[180]

द्वितीय विश्वयुद्ध मे भारत ने अग्रेजो का साथ दिया था किन्तु अग्रेजो ने छल-कपट की नीति अपनायी और भारत को छोडने के बदले कठोर दमन नीति का अनुसरण किया। बापू, नेहरू आदि नेताओ की आवाज थी कि—

"ब्रिटिश राज से ऊब गये हम, नाजीवाद नही सह सकते।
हम घातक फासिस्टवाद को अच्छा कभी नहीं कह सकते।"[181]

'लोकायतन' के कवि श्री पन्त का लोक शक्ति में अटूट विश्वास है। उनकी प्रबुद्धता अधिनायकवाद के दोषों के प्रति सजग है, पूँजीवादी आधिपत्य उनके लिए सह्य नहीं है। यथा—

"मंच पर उतरा पूँजीवाद
विजित कर बहु निरीह भू भाग
लोक श्रम का शोषण रच न
लूट जन-भू का स्वर्ग सुहाग।
साथ आया अधिनायकवाद
विश्व युद्धों की भड़का आग—
ह्रास, विघटन के शत फन खोल
बना युग प्रहरी फणिधर नाग।"[182]

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जर्मनी में नाजीवाद का वीभत्स अधिनायकवादी स्वरूप उभरा। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई। अन्ततः मित्र राष्ट्रों के सामूहिक प्रयत्नों से नाजीवादी जर्मनी (धुरी राष्ट्रों) को पराजय का मुख देखना पड़ा—

"जयश्री मिली सुहृद राष्ट्रों को
साम्य सत्य बल से पद मर्दित,
आत्मसात ही सहज सुलभ था
नात्सी खल अधिनायक के हित।"[183]

इसी प्रकार अन्य महाकाव्यों में भी अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का प्रतिरोध हुआ है।

12. यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक जीवन दृष्टि का उन्मेष

समाजवाद में यथार्थ को उसके स्वस्थ रूप में स्वीकृत किया जाता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था में यथार्थ के साथ-साथ वैज्ञानिक जीवन दृष्टि को भी महत्त्व दिया जाता है। फलतः समाज में किसी प्रकार के पोल-पाखंड, भूत-प्रेतों आदि का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। 'युगस्रष्टा प्रेमचंद' महाकाव्य के नायक मुंशी प्रेमचंद के चिंतनशील मानस को युग की परिस्थितियों ने झकझोर डाला था। यथार्थ से सीधे साक्षात्कार करते हुए उन्होंने जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। श्री द्विरेफ चित्रित किया है कि प्रेमचद ने अज्ञान पर आधारित विश्वासों का खंडन किया और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया—

"नरकों-स्वर्गों की सृष्टि, खंडश हुई चूर
विज्ञान-ज्ञान का बहा ले गया उसे पूर
भूत-प्रेतों की भीति रोकती प्रगति द्वार
इन्द्रों की रास-सभा जीवन को बनी भार।"[184]

जवाहरलाल ने देश को वैज्ञानिक जीवन दृष्टि प्रदान की। उन्हीं के प्रयत्नों से

देश मे वैज्ञानिक उन्नति सभव हो सकी। कल-कारखाने खुले और प्रौद्योगिकी का विकास हुआ—

"उदय हुआ विज्ञान देवता, नया यंत्र-युग लेकर
रचने लगे स्वर्ग धरती पर, नई नई कल देकर ॥
कारें दौडी, चली लारियां, यान उडे अम्बर मे।
छोटे धन्धे लगे पनपने—बिजली ॥ घर-घर मे ॥[185]

मुशी प्रेमचद यथार्थवादी थे। उनके लिए ईश्वर मनुष्य के मन की सृष्टि है जो इन्द्रियों से परे है। यथार्थत ईश्वर का अस्तित्व नही है—

"यदि ईश्वर का है मनुज वश
तो वह भी शाश्वत है अव्वश
शाश्वत नर का शाश्वत समाज
शाश्वत सारा ससार-वश
जो मन, वाणी से दूर रहा
दृग, कर्ण आदि से परे महा
उसका अनुभव के जीवन मे
आ सकने का सम्बन्ध कहा ? "[186]

विज्ञान मानव जीवन का साध्य नहीं बन सकता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर जीवन के यथार्थ को समझा जा सकता है। कविवर श्री पत के शब्दो मे—

"साध्य नही विज्ञान, मात्र साधन,
बोध साध्य का जनहित आवश्यक
मानव आत्मा के जीवन के हित,
निर्मित यह जग, प्रकृति नही बाधक।"[187]

लोकतत्र की सफलता के लिए वैज्ञानिक जीवन दृष्टि अपनायी जानी चाहिए। वर्ग भेद को मिटाकर हम मानसिक रूप से भी सस्कारित हो। सामंती या पूँजीवादी सस्कार लोकतात्रिक जीवन पद्धति के विरोधी हैं। अत वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपेक्षित हैं—

"विज्ञान बने जन—भू रचना का साधन,
अब मिटें राजनीतिक आर्थिक सघर्षण।
युग वैभव का हो जीवन मे सम वितरण,
विस्तृत हो बर्बर, आदिम, सामती मन।"[188]

'लोकायतन' का कवि सोवियत समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित है। सोवियत जीवन का चित्रण कवि ने अपने दृष्टिकोण के अनुरूप प्रस्तुत किया है—

'महत था वैज्ञानिक युग सिद्धि
सर्वहित कर उसका उपयोग,
ग्राम को ला पुर के समकक्ष,
रूस कर रहा विराट् प्रयोग।

नव्य दृढ़ जन गण मन सकल्प
समुन्नत मनुष्यत्व का ध्येय
सास्कृतिक रच जीवन प्रासाद
बने जन अर्थ तत्र अविजेय।"[189]

जीवन की यथार्थता से पलायन नही किया जा सकता। लोकतत्र यथार्थ की भूमि पर ही पनपता है। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ जीवन को यथार्थवादी दृष्टि प्रदान करती हैं। डार्विन, मार्क्स आदि वैज्ञानिक चिन्तको ने नवीन दृष्टि दी है। 'लोकायतन' महाकाव्य मे इसी जीवन दृष्टि का उन्मेष हुआ है—

"जैव उद्‌भिज शास्त्रों ने गूढ़
चराचर जग के खोले द्वार
डारविन का विकास सिद्धांत
बना युग चिन्तन का आधार
मार्क्स ने नव दृष्टि दे तीक्ष्ण
पलट डाला जन का ससार,
विविध विज्ञानो ने ले जन्म
बोध का किया क्षितिज विस्तार।"[190]

समाजवादी दर्शन मे यथार्थवाद और वैज्ञानिक जीवन दृष्टि को आधार रूप माना गया है। वस्तुस्थिति को स्वीकार कर उसके प्रति विवेक सम्मत, बुद्धि मुक्त और कार्य कारण मे जुड़े हुए दृष्टिकोण को अपना कर ही समाजवाद को स्थापित किया जा सकता है। मार्क्स ने भौतिक तत्त्व को ही यथार्थ माना है। पदार्थ ही विकास की उच्चतम अवस्था में मस्तिष्क का रूप ग्रहण कर लेता है। तत्पश्चात मस्तिष्क से ही विचारो की किया सम्पन्न होती है।[191]

13. 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त मे आस्था

मुशी प्रेमचद कलम के सिपाही थे। लोकतात्रिक समाजवाद मे साहित्य और कलाओ की उपयोगिता जीवन के लिए होती है। कवि अथवा कलाकार अपनी कला के माध्यम से गतिशील जीवन की अभिव्यक्ति करता है। एक तरफ कला स्वस्थ जीवन के लिए तो दूसरी तरफ विकृतियो का परिष्कार करती है। मुशी प्रेमचद के साहित्य मे शोषण के विरुद्ध निरन्तर आवाज उठायी गयी है। श्री द्विरेफ ने 'युगस्रष्टा प्रेमचद' मे काव्यनायक को कलम का मजदूर बताया है—

"चलती कलम भ्रष्ट शोषण पर
जैसे धरती बीच कुदाल
वह मजदूर कलम का, भावी
युग की विपदाओं की ढाल।"[192]

लोकतत्र मे कला जनजीवन को अनुप्रेरित करती है। कवि अथवा साहित्यकार अपनी लेखनी द्वारा जनजीवन मे प्राण फूंक सकता है। लोकतत्र की कला मे उपयोगिता

जीवन के लिए होती है। कवि जनशक्ति को उचित मोड़ दे सकते हैं—

'कवि पल मे प्रलय मचा सकता,
धरती आकाश हिला सकता।
हिम को अंगार बना सकता।
बजर मे फूल खिला सकता।"[193]

लोकतांत्रिक समाज मे साहित्य की रचना सोद्देश्य होती है। जिस साहित्य मे जनजीवन की भावनाओं को अभिव्यक्ति न मिले वह साहित्य भी मृतप्राय होता है। साहित्य की उपयोगिता संघर्ष के समय मे भी होती है—

'पाषाण मे भी धड़कनें भर दे, वही साहित्य है।
जड़ मन को अनुभूति का वर दे, वही साहित्य है॥
साहित्य का संघर्ष मे उपयोग होना चाहिए।
अब लेखनी तलवार का संयोग होना चाहिए॥"[194]

निराला क्रान्तदर्शी कवि थे। उनकी कविताओं मे भारतीय जनजीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। निराला जी की लेखनी पूँजीवाद, शोषण एवं उत्पीडन के विरुद्ध चली। उन्होंने अछूतों, दलितों और पीडितों मे आत्मविश्वास की भावनाएँ जागृत की हैं। श्री तिलक ने 'निराला' महाकाव्य मे कला को राजनीति से श्रेष्ठ कहा है—

कला चाहती है सबका भला है
राजनीति चुपके घोंटती गला है।
कला चांदनी रात पूर्णमासी की
कला कुमुदनी-सी मन की विमला है।"[195]

लोकतांत्रिक व्यवस्था में कला उद्देश्यपूरक होती है। सरदार भगतसिंह ने साहित्यकार को जनहित मे अपनी लेखनी चलाने के लिए प्रेरित किया था। आचार्य चतुरसेन से प्यार भरे शब्दों मे उनका आग्रह था कि—

"सामर्थ्य सार्थक होता तभी लेखनी का
जब वह समाज के मुर्दों में जीवन भर दे,
वह जीवन, जो पर्याय बने ज्वाला-गिरि का
विस्फोट, भस्म अन्यायों को जिसका कर दें।"[196]

कला की उपयोगिता जनजीवन को सँवारने मे है। कवि लोकमानस की आत्मा का शिल्पी होता है। अतः उसकी कला का निखार सामाजिक उपयोगिता मे ही परिलक्षित होता है—

'कला के लिए कला का राग
वरद कविवाणी का व्यभिचार,
लोक जीवन के भीतर पैठ
स्वर्ग शोभा मे उसे सँवार।"[197]

कला निरन्तर सामाजिक यथार्थ और जीवन की सोद्देश्यता से जुड़ी रहनी

चाहिए। सोर्की के अनुसार श्रम और चिन्तनशीलता की पारस्परिकता के आधार पर ही मनुष्य का सामाजिक और सांस्कृतिक विकास संतुलित और स्वाभाविक रूप में सम्भव हो सकता है।[198]

14 राज्य सत्ता का लोप और वर्गविहीन आदर्श समाज की सकल्पना

आदर्श लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में हर प्रकार के वर्ग का अंत हो जाता है। सोवियत रूस में वर्गविहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। इस तथ्य की सपुष्टि प्रकारान्तर से पंत जी ने की है—

> "विश्व की एक महत्तम शक्ति
> सोवियत भू का यह जनराज,
> अमित सामूहिक बल का सिन्धु,
> धरा पर वर्गविहीन समाज।"[199]

श्री पंत ने ऐसे मानव परिवार की सकल्पना की है, जिसमें किसी प्रकार के भेद-भाव की सभावना न हो। यथा—

> "ध्येय था निखिल लोकगण श्रेय,
> रुधिर कर्दम सागर कर पार
> लाख विघ्नों के शृग अलघ्य
> विहसता नव मानव परिवार।"[200]

'विदेह' महाकाव्य में राजा जनक ने भी वर्गविहीन समाज की सभावनाओं पर विचार व्यक्त किया है—

> "क्या वह दिन भी आएगा आकुल धरती पर
> जिस दिन मानव का सत्य बिसर जाएगा कौन-कौन तक
> हरि प्रिया भाग्य-लक्ष्मी बाँटेगी साम्य सुधा
> मनु सूर्य समस्त मनुजता पर देगा वैभव का सम-प्रकाश
> बधन, विभेद के सभी स्वप्न बन जायेंगे।
> \+ \+ \+
> उस दिन कोई भी व्यक्ति नहीं भूपति होगा
> मानवता का सम्राट मुक्ति देगा सबको।"[201]

सोवियत समाजवादी रूस में जिस समाजवाद की नींव पड़ी है उसका भविष्य अति उज्ज्वल है। 'लोकायतन' के कवि ने सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

> "लोक जीवन की भावी ज्योति
> असशय आज रूस के पास,
> स्वस्थ स्पर्धा से हो चरितार्थ
> साम्य का भू पर भव्य विकास!

वर्ग मानव बुद्बुद् हो लीन
लोक सागर उर में दिग व्याप्त,
क्षीण प्रस्तर युग का चैतन्य,
सर्व बर्बर हो स्वत. समाप्त।"[202]

भृगी ऋषि ने 'तारकावध' में तारकासुर के सम्मुख वर्गविहीन साम्यवादी समाज की रचना का चित्र प्रस्तुत किया था—

"व्यक्ति-व्यक्ति में स्वतन्त्रता का भाव हो।
व्यक्ति व्यक्ति में सत्य शक्ति का भाव हो।
होगा राष्ट्र स्वतन्त्र न राजा चाहिए।
क्यों वह भी स्वाधीन प्रकृति उसकी हरे।"[203]

वर्गविहीन समाज की सभावनाओं को सारथी, एकलव्य, अम्बेदकर जननायक, गुरु गोविन्दसिंह, मानवेन्द्र प्रभृति महाकाव्यों में भी निरूपित हुई है।

निष्कर्ष—स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय ही देश के नेतागण देश में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली स्थापित करने के लिए वचनबद्ध थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में समाजवादी विचारों और रूसी साम्यवादी व्यवस्था स प्रभावित अनेक युवा कार्यकर्ता एव नेतागण थे, जो स्वतन्त्र भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के पक्षधर थे। स्वय प० जवाहरलाल नहरू इनमें अग्रणी थ। प्रेमचद, निराला, राहुल, यशपाल आदि ने हिन्दी मे प्रगतिशील साहित्य का सृजन किया और इस चेतना के प्रसार में सहायक हुए। फलत स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यकारो कीकृतियो में लोकतान्त्रिकसमाजवादी चेतना का प्रभूत निरूपण हुआ। दीन दुखियो, दलितों पीडितो के प्रति सहानुभूति, वर्ग सघर्ष, पूँजीवादी शोषण का विरोध, सम वितरण, जन-शक्ति की सर्वोपरिता, क्रान्ति का समर्थन, कला जीवन के लिए आदि प्रवृत्तिया का अकन लोकायतन, युगस्रष्टा प्रेमचद, साकेत सत, तारक वध, रामराज्य, मेधावी, मानवेन्द्र, जननायक, उर्मिला, सरदार भगतसिंह, सुभाष, निराला, कालिदास आदि महाकाव्यो के कथ्य सदर्भों में स्थल-स्थल पर परिलक्षित होता है। स्पष्टत भारतीय जनमानस में लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना अपने सम्पूर्ण आयामो सहित उजागर हो रही है।

पाद टिप्पणी

1 डॉ० सुभाष कश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 422

2 Socialism in reality an entire word of philosophy in, religion it means atheism in the state a democratic republic, in industry a popular collectivism, in ethics a measureless optimism, in metaphysics a naturalistic materialism, in the home an almost entire loosening of family ties and of the marriage bond

—Her Bebel Quated in (अग्रवाल एवं गुप्ता—राजनीति के सिद्धांत, पृ० 211)

3 डॉ० सत्यप्रकाश और बलभद्रप्रकाश मिश्र—मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश (1971), पृ० 1290
4 Christopher Lloyd—Democracy and its rivals, P 128
5 Webster's New International Dictionary of the English language, Vol 2, P 2387
6 "Socialism a social system based on public ownership of the means of production, comes into being as a result of the abolition of the capitalist mode of production and the establishment of the dictatorship of the proletariat, builts on two forms of ownership, state (public) ownership and co-operative and collective ownership Public ownership presupposes absence of exploiter classes and of exploitation of man by man, and exsistence of relations of comradely co operation and mutual aid among workers engaged in production" —Editor M Rosenthal and P Yudin—A Dictionary of Philosophy, P 414
7 Socialismis essentially a doctrine and a movement aiming at the collective organisation of the community in the interests of the people by means of the common ownership and collective control of the means of production and exchange" —Encyclopaedia Britanica, Vol 20 (XIVth Edition) P 888
8 "Socialism reduced to its simplest legal and practical expression, means the complete discarding of the institution of private property by transforming it into public property and the division of the resultant public income equally and indiscriminately among the entire population" —Encyclopaedia Britanica, Vol 20 (14th Edition), P 895
9. Editor M Rosenthal and P Yudin—A Dictionary of Philosophy, P 415
10 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीतिशास्त्र, पृ० 435
11 डॉ० शंकरलाल जायसवाल—हिन्दी गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव पृ० 21
12 डॉ० सुभाष कश्यप एव विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 423
13 डॉ० सुभाष कश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 424
14 Editor M Rosenthal & P Yudin—A Dictionary of Phiolosophy, P 115
15. सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीति शास्त्र, पृ० 327
16 "The socialist international pronouncement maintains that socialism was impossible without democracy and that it was misnomer to call an economic order a socialist society if it functioned in a totalitorian or dictatorial state"—Encyclopaedia Americana, Vol, 25 P 195
17. "Democratic society is merely one in which the spirit of

equality is strong and in which the principle of equality prevails "
—Hearnshaw—Democracy at the cross ways P 17

18 "Anarchy of producation, periodic crisis, chronic unemployment, poverty of the masses, and competition and wars are characteristic features of capitalism "
—Editor M Rosenthal and P Yudin—A Dictionary of Philosophy, P 65

19 B P Sitaramayya—Gandhi and Gandhism, P 35

20 पी॰ के॰ दत्ता—राजनीतिक विचारधाराएँ, 367

21 वही, पृ॰ 416

22 ए॰ डब्ल्यू॰ रायसन—कम्युनिज्म क्या है ? पृ॰ 21 22

23 डॉ॰ जनेश्वर वर्मा—हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना (भूमिका से), पृ॰ 5

24 डॉ॰ हरिकृष्ण पुरोहित—आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ॰ 278

25 डॉ॰ रणजीत—हिन्दी की प्रगतिशील कविता, पृ॰ 31

26 यशपाल—मार्क्सवाद पृ॰ 134

27 ' Anarchism is a principle or theory of life and conduct under which society is conceived without government, harmony in such a society being obtained not by submission to law, or by obeidience to any authority, but by free agreements concluded between the various groups, territorial and professional, freely constituted for the sake of production and consumption, as also for the satisfaction of the indefinite variety of needs and aspirations of a civilized being "
—Sabharwal and Gupta—Principles af Political Sience (Hindi Edition) P 241

28 सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीति शास्त्र प॰ 440

29 "Materialist Dialectics is a philosophical method of investigating nature and society None but the correct dialectical approach will yield an understanding of the complex and contradictory emergence of objective truth, the connections, at every point in the development of science, between elements of the absolute and the relative, the stable and the changeable and the transition from one set of forms of generalisation to other deeper forms "
—Editor M Rosenthal & P Yudin—A Dictionary of Philosophy P 122

30 V I Lenin—Marx—Engels Marxism, P 24

31 J Stalin—Problems of Leninism P 569

32 The Fundamentals of Marxist-Leninist Philosophy (Translator-Robert Daglish), P 127

33. डॉ॰ जनेश्वर वर्मा—हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ॰ 45

34 "The Quantity and quality of things are not indepedent of each other, in fact, they are both properties of the real world and are closely interconnected "
Dr Z A Ahmed—Philosophy of Socialism Introduction, P 18

35 The Fundamentals of Marxist Leninist Philosophy, P 140

36 Lenin as Quoted by David Guest in—A Text Book of Dialectical Materialism, P 27

37 राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० 46

38 डॉ० जनेश्वर वर्मा—हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ० 441

39 "Thus the law of the negation of negation is a law whose operation conditions the link and continuity between that which is negated and that which negates "
—The Fundamentals of Marxist-Leninist Philosophy, P 159

40 एंगेल्स—समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक, पृ० 62

41 पी० के० चड्ढा—प्रमुख राजनीतिक विचारक, पृ० 133

42 एंगेल्स—समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक, पृ० 66

43 वही पृ० 36

44 डॉ० विजयकुमार अरोड़ा—आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० 63

45 दीनानाथ वर्मा—आधुनिक यूरोप पृ० 34

46 डॉ० जनेश्वर वर्मा—हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ० 76 77

47 वि० अफनास्येव—मार्क्सवादी दर्शन, पृ० 185

48 *V I Jerome—Culture in a changing world P 69*

49 वि० अफनास्येव—मार्क्सवादी दर्शन पृ० 357

50 George Thomson—Marxism and Poetry, P 9

51 *Christopher Caudwell—Illusion and Reality, P 28*

52 प्रकाशचन्द्र गुप्त—हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा पृ० 10

53 "Socialism Utopian a teaching on society based on common property, obligatory labour of all members and equal distribution of products The term 'Utopia' (from G K , literally a non-existent place) as a designation of an ideal society was first used by Thomas More and was the name he give to an imaginary island on which an ideal society was set up, subsequently this term was applied in describing imaginary and mainly impracticable systems "
—M Rosenthal and P Yudin—A Dictionary of Philosophy P 417

54 डॉ० सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश पृ० 484

55 एंगेल्स—समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक, पृ० 57

56 डॉ० सुभाष कश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 126

57 'Perhaps the most important variety of contemporary socia-

lism which does not trace the paternity of its doctrine to Marx is Fabian Socialism,"

—Burns, E M —Ideas in conflict (1960), P 167

58 Coker Francis W —Recent Political thought, P 107

59 M Rosenthal & P Yudin—A Dictionary of Philosophy, P 115

60 "Democratic socialism can be loosely characterized as follows Much property held by the public through democratically elected government including all the major industries and transpartations, a limit on the accumulation of property, and governmental regulation of the economy as a whole."

—Sargeant Lyman T—Contemparary Political Ideologies (1970) P 98

61 डॉ० सम्पत जैन सरल एवं डॉ० ओ० पी० श्रीवास्तव—आधुनिक राजनीतिक विचार धाराएँ, पृ० 164

62 डॉ० सुभाष काश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 160 161

63 पी० के० बरुआ—राजनीतिक विचारधाराएँ पृ० 256

64 G D H Cole—Self Government in Industry, P 5

65 "Scientific socialism comprises at least a philosophy of history, embodying the class struggle, a theory of exploitation based on presumed economic veasowing and a vision of the dictator ship of the praletariat

—Gray, Aexander—The socialist tradition, P 5

66 F Engels—Socialism Utopian and scientific, P 44

67 Teylor, A J P—The manifesto of the Communist Party, P 10 11

68 पी० के० बरुआ—राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० 51

69 डॉ० सम्पत जैन सरल और डॉ० ओ० पी० श्रीवास्तव—आधुनिक राजनीतिक विचार धाराएँ पृ० 65

70 डॉ० शंकरलाल जायसवाल—हिन्दी साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव, पृ० 13

71 रजनीपामदत्त—भारत वर्तमान और भावी, पृ० 211

72 वही पृ० 213

73 श्रीधर शर्मा एवं सरोज गर्ग—आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक चिंतन पृ० 578

74 वही, पृ० 550

75 'Roy insists on the Primacy of values. Democracy will succeed only when spiritually free individuals assume the conduct of public affairs He pleads for purifying influence of human virtue upon all social economic and political affairs. This can save man from many trials & troubles in the contemporary world situation"

—Dr D R Jatar—The Dimensions of Humanism, P, 86 87

7[illegible] श्रीधर शर्मा एवं सरोज शर्मा—आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक और चिंतन, पृ० 580 581

77 Dr. D R Jatar—The Dimensions of Humanism, P. 164

78. "We believe in democracy, equality & removal of special previlages & we have set qurselves the goal of developing a socialistic pattern of society through peaceful means"
—Glimpses of world History Vol, (1934-35), P. 105-106

79. पी० के० चड्ढा—राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० 6-7

80. डॉ० शंकरलाल जायसवाल—हिन्दी गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव, पृ० 22

81. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना—कल्पान्त, पृ० 109

82. मानवेन्द्र, पृ० 516

[illegible] बाबूलाल 'सुमन'—अम्बेदकर, पृ० 75

84 उर्मिला, पृ० 244

85 श्री तिलक—बंगला देश, पृ० [illegible]

[illegible] श्याममनन किशोर—आंजनेय, पृ० 88

87 अमरसिंह—आम्रपाली, पृ० 42

88. आम्रपाली, पृ० 63

89 वही पृ० 104

90 हरदयालुसिंह—रावण, पृ० 220

91 सुमित्रानन्दन पंत—लोकायतन, पृ० 374

92 वही, पृ० 11

93. रांगेय राघव—मेधावी, पृ० 259

64 परमेश्वर द्विरेफ—युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 76

95 वि० अफनास्येव—मार्क्सवादी दर्शन, पृ० 231

96. युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 77

97 पार्वती, पृ० 499

98. कालिदास, पृ० 146

99 कैकेयी, पृ० 138

100 श्रीकृष्ण सरल—सरदार भगतसिंह, पृ० 513

101. कैकेयी, पृ० [illegible]

102 कैकेयी, पृ० 137 138

103 लोकायतन, पृ० [illegible]

104 महाभारती, पृ० 516

105 वही, पृ० 474

106 बंगला देश, पृ० 75

107 लोकायतन, पृ० 30

108 साकेत संत, पृ० 143

109 मेधावी, पृ० 172

110 रामराज्य, पृ० 84

111 लोकायतन, पृ० 398

112. युगस्रष्टा प्रेमचंद, पृ० 79

113 आंजनेय, पृ० 113

114 आम्रपाली, पृ० 135
115 जयभारत, पृ० 98
116 लेनिन—सोवियत सत्ता क्या है ?, पृ० 25
117 मेधावी, प० 253
118 वही, पृ० 263
119 युगस्रष्टा प्रेमचंद, पृ० 74
120 मानवेन्द्र, पृ० 214
121 वही, पृ० 544
122 वही, पृ० 580
123 पार्वती, पृ० 458
124 वही, पृ० 466
125 जननायक, पृ० 211
126 लोकायतन, प० 167
127 सरदार भगतसिंह, पृ० 547 548
128 लेनिन—समाजवाद और युद्ध, पृ० 7
129 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 35
130 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 35
131 वही, पृ० 37
132 लोकायतन, प० 159
133 एकलव्य, पृ० 200
134 पार्वती, पृ० 497
135 सरदार भगतसिंह, पृ० 467
136 निषादराज, पृ० 134
137 मेधावी, पृ० 168
138 चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० 150
139 सारथी, पृ० 41
140 वही, पृ० 65
141 विदेह, प० 26
142 सन्त सिपाही, पृ० 98
143 निराला पृ० 12
144 वही, पृ० 18
145 निषादराज पृ० 22
146 डॉ० दयाकृष्ण विजय—आंजनेय, पृ० 31
147 एकलव्य, पृ० 179
148 वही पृ० 224
149 John Strachy—The Theory and Practice of Socialism, P 405
150 पार्वती, पृ० 516
151 आंजनेय, पृ० 55
152 मानवेन्द्र, पृ० 560
153 महाभारती, पृ० 385
154 धीरायन, पृ० 29
155 ऋतम्भरा, पृ० 81

156 लोकायतन, पृ० 166
157. वही, पृ० 268
158 रामराज्य, पृ० 146
159. वही, पृ० 146
160 तारकवध, पृ० 473
161 वही, पृ० 474
162. जननायक, पृ० 497
163 सरदार भगतसिंह, पृ० [illegible]
164 मानवेन्द्र, पृ० 560
165. वही, पृ० 560
166 लोकायतन, पृ० 260
167. वही, पृ० 409
168 वही, पृ० 575
169 जननायक, पृ० 246
170 मानवेन्द्र पृ० 546
171 आग्नेय, पृ० 87
172 आम्रपाली, पृ० 35
173 लोकायतन, पृ० 106
174. बंगलादेश, पृ० 1
175 बंगलादेश, पृ० 65
176 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 68
177 वही, पृ० 79
178 पार्वती, पृ० 481
179 आम्रपाली, पृ० 55
180 जगदालोक, पृ० 223
181. जननायक, पृ० 328
182 लोकायतन, पृ० 375
183 लोकायतन, पृ० 111
184 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 64
185 मानवेन्द्र, पृ० 562
186 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 73
187 लोकायतन, पृ० 601
188 वही, पृ० 221
189 वही, पृ० 401
190 लोकायतन, पृ० 376
191 "The material sensuously perceptible world to which we ourselves belong is the only reality"
—Engels-Karl Marx · Selected works (Vol I), P. 435
192 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 113
193 सत सिपाही, पृ० 63
194 वही, पृ० 86-87
195 निराला, पृ० 211

196. सरदार भगतसिंह, पृ० 513
197 लोकायतन, पृ० 253
198 डॉ० जनेश्वर वर्मा—*हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना*, पृ० 166
199 लोकायतन, पृ० 401
200 वही, पृ० 400
201 विदेह, पृ० 26
202. लोकायतन, पृ० 402
203 तारकवय, पृ० 502

5
राष्ट्रवादी चेतना

'राष्ट्र' शाब्दिक व्युत्पत्ति एवं पारिभाषिक स्वरूप-विश्लेषण

वर्तमान युग में 'राष्ट्र' शब्द प्रथमतः और अनिवार्य रूप से राजनीति विज्ञान के संदर्भों से जुड़ा हुआ है। 'राष्ट्र' शब्द कब अस्तित्व में आया, इस बारे में ऐतिहासिक रूप से आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। कल्पना, अनुमान और मनोविज्ञान का आश्रय लेते हुए ऐसा कहा गया है कि मानव के पारिवारिक संगठन के विकासक्रम की शृंखला में समुदाय, समाज, राज्य आदि के साथ ही 'राष्ट्र' भी अस्तित्व में आया। 'राष्ट्र' शब्द में मानव चेतना की भावात्मकता निहित है। समाज के सांस्कृतिक विकास के साथ 'राष्ट्र' शब्द की सार्थकता प्रमाणित हुई है। 'राष्ट्र' शब्द 'सर्वधातुभ्य ष्ट्रन' इस उणादि प्रत्यय के संयोग से 'रासृ शब्दे' अथवा 'राजृ शोभन्ते' धातु से बनता है। इस प्रकार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ—'रासन्ते चारूशब्द कुर्वंते जन यस्मिन प्रदेश विशेषे तद् राष्ट्रम्'—किसी प्रदेश के लोग एक विशिष्ट भाषा द्वारा जहाँ विचार विनिमय करते हैं, वह स्थान विशेष राष्ट्र है।[1] 'राष्ट्र' शब्द का अन्य विविध अर्थों में भी प्रयोग होता है यथा—राज्य, जन समुदाय, समाज, देश, प्रान्त, मण्डल आदि।

कोशीय अर्थ—'राष्ट्र' का अर्थ है—राज्य, देश, प्रजा।[2] आप्टे की संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार—'राष्ट्र' शब्द का अर्थ समाज भी है।[3] 'राष्ट्र' शब्द का अंग्रेजी पर्याय नेशन (Nation) है जो लेटिन के नेशो (Natio) शब्द से बना है। लेटिन शब्द नेशो (Nation) का अर्थ जन्म या वंश है। वेब्स्टर डिक्शनरी के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—लेटिन शब्द नेश्यो—आफ नेस्सी—जन्म लेना। (1) ऐसा समुदाय जो एक ही भू भाग में रहता हो, जिसका एक इतिहास हो, एक सा आर्थिक जीवन हो और उसकी भाषा व संस्कृति भी एक ही हो। (2) एक ही भू-भाग पर निवास करने वाले जन जिनकी एक सरकार हो, देश। (3) जनसमुदाय या जनजाति।[4] इस प्रकार वांशिक एकता वाले जनसमुदाय को ही राष्ट्र कह सकते हैं। किन्तु अब राष्ट्र का अर्थ व्यापकत्व पकड़ चुका है। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के समय 'नेशन' शब्द का अर्थ देशभक्ति होता था।[5]

'राष्ट्र' की सर्वसम्मत परिभाषा करना कठिन है। विद्वानों ने 'राष्ट्र' के एकानेक तत्वों पर बल देते हुए परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। डॉ० सुधीन्द्र के

अनुसार—"भूमि, भूमिवासी जन और जन संस्कृतिक का समुच्चय 'राष्ट्र' है।"[6] डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे ने लिखा है— 'विभिन्न वंश, धर्म, जाति का जन समुदाय होकर भी जब समाज में एकता और प्रभुसत्ता होती है, तो वह भूमि विशेष प्रदेश का वह समाज, राष्ट्र की संज्ञा पाता है।'[7] डॉ० विद्यानाथ गुप्त ने 'राष्ट्र' को परिभाषित करते हुए लिखा है— किसी निश्चित भौगोलिक इकाई पर बसा हुआ जन समुदाय जिसकी अपनी ही सभ्यता तथा संस्कृति हो, अपनी ही भाषा तथा धर्म हो एवं अपनी ही विधि-निषेध की परम्परा हो 'राष्ट्र' है।"[8] भावना की एकता पर बल देते हुए डॉ० विनय-मोहन शर्मा ने लिखा है कि ''राष्ट्र' जाति, धर्म एवं भाषा की एकता का नाम नहीं है, वह भावना की एकता का नाम है।'[9] बृहत् हिन्दी कोश में राष्ट्र के तीन अर्थ दिये गये हैं—देश, राज्य, जाति।[10] जे० वी० स्टालिन ने 'राष्ट्र' की परिभाषा इस प्रकार दी है—"राष्ट्र वह मानव समुदाय है जो ऐतिहासिक रूप से विकसित हुआ हो, उसकी सर्वमान्य एक भाषा हो, भू-भाग हो, उसका एक आर्थिक जीवन हो और उस समुदाय की मानसिक स्थिति एक विशिष्ट संस्कृति में अभिव्यक्त होती हो।'[11] राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ० के० न० शर्मा लिखते हैं— 'किसी देश की सभी इकाइयों की समष्टि ही राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है किन्तु राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कुछ व्यापक तथा अनिवार्य तत्त्व भी हैं जिनमें धर्म, संस्कृति, भाषा, जनता, राज-नीतिक विचार आदि प्रमुख हैं। राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप भी महत्त्वपूर्ण होता है।"[12]

सुप्रसिद्ध राजनीति विज्ञानवेत्ता जे० के० ब्लटश्ली ने 'राष्ट्र' की परिभाषा इस प्रकार की है—राष्ट्र एस जनसमूहों का संघ है जिसमें विभिन्न व्यवसायों, एवं सामा-जिक स्तरों के लोग रहते हों जो वंश परम्परा से प्राप्त संस्कार और भावनाओं, विशेष रूप से एक भाषा और समान रीति रिवाजों वाली सभ्यता के बंधनों, से जुड़े हों, जिससे उनके प्रत्येक सदस्य में राज्य के बंधनों से निरपेक्ष, विदेशियों को अपने से पृथक मानने की भावना हो।[13] कुछ इसी प्रकार की परिभाषा जे० डब्लू० बर्गेस ने दी है। उनके अनुसार—' भौगोलिक इकाई वाले भू भाग में बसने वाला जनसमुदाय जो एक सामान्य भाषा और साहित्य, समान रीति रिवाज और भले बुरे की समान चेतना से संयुक्त हो, राष्ट्र कहलाता है।'[14] फिलीमोर ने राष्ट्र' के स्वरूप निर्धारण में राज्य के अनिवार्य तत्त्वों के साथ साथ उसमें बसने वाले जनसमुदाय की संगठनात्मक एकता की अभि-व्यक्ति को भी महत्त्व दिया है। उनके शब्दों में—"राष्ट्र उस जनसमूह को कहेंगे जो एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से रहता हो, जो समान कानून, आदतों, रीति-रिवाजों द्वारा एक दृढ संगठन में बंधा हो, जो उस भू भाग में बसने वाले सभी मनुष्यों और वस्तुओं पर नियंत्रण और अधिकार रखे तथा जो विश्व के किसी भी अन्य देश या समुदाय से युद्ध या शांति-संधि या अन्य किसी भी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार रखता हो।"[15]

आजकल किसी राज्य का जनसमुदाय राष्ट्र है। इस प्रकार प्रत्येक राज्य एक राष्ट्र है और प्रत्येक नागरिक उस राष्ट्र का सदस्य है। बहुत से राज्यों में कई राष्ट्र या राष्ट्रीय जनसमूह रहते हैं। स्काट्स और वेल्श अपने को राष्ट्र मानते हैं यद्यपि वे

एक ही राज्य अग्रेजी राज्य म रहते हैं । पहले आस्ट्रिया हगरी साम्राज्य मे 12 राष्ट्रो के जनसमूह रहते थ। कभी-कभी राष्ट्र समान जाति के लोगा क लिए व्यवहृत होता है या शासक लोगो क लिए प्रयुक्त होता है । कानूनन एक व्यक्ति किसी राष्ट्र न रहते हुए उससे नफरत कर सकता है क्योकि वह अल्पसख्यक हो और उस पर अत्याचार होता हो किन्तु आज राष्ट्र का कानूनी रूप प्रमुख नही है लेकिन राष्ट्रीय चेतना की सामाजिक शक्ति ही व्यवहार म प्रचलित है। इस प्रकार अधिकाश परिभाषाओ म राष्ट्र के अन्तर्गत अन्य राष्ट्रो स पृथक करने के लिए समान भाषा सभ्यता, धर्म, जाति, ऐतिहासिक अधिकार, प्राकृतिक सीमाएँ या आर्थिक हित सन्निहित हैं ।

वास्तव मे देखा जाय तो 'राष्ट्र' की जडें मा व मन की गहराई मे पैठ कर पनपती हैं और भावात्मक रूप से अधिक पुष्ट होती हैं। देश या राज्य क बाह्य आकार के साथ किसी विशेष जनसमुदाय की आत्मा जब एक रूप हो जाती है अथवा किसी भी प्राकृतिक भू-भाग के साथ जब किसी जनसमुदाय का परम्परागत प्रेम, मोह या जुडाव हो जाता है तो उस राष्ट्र' की सज्ञा प्राप्त हो जाती है। 'राष्ट्र का वही महत्त्व है जो व्यक्ति के शरीर का होता है। आज राष्ट्र' को एक व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है । क्रिया शील मन स रहित अथवा चेतन शक्ति से हीन मानव शरीर पशुवत है। इसी प्रकार भावात्मक एकता स रहित 'राष्ट्र' को राष्ट्र नही कहा जा सकता। हाँ आजकल 'राष्ट्र' के लिए सामान्य धर्म, जाति, सस्कृति भाषा आदि की अनिवार्यता नही है। इनमे से एकाधिक तत्त्व न भी हो तो भी जनसमुदाय की एकानुभूति की भावना ही उनको एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करेगी। भारत देश म अनेक धर्म, जाति, भाषा, सस्कृति आदि के लोग रहत हैं फिर भी उनम भारत के प्रति महत्त्व है, एकता की भावना है, अत भारत एक राष्ट्र है।

एक राष्ट्र के निर्माण हतु पाँच तत्त्वो की आवश्यकता होती है । निश्चित देश, जाति, भाषा, सस्कृति और धर्म। कि तु धीरे-धीर इन पाच तत्त्वो म लचीलापन आया और राष्ट्र ने व्यापक स्वरूप ग्रहण किया। अब एक निश्चित भू भाग पर बसने वाला जनसमुदाय जो एक या अनेक जातियो का जनसमुदाय हो, एक या अनेक भाषाएँ बोलता हो, एक या अनेक धर्मों को मानने वाला हो, उसकी विविध सस्कृतियाँ हो सकती हैं और जिसम अपनत्व अथवा एकानुभूति की भावना हो, राष्ट्र की सज्ञा से अभिहित है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता राष्ट्र के प्रति प्रेम भावना, ममत्व या अपनत्व का भाव लिए होती है। वास्तव मे राष्ट्रीयता को शब्दो म बाँधना कठिन है। राष्ट्र के प्रति भक्ति ही राष्ट्रीयता है। राष्ट्र का निर्माण करने वाले तत्त्वो के प्रति उत्कट लगाव राष्ट्रीयता को जन्म देता है। राष्ट्रीयता ऐसी अनुभूति है जिसका उद्भव मानव चेतना म होता है। फ्रासीसी क्रान्ति के पश्चात् सामन्ती राज्या का अन्त हुआ और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावनाओ का प्रचार-प्रसार होने लगा। व्यक्ति की सहिष्णुता और उदार-चेता

मन स्थिति वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में अभिव्यक्त हो रही है। देश, धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति आदि की एकता की अनुभूति के स्थान पर आज की राष्ट्रीयता अनेकता में एकता की अनुभूति को उचित मानती है। श्री विद्यानाथ गुप्त ने राष्ट्रीयता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'राष्ट्रीयता वास्तव में मन की एक अवस्था है। वह व्यक्ति को राष्ट्रीयता के सूत्र में तभी बांधती है जब उसका ऐसे जनसमूह से एकत्व हो जाता है जिसका रहन-सहन रीति-रिवाज, संस्कार तथा अन्य जीवन की समस्याएँ तथा बन्धन उसी के समान हो।"[16]

अतीत में देशभक्ति को राष्ट्रीयता का पर्याय माना जाता था किन्तु वर्तमान युग में पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से राष्ट्रीयता और देशभक्ति में अन्तर माना जाने लगा है। देशभक्ति राष्ट्रीयता का एक तत्व या अंग है। डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे ने राष्ट्रीयता के बारे में लिखा है—"राष्ट्रीयता तो एक ऐतिहासिक अद्भुतता है और राजनीतिक कल्पनाओं से तथा सामाजिक संगठनों से उसे निर्धारित किया जा सकता है, जिसमें उसकी जड़ें जमी हुई हैं। राष्ट्रीयता का सम्बन्ध बाह्य शरीर अथवा जड़ भूमि मात्र से न होकर आन्तरिक होता है। अपने देश के अगाध प्रेम में, अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म के प्रति गौरव में, अपने देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दशाओं में सुधार के प्रयत्न आदि में यह राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित होती है।"[17] गेटेल ने राष्ट्रीयता को परिभाषित करते हुए लिखा है—'राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक भावना है जो एक साथ रहने वाले जनसमुदाय के प्रत्येक सदस्य में उत्पन्न होती है, उनके गौरव और विपत्तियाँ समान होते हैं तथा उनकी एक समान वंश परम्परा होती है और सामान्य पैतृक सम्पत्ति होती है।'[18]

किसी राष्ट्र के जनसमुदाय के सामूहिक गौरव की अनुभूति का होना राष्ट्रीयता का प्रमुख लक्षण माना गया है। डॉ० के० के० शर्मा राष्ट्रीयता को आन्तरिक भावना मानते हैं। उनके शब्दों में—' राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है जो एक ही भू-भाग में बसने वालों में पैदा होती है। राष्ट्रीयता मन की वह स्थिति है जिससे राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की परम निष्ठा का पता लगता है। यह परस्पर बन्धुत्व का भाव है जो राष्ट्र को गौरवान्वित करने में सहायक होता है। सामान्य भाषा, व्यवहार, धर्म आदि के संयोग से राष्ट्रीयता की भावना विकसित होती है।"[19]

राष्ट्रीयता वस्तुगत न होकर अन्तःकरण से सम्बन्धित है, इसे अनिर्वचनीय भी कहा जा सकता है। राष्ट्रीयता की अनुभूति स्थिर तत्त्वों में नहीं रही है यह गतिशील विश्वासों और विचारों में अभिव्यक्त होती रही है। राष्ट्रीयता के बारे में गिलक्राइस्ट की परिभाषा दृष्टव्य है—"राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना या सिद्धान्त है। यह ऐसे लोगों में उदय होती है जो एक स्थान पर रहते हों, एक ही जाति के हों, जिनकी भाषा, धर्म, इतिहास, परम्पराएँ रुचियाँ समान हों तथा जो राजनीतिक इकाई के एक से ही आदर्श संगठन में बद्ध हों।"[20]

जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार—"राष्ट्रीयता का तत्त्व उसके अनुचरों की पारस्परिक सहानुभूति और उनकी स्वयं की सरकार में संगठित होने की भावना, जो

ऐतिहासिक और राजनीतिक समुदाय के माध्यम से उत्पन्न हुआ हो तथा अतीत से सम्बन्धित सुख और दुख गौरव तथा ग्लानि की भावनाओ स सम्बन्धित हो, मे निहित है।"[21] निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विकास मे राष्ट्र और राज्य की सीमाओ को मिटाने का झुकाव रहा है ताकि एक स्तर पर प्रजातन्त्र के विकास मे राज्य स्वत: राष्ट्रो मे परिवर्तित हो सके। इस प्रकार राष्ट्रीयता मे व्यक्ति का राज्य के प्रति औपचारिक लगाव होता है।[22] राष्ट्रीयता एक प्राकृतिक जन की उस स्थिति का द्योतक है जिसके अनुसार वह राज्य से एक वफादारी के सम्बन्ध से जुडा हुआ है। राष्ट्रीयता एक पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके अन्तर्गत नागरिक का राज्य के प्रति दावेदारी के साथ-साथ राज्य का नागरिक के प्रति कर्त्तव्य भी शामिल है। यद्यपि वफादारी का सम्बन्ध अनिवार्यत अविच्छेद नही है फिर भी एक नागरिक की राज्य के प्रति वफा-दारी स्थायी कही गई है जबकि एक विदेशी या पर्यटक की आज्ञाकारिता की बाध्यता या वफादारी स्थायी नही मानी जाती है। स्थूल रूप से, राष्ट्रीयता का सम्बन्ध रक्त के सम्बन्ध से है परन्तु कानून के शब्दो म सही रूप से राष्ट्रीयता व रक्त मे कोई अनि-वार्य सम्बन्ध नही है।[23] स्पष्ट है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता की सकल्पनाएँ विभिन्न युगो मे प्रशासनिक व्यवस्था के अनुरूप अन्त ग्रथित रही है।

राष्ट्र और राज्य का सम्बन्ध एव अन्तर

राष्ट्र और राज्य लगभग समानार्थी है। राज्य के लिए निश्चित भू-भाग, उस भू-भाग पर बसने वाला जनसमुदाय, सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज सत्ता और शासन व्यवस्था आवश्यक है। ये तत्त्व 'राष्ट्र' के लिए भी आवश्यक हैं, किन्तु राज्य मे व्यक्ति राजसत्ता के बल से रहते हैं जबकि राष्ट्र के निवासियो म परस्पर एकता की तीव्र भावना होती है, उसम प्रेम होता है और एकानुभूति होती है जो उन्हे राष्ट्र से जोडे रखती है। राष्ट्र एक विकासशील सस्था है। इसके निर्माण मे मानव की अनेक प्रवृत्तियाँ और क्रियाएँ सहायक होती हैं। जूलियन हक्सले का मत है कि—"जिसे हम 'राष्ट्र' की सज्ञा प्रदान करते है उसके सयोजन मे कृत्रिम या स्वाभाविक रूप से मानव के अनेक क्रिया-कलापो, आकाक्षाओ और भावनाओ का योगदान रहा है। भाषा, धर्म, कला, कानून, आहार, भाव-भगिमाएँ, मिलना-जुलना, वेशभूषा, खेलकूद आदि सभी 'राष्ट्र' के सयोजन मे सहायक होते हैं।"[24]

राज्य व्यक्तियो का ऐसा समुदाय है जो अन्य समुदायो से ऊपर है। राज्य के निश्चित उद्देश्य होते हैं और इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु सरकार बनायी जाती है। समय-समय पर उद्देश्यो के परिवर्तन के साथ सरकारो मे भी परिवर्तन होते रहते हैं अर्थात् सरकारें बदलती रहती हैं। एक राज्य म कई राष्ट्रो का समावेश हो सकता है किन्तु एक राष्ट्र मे कई राज्य नही हो सकते। राज्य के चार तत्त्वो—भू भाग, जनता, शासन व्यवस्था और प्रभुसत्ता के साथ-साथ 'राष्ट्र' के लिए कुछ अन्य तत्त्वो की भी अनिवार्यता है—सामान्य भाषा, धर्म, जाति, पूर्वज, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, कानून आदि ऐसे तत्त्व हैं जो किसी भी राष्ट्र मे रहने वालो को परस्पर एक ही सूत्र मे बाँधे रखते हैं।

राज्य के अस्तित्व के लिए भू-प्रदेश, जनसमुदाय, सरकार और प्रभुसत्ता आवश्यक है। किसी राज्य के निवासियों के लिए यह आवश्यक नहीं कि उनमे परस्पर राष्ट्रीय एकता की भावना हो ही। सन् 1920 के बाद एक राज्य—एक राष्ट्र की भावना का विकास हुआ। जैसे किसी राज्य मे अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं उसी प्रकार एक राज्य मे कई राष्ट्रो के लोग रह सकते है, लेकिन एक राष्ट्र मे कई राज्यो का होना संभव नही।

राज्य तथा राष्ट्र मे अन्तर करने वाले प्रस्थान बिन्दु इस प्रकार है—

1. राष्ट्र के निर्माण मे भाषा, धर्म, रीति रिवाज, आचार व्यवहार आदि सब बातो का होना आवश्यक नही।

2 राज्य के अन्दर एक से अधिक राष्ट्र रह सकते हैं। यूरोप मे बहुत से ऐसे राज्य हैं जिनमे अनेक राष्ट्रो के लोग पाये जाते हैं।

3 राष्ट्र का सम्बन्ध भावना से है, परन्तु राज्य का सम्बन्ध राजनीतिक सगठन से है। एकता की भावना राष्ट्र का निर्माण कराती है। परन्तु कानूनो की आवश्यकता राज्य का निर्माण कराती है।

4 राज्य का निर्माण निश्चित उद्देश्य के लिए किया जाता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परस्पर सरकार का सगठन किया जाता है परन्तु राष्ट्र का कोई निश्चित ध्येय नही होता जिसके लिए उसका सगठन होता है। राष्ट्र का विकास तो क्रमश एकता की भावना के जागृत होने से होता है।

5. राज्य सदैव सरकार के रूप मे अपने को सगठित कर लेता है परन्तु सगठित तथा असगठित दोनो ही हो सकता है।

6 राज्य अपनी राजसत्ता के द्वारा राजाज्ञाओ का पालन करा सकता है। राष्ट्र मे केवल नैतिक अनुरोध की शक्ति होती है। राष्ट्र म केवल वही व्यक्ति आते हैं जो एकता की भावना स प्रेरित होते हैं।[25]

राष्ट्रवाद की विविध परिभाषाएं और सर्वाधिक स्वीकृत परिभाषा का निर्धारण

'राष्ट्रवाद' शब्द दो शब्दो क युग्म से निर्मित है— राष्ट्र' और वाद। राष्ट्र का सम्बन्ध उसमे बसने वाले जनसमूह की परस्पर एकता की भावना स है और 'वाद' उनकी तर्कणा शक्ति या बुद्धि से उद्भुत है। इस प्रकार राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता के भावो और विचारो स ओत-प्रोत विचारधारा है। किसी भी राष्ट्र के जनसमुदाय द्वारा उस राष्ट्र के सदर्भ म मान्य विचारधारा को राष्ट्रवाद कह सकते हैं। आधुनिक राष्ट्र-वाद की विचारधारा का विकास पाश्चात्य देशो और विशेष रूप स यूरोपीय राष्ट्रो के उदय के साथ हुआ है। गूच महोदय राष्ट्रवाद को फ्रासीसी राज्य क्रान्ति का शिशु मानते है।[26] राष्ट्रीयता की भावनाओ से युक्त विचारधारा राष्ट्रवाद है। आधुनिक राष्ट्रवाद की गति अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख है। समस्त प्रकार के भेदो, धर्म, जाति, वर्ण, भाषा, संस्कृति आदि के भेदो को भुलाकर राष्ट्रवादी विचारधारा मे राष्ट्र के कल्याण की भावना सर्वोपरि रहती है। हैन्स कोहन के अनुसार—"राष्ट्रवाद प्रथमत मन की विशिष्ट स्थिति है।"[27]

राष्ट्रवादी विचार कभी स्थिर नहीं रहे हैं। 18वीं शताब्दी में राष्ट्रवादी विचारों का उद्भव हुआ। तब से राष्ट्रवाद का क्रमिक विकास होता रहा। डा० सुधीन्द्र के अनुसार—'राष्ट्रवाद एक व्यक्तिगत नहीं समष्टिगत (सामूहिक) चेतना है जिसकी दृष्टि समूह या वर्ग के अभ्युदय और प्रगति पर है और वह प्रगतिशील तत्त्व भी है। देशभक्ति राष्ट्रीयता का सनातन स्वरूप है और राष्ट्रवाद है और राष्ट्रवाद उसका प्रगतिशील (ऐतिहासिक) स्वरूप है।"[28] क्रिस्टोफर लायड के अनुसार "राष्ट्रवाद को धर्म की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसकी जड़ें मानव प्रवृत्तियों में बहुत गहरी प्रविष्ट हो चुकी हैं। वर्तमान काल में यह (राष्ट्रवाद) जटिल और बाध्य करने वाले धार्मिक मतवाद का रूप ले चुका है जिसके लिए लोगों ने कुर्बानी दी है या विजय प्राप्त की है।'[29] महात्मा गांधी के अनुसार—'राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ विकसित होता है इसका मात्र राजनीतिक घोषणाओं से अथवा सैद्धान्तिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से निर्माण नहीं किया जा सकता।'[30]

एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना में राष्ट्रवाद के स्वरूप का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—"राष्ट्रवाद मन की एक दशा या स्थिति है जिसमें समान संस्कृति वाली जातियों के विशिष्ट गुण होते हैं। इन जातियों के लोग एक निश्चित भू-भाग पर परस्पर निकट सम्पर्क रखते हुए साथ साथ रहते हैं और वे अपने विशिष्ट अस्तित्व तथा प्रारब्ध के विश्वास में सहभागी होते हैं। ये लोग परस्पर गहरे सम्बन्धों की चेतना से जुड़े होते हैं, उनमें अपने अन्य समुदाय के प्रति वफादारी की तीव्र भावना होती है और इसके अन्त के लिए वे कुछ न कुछ करने को तत्पर रहते हैं। इस प्रकार एक ही मन स्थिति एकरूपता और अन्यों से पृथक होने की भी भावना उन्हें सामूहिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील करती है और वे राष्ट्र की स्वतन्त्रता सम्मान समृद्धि और शक्ति सम्पन्नता के लिए प्रयत्नशील होते हैं। राष्ट्रवाद में समान गुण वाले समुदाय के प्रति वफादारी होती है जो अन्य प्रकार की वफादारियों से ऊँची होती है, उसकी उपलब्धि में गौरव होता है और उसके सर्वोत्तम होने में विश्वास अथवा अन्य राष्ट्रों से उच्च होने की धारणा होती है और इस प्रकार अन्य राष्ट्रों के प्रति अरुचि का भावना आ जाती है।"[31] वेबस्टर्स डिक्शनरी के अनुसार राष्ट्रवाद की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—

1 राष्ट्रीय चरित्र अथवा राष्ट्र के प्रति रुझान, राष्ट्रीयता।
2 एक मुहावरा लक्षण स्वभाव जो किसी भी राष्ट्र के लिए विशिष्ट होता है।
3 राष्ट्र के प्रति भक्ति अथवा राष्ट्रीय हितों या राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता का समर्थन करना।
4 अपने स्वयं के राष्ट्र के प्रति उत्साहपूर्वक समर्पित होना अथवा राष्ट्रीय सिद्धान्तों की अनुपालना करना, देशभक्ति।
5 समाजवाद का एक रूप जिसमें उद्योगों के राष्ट्रीयकरण करने का समर्थन हो जैसा कि समष्टिवाद में होता है।

6 एक सिद्धांत जिसके अनुसार किसी राष्ट्र या राष्ट्रों का जनसमूह जो ईश्वर द्वारा चयनित हो।"[32]

'राजनीति कोश' में राष्ट्रवाद' के स्वरूप को इस प्रकार व्याख्यायित किया है—राष्ट्रवाद वह भावना जिससे प्रेरित होकर लोग एक पृथक और स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित होते हैं और उसका उत्कर्ष करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह एक प्रकार की समूह भावना है जैसे कि परिवार की समूह भावना या धर्म की समूह भावना या समाज की समूह भावना। यह एक भावात्मक राजनीतिक मान्यता है जो सीधे शक्ति संघर्ष से सम्बन्ध रखती है, राज्यों की पृथकता को मानती है, विधि तथा शासन के क्षेत्रों में पाये जाने वाले अन्तरों को मानती है और सामान्य आदर्शों तथा विश्वासों के आधार पर एक समूह को दूसरे समूह से पृथक करती है। राष्ट्रवाद मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों में से नहीं है। वह कई प्रवृत्तियों का परिणाम है। मनुष्य अपने जैसे दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर रहना चाहता है। वह आत्मरक्षा के लिए सदैव उत्कंठित रहता है और इसके लिए कभी कभी दूसरों से लड़ता भी है। ये सारी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रवाद के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती हैं। इसलिए संक्षेप में, जहाँ राष्ट्रवाद मनुष्य के लिए स्वतः प्रेरित नहीं है वह आधुनिक समाज की भावात्मक और प्रेरणात्मक प्रवृत्तियों से पैदा होता है और इस रूप में अक्सर मनुष्य की बुद्धि से नहीं, प्रत्युत उसकी भावना से सबंधित होता है। राष्ट्रवाद के कई रूप होते हैं। कहीं वह जातीयता से सम्बन्ध रखता है—उदाहरण के लिए जर्मनी में हिटलर ने राष्ट्रवाद का अर्थ यह समझा कि जर्मन जाति को संसार की स्वामिनी बनाया जाय। इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे देशों में राष्ट्रवाद का अभिप्राय वहाँ के सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों, राज्य और संविधान के प्रति निष्ठा से है। एशिया और अफ्रीका के उन विभिन्न देशों में जो लम्बे अर्से तक विदेशियों के प्रभुत्व में रहे, राष्ट्रवाद का अभिप्राय राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करना और उसे कायम रखना हो जाता है। अरब देशों में राष्ट्रवाद का मतलब अरब एकता को प्राप्त करना है।

राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने वाले मुख्य तत्त्व हैं –(1) भौगोलिक एकता, (2) जातीय एकता, (3) विचारों या आदर्शों की एकता या समान संस्कृति, (4) भाषा की एकता, (5) धर्म की एकता, (6) विदेशी शासन के प्रति समान-अधीनता।[33] 'वाद' शब्द जोड़ना मात्र इस बात का प्रमाण है कि मूल संकल्पना के सम्बन्ध में कुछ आग्रह या विकृति आई है। राष्ट्रवाद के कारण ही परम्परा एवं संस्कृति के आधार पर बने समूह के रूप में राष्ट्र के स्वरूप में विकार पैदा हुआ क्योंकि राष्ट्रवाद की व्याख्या समूह के निर्माण में मुख्य प्रभावी व अंतिम कारण के रूप में हुई है।[34]

इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रवाद आदिम कबीलावाद से ज्यादा विशाल तथा कम तात्विक है इसलिए कृत्रिम रूप से उत्पन्न व प्रचारित होता है। अत इसकी निर्भरता मुद्रित व लिखित शब्द की सचेत सोद्देश्यता पर तथा एक विशिष्ट प्रकार की जन शिक्षा पर अधिक है। स्पष्टतः राष्ट्रवाद अब एक विश्वजनीन घटना है जिसका प्रभाव आधुनिक सभ्यता के भौतिक व बौद्धिक विकास पर अत्यधिक पड़ता है। यह मानव समाज

के आर्थिक व आध्यात्मिक, साथ ही साथ समसामयिक संस्कृति की समग्र रचना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है कि इनकी दिशा का तीव्रता से किया गया कोई परिवर्तन उपरोक्त रचना के अन्य घटकों को भी परिवर्तित करता है।[35]

अंग्रेजी भाषा में राष्ट्रवाद शब्द का राष्ट्रीय भावना के रूप में विविध प्रकार से प्रयोग हुआ है और बहुत से समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने उसे स्वीकार किया है लेकिन उसमें स्पष्टता नहीं है। राष्ट्रवाद आक्रामक नहीं होता। राष्ट्रवाद राष्ट्र के निवासियों में आत्मसम्मान उत्पन्न करता है और जो अपना या अपने राष्ट्र का भलीभाँति सम्मान करना जानते हैं वे लोग ही वास्तव में अन्य राष्ट्रों के प्रति सम्मान की भावना रख सकते हैं।[36] फ्रेडरिक हर्ट्ज ने ठीक लिखा है—'समाजवादियों की निश्चित मान्यता है कि राष्ट्रवाद पूंजीपतियों के हित में एक सूक्ष्म आवरण है अथवा आम लोगों को समाजवाद के लिए संघर्ष करने से विमुख करने का एक साधन है।'[37] क्रिस्टोफर लायड ने राष्ट्रवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है— जाति प्रवृत्ति, भाषा धर्म, भौगोलिक परिस्थिति और प्रशासन ये सब मिलकर राष्ट्रवादी भावना का निर्माण करते हैं लेकिन इन सबमें महत्वपूर्ण तत्त्व सबका सम्मिलित रूप परम्परा है।[38] डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति माना है। राष्ट्रवादी भावना को जातीय संस्कृति से जीवनी शक्ति प्राप्त होती है राष्ट्रवाद राष्ट्रीय भावना का निर्माण करने वाले तत्त्वों का समग्र स्वरूप है जो अब सूक्ष्म किन्तु दृढ़ रागात्मिका वृत्ति का रूप धारण कर चुका है। व्यक्ति निर्मल रूप से अपनी आत्मा का विस्तार करना चाहता है। परिवार, वंश, जनपद, जातीय संगठन, समाज, देश और राष्ट्र से प्रेम की भावना को विस्तार देना उसकी उदात्त भावना को ही अभिव्यक्त करती है, अपने संकुचित स्वार्थों से व्यक्ति ऊपर उठकर पूर्णतः अपने राष्ट्र को समर्पित हो जाता है यही राष्ट्रवाद है। राष्ट्रवाद सामूहिक भावना को पुष्ट करता है— समष्टि की कल्पना में जिस देशकालगत तथा सकल्पात्मक आधार की आवश्यकता है उसका परिपाक हम राष्ट्रवाद में मिलता है। जब तक तर्कणात्मक चेतना का अनुप्रवेश राष्ट्रवाद में नहीं होता तब तक वह केवल प्रवृत्ति स्वरूप ही रहता है। राष्ट्रवाद की समग्रमूलिका वृत्ति का तभी पूर्ण विकास हो सकता है जब इसमें तर्क और भावना का सामंजस्य हो। राष्ट्रवाद का विशुद्धतम रूप तभी प्रकाशित हो सकता है जब व्यापक मानव हितवाद की आदर्शवादिता से उसका आप्लावन हो।[39]

अतः राष्ट्रवाद राष्ट्र की भावनाओं से ओत प्रोत एक विचारधारा है। यह विचारधारा जड़ नहीं है बल्कि राष्ट्रीय जनसमुदाय के चेतन मन को अभिव्यक्त करती है। वस्तुतः राष्ट्रवाद का क्रमिक विकास हुआ है। व्यक्ति अपना तथा अपने से सबंधित परिवार, कुल, समाज, देश या राष्ट्र के सदस्यों का सर्वतोमुखी विकास राष्ट्रवाद में प्राप्त करता है। राष्ट्रवाद आक्रामक न होकर अन्य राष्ट्रों के साथ सहयोग करता है। विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप राष्ट्रवाद के महत्तम स्वरूप का ही परिणाम है। किसी भी प्रकार का संकुचित दृष्टिकोण, चाहे वह जातीय, धार्मिक, सामाजिक अथवा भौगो-

लिक हो, राष्ट्रवाद का विरोधी है। "विशुद्ध राष्ट्रवाद वही है जो जन समाज की इच्छाओ, सकल्पो तथा आकाक्षाओ मे तात्विक समन्वय उपस्थित कर सके।"[40]

राष्ट्रीयता के तत्व

राष्ट्रीयता का स्वरूप यद्यपि विकासमान है और समय-समय पर उसमे कुछ परिवर्तन होते रहे हैं तथापि इसके कुछ निश्चित तत्व होते हैं, जिन तत्वो के कारण राष्ट्रीयता का अस्तित्व होता है। विद्यानाथ गुप्त के अनुसार राष्ट्रीयता के प्रधान तत्व निम्नलिखित हैं—"भौगोलिक एकता, जातीय एकता, सस्कृति तथा इतिहास-परम्परा की एकता, भाषा की एकता, धर्म की एकता तथा आर्थिक और राजनीतिक आकाक्षाओ की एकता।'[41] डॉ० सुधाकर शकर कलवडे ने भी राष्ट्रीयता के तत्वो को निम्न प्रकार निश्चित किया है— 'भौगोलिक एकता, ऐतिहासिक एकता, जातीय एकता, भाषिक एकता, धार्मिक एकता तथा आर्थिक एव राजनीतिक एकता तत्व।"[42] रेम्जेम्योर ने राष्ट्रीयता के तत्व इस प्रकार बताये हैं—"जाति की एकता, सास्कृतिक एकता, शासन की एकता, आर्थिक एकता, राजनीतिक लक्ष्यो की एकता तथा महापुरुषो की जीवन गाथाओं व विजय-गानो की मान्यता।"[43] जे० एस० मिल ने राष्ट्रीयता के चार तत्व निर्धारित किये हैं— (1) पूर्वजो की एकता, (2) भौगोलिक एकता, (3) भाषा और जाति की एकता, (4) राजनीतिक लक्ष्य की एकता।[44] सत्यकेतु विद्यालकार ने राष्ट्रीयता के छ तत्व निश्चित किये हैं—नस्ल की एकता, भाषा की एकता, धर्म की एकता, भौगोलिक एकता, सस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा की एकता, राजनीतिक आकाक्षा की एकता।[45] डॉ० के० के० शर्मा ने राष्ट्रीयता के तत्वो को आधार सज्ञा से सम्बोधित किया है। डॉ० शर्मा के अनुसार राष्ट्रीयता के तत्व इस प्रकार है—"भाषा, धर्म, प्राकृतिक स्थितियाँ, सस्कृति, जाति स्वदेश, साहित्यिक परम्पराएँ।"[46]

वस्तुत राष्ट्रीयता के तत्वो को सुविधा के लिए दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) राष्ट्रीयता के बाह्य तत्व—एक निश्चित भूखण्ड के प्रति लगाव, इस भूखण्ड पर निवास करने वाला जनसमुदाय अथवा जाति विशेष, इस जनसमुदाय का परस्पर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सम्बन्ध। (2) आन्तरिक तत्व राष्ट्र के प्रेम अथवा देशभक्ति, पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक सामान्य भाषा, वश और परम्परा के प्रति लगाव, समान धर्म और सस्कृति।

वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व के लिए यदि एकाधिक तत्व न भी हों तो भी कुछ अनिवार्य तत्वो के रहते हुए राष्ट्रीयता समाप्त नही हो जाती। किन्ही समान प्राकृतिक सीमाओ मे निवास करने वाला जनसमुदाय का जीवन बहुत कुछ एक सा होता है। दीर्घ अवधि तक जब कोई जाति किसी प्रादेशिक क्षेत्र मे रहती है और उनको समान जलवायु एव वातावरण मे रहते-रहते उस क्षेत्रीय एकता और उसकी अखडता के प्रति प्रेम तो होता ही है साथ ही अपने पूर्वजों की स्मृति के साथ ऐतिहासिक एकता की भावना पनपती है। ससार के विभिन्न भूखडो मे वसने वाली नस्लें अथवा जातियाँ रक्त सम्बन्धो के कारण अपना विशिष्ट सगठन बनाती रही है और

कालान्तर में यह जातीय समुदाय राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत होकर सगठित हुए। राष्ट्रीयता का एक अनिवार्य तत्त्व राष्ट्र में निवास करने वाले जनसमुदाय की समान भाषा है। समान भाषा ही किसी राष्ट्र को अभिव्यक्ति प्रदान करती है अतः किसी राष्ट्र के लिए भौगोलिक, ऐतिहासिक, जातीय और भाषा की एकता अनिवार्य है।

राष्ट्रवाद के विविध प्रकार

राष्ट्रीयता के विविध तत्त्वों के आधार पर राष्ट्रवाद के भी अनेक प्रकार होते हैं। डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे ने राष्ट्रवाद के निम्न प्रकार बतलाये हैं— (1) आक्रामक राष्ट्रवाद, (2) स्वयं तृप्त राष्ट्रवाद, (3) उदारमतवादी राष्ट्रवाद, (4) साम्यवादी राष्ट्रवाद, (5) स्वाधीनतावादी राष्ट्रवाद।[47] लियो मालिन ने राष्ट्रवाद के विकास की दृष्टि से तीन प्रकार निर्धारित किये हैं—(1) मुक्त राष्ट्रवाद—जिसका विकास 19वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में योरोप में हुआ और पोलैण्ड, ग्रीस, इटली आयरलैण्ड आदि राष्ट्र अस्तित्व में आये। (2) अधिकार सम्पन्न राष्ट्रवाद—इसमें बुद्धिजीवियों का विशेषाधिकार होता है तथा इसका प्रारम्भ मध्यम श्रेणी के लोगों को प्रभावित करने के लिए होता है। (3) सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद।[48]

राष्ट्रवादी चेतना का विकासात्मक परिप्रेक्ष्य

वैदिककालीन राष्ट्रवादी चेतना

प्राचीन भारतीय साहित्य में राष्ट्रवादी चेतना का क्षेत्र बड़ा व्यापक रहा है। वेदों को भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेद में राष्ट्र प्रेम से युक्त अनेक उदाहरण मिलते हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि—"जब राष्ट्रीय विकास की अवस्थाओं का यूरोप में अरुणोदय भी नहीं हुआ था तब पुष्ट राष्ट्रवाद का संदेश भारत के सार्वजनिक जीवन में एक सजीव बल बन चुका था।'[49] ऋग्वेद काल में भारतीय राष्ट्र की आर्य जाति ने आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी उन्नति प्राप्त की थी। आर्य जाति के सर्वांगीण विकास की प्रेरणा से ही राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ है। उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व ने भारतीय राष्ट्र को सूत्रबद्ध किया। 'साम्राज्य, स्वराज्य, राज्य, महाराज्य आदि शब्द वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु राष्ट्र शब्द सबसे महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र का आशय उस विशेष भूखण्ड से है जहाँ के निवासी एक संस्कृति के सूत्र से आबद्ध हैं। जहाँ की जनता एक संविधान से अनुशासित है और जहाँ के निवासियों में तद्देशीय प्राचीन पुरुषों, साहित्यों और कलाओं के प्रति श्रद्धा, स्नेह और सहानुभूति के भाव विद्यमान हैं।'[50]

"भारतीयों के परम पवित्र ग्रंथ वेदों में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र, मरुत् का ही केवल गायन नहीं किया गया बल्कि इसके साथ तत्कालीन समाज के चित्र भी उपस्थित किये गये हैं।"[51] जब प्रत्येक आर्य

अपने राष्ट्र का नेतृत्व करने की कामना करता है तो उससे तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति स्वत स्पष्ट होती है; यथा—"वय राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।"[62] अर्थात् हम जागृत रहते हुए अपने देश का नेतृत्व करें। ऋग्वेद में उल्लिखित 'राष्ट्र' शब्द से आर्यों की समस्त भावना के साथ देश, राज्य, जाति व संस्कृति सभी का समग्र चित्र उपस्थित हो जाता है। ऋग्वेद में राजा त्रसदस्यु का दो राष्ट्रों मे राज्य होने का उल्लेख मिलता है—

"मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतु सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः।"[63]

अपने राष्ट्र मे वीरों की कामना करते हुए ऋषि कहते हैं—"आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायतां।"[64] अथर्ववेद मे राष्ट्र के शासन के उत्तम आचरण का विधान है—"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।"[65]

इस प्रकार वेदों मे राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति करने वाले अनेक सूत्र है। हाँ, इसका स्वरूप देवताओं के कीर्तिगान मे, मातृभूमि के स्तवन मे, समृद्ध सामूहिक जीवन की कामना करने मे देखा जा सकता है; यथा—माता भूमि' पुत्रोऽहं पृथिव्या।"[66] अर्थात् भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ तथा "अभिवर्धताम् पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।"[67] राष्ट्र के लोग दुग्धादि पदार्थों से समृद्धि प्राप्त करें और राष्ट्र की अभिवृद्धि हो। डॉ॰ के॰ के॰ शर्मा का मत है—"आर्यों का सांस्कृतिक, धार्मिक तथा कलात्मक जीवन के साथ-साथ राजनीतिक जीवन भी विकसित हो गया था। राजा का चुनाव तथा उसका प्रजा तथा राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व आदि का स्पष्ट चित्र आर्यों के समक्ष था जो उनमे स्फूर्तिप्रद तथा गौरवपूर्ण भावनाओ का उन्मेष करता था। आर्य ऋषियों की दृष्टि मे राज्य और प्रजा एक दूसरे के पूरक थे, विरोधी नही। राष्ट्र मानवता के लिए साधन था, साध्य नही।'[68] डॉ॰ सुधाकर शकर कलवडे के अनुसार—"सक्षेप में वेदों में राष्ट्रीयता की भावना मातृभूमि का स्तवन, इन्द्रादि देवताओ का कीर्तिगान और सगठन एव सामूहिक जीवन की अभिलाषा करने तक सीमित है।"[69]

उपनिषदों व ब्राह्मण ग्रथो मे भी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति अनेक स्थलो पर मिलती है। उपनिषद् मे जातीय जीवन के उत्थान का सदेश देती हुई निम्न पक्ति को विस्मृत नही किया जा सकता—"उठो जागो और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा समर्पणशील रहो।"[70] उपनिषद् मे ही जातीय एकता का सदेश निम्न पक्तियों मे मिलता है—"हम दोनों का साथ साथ ही रक्षण, पोषण, सगठित शक्ति और विद्या, तेजस्वी और महान् हों, तथा परस्पर विरोधी विरोध मे शक्ति का क्षय न करें।'[71] अत यह स्पष्ट है कि आर्य जाति प्रारम्भ काल मे ही मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति रखती थी तथा जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को स्थापित करना ही था। भौगोलिक एकता भारत को आदिकाल से राष्ट्रीय एकता के सूत्र मे बाँधे हुए है। भारत का प्रत्येक नागरिक जब अपने मुख से इस देश की नदियों के जल का आह्वान करता है तो निश्चित रूप से उसके अन्तर मे राष्ट्रीय एकता की भावना का ही स्फुरण होता है—

"गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु।"[62]

इस भारतभूमि के प्रति अमित प्रेम और भक्ति जिस रूप मे अभिव्यक्त की गई है, निश्चय ही अद्वितीय है। जन्मभूमि का स्वर्ग से भी उत्तम मानना, इस देश मे जन्म लेकर धन्य समझना ऐसी ही भावना है जो भारत-भूमि को एक मानकर सगठित करती है— 'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी।" अथवा

"गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय पुरुषा· सुरत्वात।।"[63]

भारतीय राष्ट्र की एकता के बारे मे रूपना स्वामी के शब्द द्रष्टव्य हैं—"यदि इस विश्व में भौगोलिक एकता कहीं देखने को मिल सकती है तो वह भारतवर्ष ही है।"[64] भारत का प्राचीन नाम आर्यावर्त है और यह आर्य जाति की क्रीडास्थली रही है। आर्यों ने जातीय एकता के द्वारा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ किया था। आर्यों की उत्कृष्ट सस्कृति और विकसित सामाजिक जीवन के कारण उनमे राष्ट्रीय भावनाएँ अत्यधिक विकसित थी। सस्कृत भाषा व तीर्थ स्थलो ने भी राष्ट्रीय एकता को सुदृढ किया है। दिनकर के शब्दो मे—' सस्कृति हिन्दू सस्कृति की भाषा बन गई एव सारे देश के चिन्तक सस्कृत मे ही साहित्य रचना करने लगे। सस्कृत और हिन्दू सस्कृति के नीचे, विभिन्न जातियो एव विभिन्न भाषाओ वाला यह महादेश पूर्ण रूप से एक हो गया।"[65] मोनियर विलियमस् ने भी सस्कृत भाषा को भारतीय राष्ट्र की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार किया है।[66]

रामायण-महाभारत काल

वाल्मीकि रामायण, महाभारत, श्रीमद् भगवत् गीता, कालिदास के महाकाव्य एव अन्य सस्कृत के प्रसिद्ध रचनाकारों यथा—माघ, भारवि, श्रीहर्ष, बाणभट्ट आदि ने अपनी रचनाओ के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को एक सूत्रता और निरन्तरता प्रदान की है। श्री सुधाकर शकर कलवडे के शब्दो मे— 'श्रीमद् भगवत् गीता ने अनेक शताब्दियों से भारतीय जनमानस को एव प्रकाण्ड पडितो को अत्यन्त प्रभावित किया है। बाल्मीकि रामायण और वेद व्यास का महाभारत इन दो राष्ट्रीय महाकाव्यो ने सदैव युगों-युगो म हमारा पथ प्रदर्शन किया है। ये हमारी अमूल्य राष्ट्र निधियाँ हैं जिन्होने सारे भारतवर्ष को भौगोलिक, सास्कृतिक, आध्यात्मिक दृष्टि से एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया है।'[67] पुराणो मे अनेक पूर्वकालीन कथाओं के माध्यम से जो चित्र प्रस्तुत किये गये हैं उसमे राष्ट्रीय एकता का ही प्रसार हुआ है। विष्णु पुराण म भारत की नदियो, हिमालय पर्वत और समुद्र का जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे राष्ट्रीय एकता बलवती होती है—

"उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारत नाम भारती यत्र सन्तति।"[68]

जैन-बौद्ध काल—जैन तथा बौद्ध काल में इस देश में महाजनपद—अंग, मगध, काशी, कौशल, मल्ल, कुरु, पंचाल, गंधार आदि के अतिरिक्त कुछ गणराज्य—कपिलवस्तु, मालव, वैशाली, मिथिला आदि स्थापित थे। इनकी राज्य व्यवस्था में अन्तर होते हुए भी सम्पूर्ण देश एक ही राष्ट्रीय चेतना से ओत प्रोत था। गौतम बुद्ध ने तो जाति-पाँति के भेद को मिटाकर जनता की भाषा में ही जनकल्याण का प्रसार करके राजनीतिक एकता की भावना को भी प्रभावित किया। आगे बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर सम्राट अशोक ने राष्ट्रीय जीवन को संगठित किया। सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ भारतीय राष्ट्र की एकता को ही पुष्ट करता है। राष्ट्रीय एकता की यह धारा सम्राट हर्षवर्धन तक अबाध गति से प्रवाहित होती रही है। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है—'यह सम्पूर्ण देश हमेशा से राजनीतिक रूप से एक, तथा नवजीवन से प्रेरित एवं गतिमान रहा है। यह नवजागृत राष्ट्रीय चेतना विविध विचारों और कार्यों में अभिव्यक्त हुई है।"[९]

कुछ इसी प्रकार का विचार स्मिथ महोदय ने भी प्रकट किया है—"दो हजार वर्ष से भी अधिक समय से आदर्श राजनीतिक एकता रही है।[१०]

मध्ययुगीन राष्ट्रीय चेतना

मध्ययुगीन राष्ट्रीयता की भावनाएँ इस देश की विविध अपभ्रंश भाषाओं में अभिव्यक्त हुई है। इस समय देश अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया था। जातीय एवं धार्मिक कट्टरता, संकुचित दृष्टिकोण एवं राजनीतिक विद्वेष के कारण राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में कुछ बाधाएँ उपस्थित हुईं। किन्तु वीरगाथा काल अथवा चारणकाल में रासो साहित्य के द्वारा राष्ट्रीयता के कुछ स्वर अवश्य सुनायी दिये। डॉ० के० के० शर्मा ने लिखा है—"इस काल म ग्रन्थों में वीरोत्तेजक भावनाएँ, स्वामिभक्ति, भूमि प्रेम, राजपूती गौरव व आन के लिए मर मिटने की भावना तो परिव्याप्त है परन्तु व्यापक राष्ट्रीयता की कमी है।"[११] वास्तव में मध्य युग हिन्दू मुसलिम संस्कृतियों के सम्मिश्रण का काल है। हिन्दूओं की राजनीतिक शक्ति क्षीण हुई और मुसलमान इस देश के शासक हो गये। संघर्ष के बाद दोनों जातियों में परस्पर मेल जोल बढ़ा। धर्म, इतिहास, रीति-रिवाज, कला, संगीत आदि के मेल से नयी भारतीय मुसलिम संस्कृति का निर्माण हुआ।

संतों और भक्तकवियों ने दोनों जातियों म सहिष्णुता का प्रचार किया। हिन्दू मुसलिम संस्कृतियों के मेल से दोनों की भाषा तथा साहित्य में भी आदान प्रदान हुआ। हिन्दी और उर्दू इस देश की आम जनता की भाषाएँ बन गईं। कबीर, दादू, नानकदेव, जायसी, रैदास, सूफी कवियों और भक्तों ने राष्ट्रीय जीवन को पुन नया स्वरूप प्रदान किया। इसके साथ ही सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं से राष्ट्रीय जीवन को पुन संगठित किया और गति प्रदान की। सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में—"मध्ययुगीन दार्शनिक सन्तों तथा कवियों ने देश में सांस्कृतिक विघटन और ह्रास से बचाया।"[१२] डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे के शब्दों में—'निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर, तुलसी, रामदास आदि सन्त कवियों ने जो भक्ति

है। यह बात दूसरी है कि युगीन परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रवादी चेतना का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। इस चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी महाकाव्य भी बने हैं। समष्टि रूप मे राष्ट्रवादी चेतना की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे परिलक्षित होती है।

राष्ट्रवादी चेतना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

1 स्वदेश गौरव एव राष्ट्रभक्ति
2 स्वर्णिम अतीत का गौरवगान
3 राष्ट्रवदना के स्वर एव प्रशस्तिगान
4 राष्ट्र की हीनावस्था का चित्रण
5 विदेशी शासन के प्रति आक्रोश एव विद्रोह की भावना
6 नवजागरण का उद्घोष
7 स्वातन्त्र्य सघर्ष
8 राष्ट्रीय समृद्धि का महाभियान
9 भौगोलिक एकता की भावना
10 जातीय एकता
11 सांस्कृतिक परम्पराओ का गौरवान्वित परिप्रेक्ष्य
12 धार्मिक एकता।

1 स्वदेश गौरव एव राष्ट्रभक्ति

किसी भी देश की गुरुता, विशालता, समृद्धि अथवा गुणवत्ता से उस देश के निवासियो मे गौरव की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। स्वभावतः व्यक्ति जिस देश मे जन्म लेता है एव जिस समाज म पल कर बडा होता है उस समाज और धरती से, उस स्थान से—उसके भौतिक-सामाजिक परिवेश से वह जुड जाता है। नदी-नाले, वन-पर्वत, वृक्ष-लताएँ, खेत-खलिहान, पशु पक्षी—सबके साथ उसका तादात्म्य सा स्थापित हो जाता है। परिवार, जाति, समाज, उसके रीति-रिवाज, भाव-विचार सभी उसके सुख-दु ख के भागीदार होते हैं। यदि देश की प्राकृतिक सम्पदा समृद्ध है, उस देश मे बसने वाले लोग वीर, विज्ञ और महान् हैं तथा भौगोलिक एव सास्कृतिक रूप स उनमे एकता की भावनाएँ हैं तो उस देश के निवासियो के मन मे देश-भक्ति के साथ-साथ देश के प्रति गौरव के भाव भी रहेंगे। "राष्ट्रभक्ति का मूलमन्त्र है—हमारा देश, हमारा राष्ट्र, अन्य राष्ट्रो से श्रेष्ठ, सुन्दर तथा समृद्ध है।'[82] देशभक्ति के अभाव मे राष्ट्रीयता सभव नही। "देशभक्ति जन एकता और जन सस्कृति राष्ट्र के तीन पार्श्व हैं—परन्तु देशभक्ति आधारभूत है, उसके बिना 'राष्ट्रीयता' की कल्पना नही की जा सकती।'[83]

भारत सदियो से अपनी गौरवमय भौगोलिक एकता के कारण महान् देश रहा है। इसकी महानता का सबसे बडा कारण उसकी गौरवमयी सस्कृति है। वस्तुत "हिन्दू सभ्यता दुनिया की प्राचीनतम सभ्यता है। राष्ट्रो का उत्थान-पतन हुआ,

साम्राज्य स्थापित हुए और नष्ट हुए, जातियाँ उत्पन्न हुईं और काल के कराल गाल में विलीन हो गयी किन्तु हिन्दू सभ्यता जिसने अनेको घात-प्रतिघात सहे आज भी जीवित है।[84] ऐसे विशाल, रमणीक, श्रेष्ठ और प्राणवान भारत देश के लिए यहाँ के निवासियो के मन म गौरव और राष्ट्रभक्ति के भाव क्यों नही होगे। कला और साहित्य में स्वदेश गौरव एव राष्ट्रभक्ति को अभिव्यक्त करना कलाकार का अभिप्रेत रहा है। स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यो मे कवियो ने स्वदेश गौरव एव राष्ट्रभक्ति के भाव अभिव्यक्त किये है।

स्वतन्त्रता के लिए लडने वाले देशभक्त वीरो पर अग्रेजो ने बहुत अत्याचार किये परन्तु उनकी देशभक्ति को मिटाया नहीं जा सका। महाकाव्यकार श्री मित्र के शब्दो मे—

'पैरो मे बेडियाँ डाल दी, हाथो मे हथकडियाँ।
बलिवेदी पर चढी प्रेम से—तन फूलो की लडियाँ।।
जितने जुल्म किये गोरो ने, उतनी दहकी ज्वाला।
हर जवान को चढी हुई थी—देशभक्ति की हाला।''[85]

जब हम हृदय से देश की स्वतन्त्रता के लिए सजग रहते हैं तो बलिदान देकर भी देश के गौरव की रक्षा की जा सकती है। चन्द्रशेखर आजाद ने बलिदान देकर देश के गौरव को बढाया।

''बिक गई कलम, तो फिर देश कैसे बच सकेगा,
सर कलम हो, कलम का सर शर्म से झुकने न पाये।
चल रही तलवार या बन्दूक हो जब देश के हित,
यह चले-चलती रहे, क्षण भर कलम रुकने न पाये।''[86]

सुभाषचन्द्र घर से खुशहाल थे। उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं थी। प्रतिभा के धनी थे, किन्तु उनकी प्रतिभा स्वार्थों तक सीमित नही रही। उन्होने देश को आजाद कराने के लिए अपने प्राण भी न्योछावर कर दिये। कवि के शब्दो में—

''तुम थे सुभाषचन्द्र
रामचन्द्र इस युग के
निष्कलक और पूर्ण चन्द्र देशभक्ति के
देख देख तुम्हें
उठा ज्वार जन-सागर मे
उन्मादी ज्वार उठा भारत के रक्त मे।''[87]

सुभाष ने देश के लोगों मे आत्म गौरव तथा राष्ट्रीय भावनाओ का प्रसार किया। 'सुभाषचन्द्र' महाकाव्य मे श्रीकृष्ण सरल ने सुभाष की गौरवमयी देशभक्ति का स्तवन किया है—

''बग के सपूत।
शक्ति-साधक-आराधक तुम
तुमने न चरणो से छुआ मातृ-रूप को
ओजमयी वाणी के परस सम्प्रेषण से

तुमने प्रतिष्ठित की
उनमे राष्ट्र चेतना।"[88]

भारत की ललनाएँ भी देश का सम्मान रखने हेतु प्राणो की बाजी लगा देती है। झासी की रानी लक्ष्मीबाई ने अग्रेजो की दासता के विरुद्ध नारी सेना का संगठन किया था और उनमे देशभक्ति के भाव जागृत किये—

"देश-भक्ति का मान-दण्ड है
ललनाओ की जीवित शक्ति।
ललनाओ की सुदृढ भक्ति ही
विमल-देश की है शुभशक्ति।।"[89]

पराधीन देश हीनता की भावना से ग्रसित रहते हैं। भारत अग्रेजो की पराधीनता मे रहकर हर क्षेत्र मे पिछड गया। 'झासी की रानी' महाकाव्य मे कवि ने स्वतन्त्रता को देशोत्थान के लिए आवश्यक कहा है—

"बना कर मातृ भूमि को मुक्त
किया जा सकता है उत्थान।
उड़ाया जा सकता है दिव्य
अन्य देशो मे अरुण-निशान।।"[90]

कैकेयी के वरदान मागने पर राजा दशरथ एव अयोध्या की प्रजा की भावनाओ के विपरीत राम को चौदह वर्ष की अवधि के लिए वनवास जाने का आदेश मिला। इस निर्णय पर लक्ष्मण का अपने पिता दशरथ और माता कैकेई पर अत्यधिक क्रोध आया। यहाँ तक कि लक्ष्मण ने राम से आग्रह किया कि वे अपने अधिकार की रक्षा के लिए साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति का अनुसरण करें। किन्तु राम ने राष्ट्रीय सकट को टालने के लिए राजसिंहासन का मोह त्याग दिया—

'एक त्याग से मेरे यदि,
राष्ट्र-विपत्ति टले दुगनी
जन-हित मैं फिर क्यो न करूँ ?
बलिदान बपौती अपनी।"[91]

सिक्खो के गुरु तेगबहादुर ने धार्मिक एकता के लिए मुगल साम्राज्य से सघर्ष किया, किन्तु औरगजेब की धार्मिक कट्टरता के सामने अपने प्राणो का बलिदान देना पड़ा। गुरु तेगबहादुर का यह बलिदान हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढाता है—

"धन्य-धन्य वह शूर-शिरोमणि
अद्वितीय जग-भर मे
सिर दे दिया न सार दिया
जिसने सद्धर्म-समर म।"[92]

व्यक्ति जिस देश मे उत्पन्न होता है, उसे स्वभावत. उस देश से प्रेम होता है। जिसे अपने देश पर अभिमान न हो उसका जीवन भी व्यर्थ है। राष्ट्रीय प्रेम को प्रेरित करने वाली 'सन्त-सिपाही' की यह पक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"है वह मनुष्य पशु के समान
जिसमे स्वदेश का प्यार नहीं।
जो स्वाभिमान से हीन, उसे
जीने का भी अधिकार नहीं।"[93]

किसी भी राष्ट्र की शक्ति मात्र उसका सैनिक संगठन नहीं होना बल्कि उस देश के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना अवश्य होनी चाहिए—

"होता नहीं बलवान केवल देश सैन्य-प्रभाव से।
यदि शून्य हो उसका हृदय राष्ट्रीयता के भाव से।"[94]

सरदार भगतसिंह अनन्य देशभक्त थे; उन्होने न केवल देशभक्तों को देश के लिए मर मिटने की प्रेरणा दी अपितु स्वयं भी देश की आजादी के लिए फांसी के फन्दे पर चढ गये। 'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य की यह पक्तियां देशभक्ति का चित्रण करती हैं—

"धरती का सम्मान प्राण देकर हम सदा रखेंगे,
हम अपयश के नहीं मौत के फल यदि मिले, चखेंगे।
अवसर आये तो फांसी के फन्दे भी चूमेंगे,
हम मतवाले देश प्रेम की मस्ती मे झूमेंगे।"[95]

महात्मा गाँधी ने देश के दुःखी, पीड़ित एवं एवं निराश लोगो मे आत्मविश्वास जगाया और उनमे देशभक्ति के भाव जगाये। स्वयं गांधीजी ने भी कदम-कदम पर देशभक्ति का परिचय दिया। उन्होने अच्छा पहनना, खाना त्याग दिया और लगोटी धारण कर ली। अंग्रेजो द्वारा प्रदत्त सम्मान का भी गांधीजी ने त्याग किया। यथा—

" 'स्वर्ण कैसरे हिन्द पदक' को त्याग दिया उस देशभक्ति ने।
देशभक्ति देवी माता की—पूजा की उस महाशक्ति ने।"[96]

गुरु गोविन्दसिंह की बद्धमूल धारणा थी कि देश को शक्तिशाली बनाने के लिए राष्ट्रीयता की भावना और स्वदेश प्रेम आवश्यक है—

"होता नहीं बलवान देश कभी सैन्य प्रभाव से
यदि शून्य हो उसका हृदय राष्ट्रीयता के भाव से।"[97]

उन्होंने जिस खालसा पन्थ को तैयार किया, वह राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत था—

"है खालसा राष्ट्रीयता की लोकतंत्री भावना।
नव भारतीय समाज के कल्याण की शुभ कामना॥"[98]

स्वाधीनता संग्राम की बेला मे देशप्रेम के ये स्वर सर्वत्र ही सुनाई देते थे कि—

'भारतवर्ष अजेय हमारा, झंडा नहीं झुकेगा।
कह दो झंझाओ से कह दो, दीपक नहीं बुझेगा॥

\+ \+ \+

देश हित जीना हमारा, देश हित मरना हमारा।
देश मंदिर, देश माला, देश सूरज, देश तारा।"[99]

इस प्रकार अनेक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीय भक्ति की चेतना से अनुस्यूत भाव अभिव्यजित हुए हैं; किन्तु इन महाकाव्यकारों के राष्ट्रवादी चिन्तन की चरम परिणति विश्व मानवतावादी चिन्तन में हुई है।

2. स्वर्णिम अतीत का गौरवगान

"भारत का गौरव अक्षुण्ण है, केवल कुछ काल के लिए वह लुप्त हो गया था। देश के अतीत गौरव, उसके प्राचीन ग्रन्थ तथा उसकी वीर गाथाओं के इतिहास की सुरक्षा ही जीवन में नव जागृति का साधन बन सकती थी।"[100] भारत का अतीत अति गौरवशाली रहा है। उसके स्वर्णिम अतीत के स्मरण से खोये हुए गौरव को पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। इससे देशवासियों में देशभक्ति के भाव भी पनपते हैं। स्वातंत्र्योत्तर महाकाव्यों में भारत की प्राचीन परम्परा को चित्रित करके भावी निर्माण की प्रेरणा दी है।

भारत की समृद्धि का लाभ उठाने के लिए जब तब विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण किये हैं किन्तु भारतीय वीरों ने आक्रान्ताओं को मुँहतोड़ जवाब दिया है। 'मेधावी' महाकाव्य के रचयिता ने आर्यों की वीरता और उनके अद्भुत ज्ञान का स्मरण करते हुए आक्रामक सिल्यूकस को चेतावनी दी है—

> "सिल्यूकस यह है आर्य भूमि
> है महादार्शनिक का विकास
> यह भी युग युग से गर्वोन्नत
> कर रही ज्ञान से है विलास।"[101]

शताब्दियों से यह राष्ट्र स्वतन्त्र रहा है। सबसे पहले इस देश में ज्ञानोदय हुआ था। कवि को अपने इस राष्ट्र के अतीत गौरव पर गर्व है—

> "अपराजित है राष्ट्र हमारा
> सदियों की लहरों को झेले
> अडिग अभी तक देश हमारा
> जब जग भर में अँधियाला था
> हिन्द चीन की ज्योति जगाई
> इनकी प्रतिध्वनि बन औरों ने
> चिर जीवन की रागिणि पाई।"[102]

अंग्रेजों की दासता से मुक्ति प्राप्त करने हेतु 'मानवेन्द्र' के कवि ने गौरवमय अतीत के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

> "शिलालेख बोले अशोक के, जागो!
> जाग जाग तलवार आग भर।
> वीरों का इतिहास याद कर
> चन्द्रगुप्त की ध्वजा उड़ाओ।
> अपना प्यारा देश छुड़ाओ।

अक्षर बोले लोक-लोक के, जागो।
शिलालेख बोले अशोक के, जागो।"[103]

आर्य जाति का इतिहास अपनी उज्ज्वल परम्परा के लिए आज भी भारत को गौरव प्रदान करता है। हिन्दू संस्कृति उसी आर्य जाति की अभिव्यक्ति है—

"आर्य सांस्कृतिक-विजय पताका
घन वन मे फहरायेगी
देखो तो यह ज्ञान ध्वजा अब
कहाँ कहाँ लहरायेगी।"[104]

सन् 1924 से 1931 के बीच की अवधि मे सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि देशभक्त युवकों ने सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया। देशवासियो को जागृत करते हुए आजाद ने झांसी की रानी की वीरता का परिचय देते हुए कहा—

"जब डींग मारते हो वे कभी वीरता की,
ले दो झांसी का नाम, मुर्दनी छायेगी।
वे भले भूले जायें अपने राजा-रानी,
झांसी की रानी नही भुलायी जायेगी।।"[105]

स्वतन्त्रता संग्राम मे गति देने के लिए तथा देशभक्तों को प्रेरित करने के लिए अतीत गौरव का स्मरण किया जाता है। 'सुभाषचन्द्र' मे श्री सरल ने भारत के गौरव का चित्रण इस प्रकार किया है—

'मेरे देश भारत!
तुम वीरो की खान रहे
जन्म देते रहे तुम महान् नर-रत्नो को
जिनकी आभा से विश्व होता प्रदीप्त रहा
मानवता
बार-बार हुई ऋणी जिनकी है।"[106]

देश के अतीत का गौरव राष्ट्रीय एकता को प्रेरित करता है। 'गुरु गोविन्दसिंह' महाकाव्य के प्रणेता श्री श्यामनारायण प्रसाद ने चन्द्रगुप्त की वीरता का वर्णन करते हुए राष्ट्रीय गौरव के महत्त्व को स्पष्ट किया है—

"जिसके कण मे चन्द्रगुप्त का,
पौरुष गरज रहा है।
झुके न शीश कभी संकट मे,
प्रतिफल बरज रहा है।'[107]

हमे अपने देश के अतीत का उज्ज्वल पक्ष स्मरण करके प्रसन्नता होती है। प्रत्येक देशवासी को अपने महान् पूर्वजों पर गर्व होता है जिन्होने देश के लिए त्याग किया है। देश के महान् पूर्वजो का स्मरण 'वीरायन' मे कवि ने बड़ी श्रद्धा से किया है—

"अवतीर्ण हुए हैं भारत मे, शंकर तीर्थंकर मुनि ज्ञानी।
इन्द्रासन की रक्षा करते, निज अस्थि दान कर ऋषित दानी।।

रूपो रासो में रागों में, त्यागो मे है भारत महान।
अपने से पहले औरो का, भारत को रहता सदा ध्यान ॥"[108]

भारत अतीत काल से ही अपने त्याग-तपस्या और ज्ञान गरिमा के लिए प्रसिद्ध रहा है। यथा—

"त्याग तपस्या दया क्षमा की
पुण्य वसुमती प्यारी
प्रेम अहिंसा सत्य साधना मे
सब जग से न्यारी।"[109]

भारत को वीरों की जन्म भूमि बताया गया है—

"वीरों की यह जन्म भूमि है
रामकृष्ण का लीला स्थल
भीम युधिष्ठिर पार्थ द्रोण की
कीर्ति कौमुदी से उज्ज्वल।"[110]

इसी प्रकार भारतीय चेतना के स्वर्णिम अतीत का गौरवगान चन्द्रगुप्त मौर्य, सत सिपाही, जननायक, लोकायतन, कालिदास, जयभारत, दमयती आदि महाकाव्यो मे भी उपलब्ध है।

3 राष्ट्र वदना के स्वर एव प्रशस्तिगान

राष्ट्र वदना राष्ट्रीय भावना का ही प्रतिरूप है। देश के प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रकट करना ही राष्ट्र वदन है। किसी राष्ट्र के महान् गुण ही उसके निवासियो को प्रेरित करते रहते हैं। राष्ट्रीय भावधारा हजारो वर्षो से एक रूप मे प्रवाहित होती रही है। प्राकृतिक सुषमा, पुष्पो व चन्दन की सुवास इस देश को प्राणवान बनाये हुए है। यथा—

'यह चन्दन का वृक्ष, विषैले—इससे लिपटे रहते।
फिर भी चन्दन के श्वासो से सुरभित स्वर ही बहते ॥
भारत की शोभा सुगन्ध से आभावान धरा है।
लाख मरण ने किये आक्रमण, भारत नही मरा है॥'[111]

राष्ट्र की भौगोलिक गरिमा से हम गौरवान्वित होते हैं और हमारा लगाव भी देश के प्रति बना रहता है—

"सप्त सिन्धु मेखला, भुजा बल हिम गिरि मुकुट मनोहर।
दृग जल जात हस गुण गर्वित तन है तरणि तमोहर ॥
हरित भूमि रोमावलि हर्षित, कृषि का सस्मित आँचल।
पनघट झूला चरवाह पर, प्रकृति परी की पायल ॥
श्रम के गीत मिल के तप का श्वेत सरोरुह प्यारा ॥"[112]

'शक्ति शखनाद' महाकाव्य के रचयिता ने राष्ट्र की वन्दना करते हुए लिखा है कि राष्ट्र स्वतन्त्र रहे, इसकी समृद्धि हो और रामराज्य के आदर्श को प्राप्त करे—

"राष्ट्र की नित्य ऊँची पताका रहे
वायु भी शुद्ध संस्कार कारी बहे।
भारतोद्यान में शान्ति स्वराज्य हो
आर्य भू में सदा राम का राज्य हो ॥"[113]

जनतंत्रतीय शासन पद्धति अपनाकर अनेकताओं के मध्य भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो रही है—

"जनतांत्रिक ढाँचे में बँध
भारत की आत्मा अक्षय
बहुरूप एकता अपनी
चरितार्थ करेगी निश्चय।
बहुमुखी सूत्र जीवन के
फिर गूँथ राष्ट्र पट में नव
वह सहज सजो पायेगी
निज अनेकान्त उर अनुभव।"[114]

भारत पुराकाल से एक महान् राष्ट्र रहा है। भौगोलिक रूप से तो यह अखण्ड रहा ही है, नैतिक-धार्मिक रूप से भी एकता के सूत्र में निबद्ध रहा है। यथा—

'समुच्च आदर्श विधायनी मही
प्रसिद्ध है भारत सर्व विश्व में,
यहाँ महा मत्री मयी प्रभा के लिये
सुधर्म साम्राज्य सदैव सोहता।"[115]

भारत अपनी प्राकृतिक शोभा, सांस्कृतिक परम्परा और गौरव के लिए भी विश्व में अग्रगण्य है—

"ऋतुओं में, रंगों में भारत, ऋतुराज देश प्यारा भारत।
न्यारी भारत माँ की महिमा, न्यारे हम तुम न्यारा भारत॥
धरती की सहन शक्ति इसमें, अम्बर की ऊँचाई वाला।
दुनिया के बमल खिलाता है, तम से सूरज की उजियाला॥"[116]

'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य के प्रणेता ने देश की समृद्धि, सम्पन्नता और प्रगति का चित्रण करते हुए राष्ट्रवंदना की है। यथा—

लिये दूधिया जल, नहरों का जाल यहाँ जा फैला,
कहता है उज्ज्वल यश सबका, मन न किसी का मैला।
उज्ज्वल भूमि यहाँ की, उज्ज्वल ही जन मन का मन है,
हर नर नाहर-सा दिखता है, धन्य यहाँ जीवन है।"[117]

भारत भूमि अपने भौतिक ऐश्वर्य के लिए तो महान है ही, आध्यात्मिक गरिमा से भी मण्डित है। कविवर श्री आनंदकुमार के शब्दों में—

'पाकर यह वसुमती जिसे वसुमती बनी है।
कीर्तिवती, धनधान्यवती भारत अवनी है॥

मुक्त जीव भी विधि से कहते मुक्ति जगत में।
देव, हमें दो जन्म पुन भवनिधि भारत में॥"[118]

'रामराज्य' के रचयिता श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने भारतीय राष्ट्र की वदना करते हुए लिखा है—

"वही बात है वह, मुझको तो इस पल है भारत का ध्यान।
भारत यशस्वी हो, भारत का सर्वोदय भय हा उत्थान।
रची इकाई इसकी अद्भुत स्वयम् प्रकृति ने अपने हाथ।
रत्नाकर से चरण अलकृत हिम-किरीट से सज्जित माथ।"[119]

श्री मिश्र ने 'मानवेन्द्र' में स्वतत्रता के पश्चात् परिवर्तन की कामना करते हुए कहा है कि—

"यह वीरो का देश, वन्दना—इसकी तन-मन धन से।
अमर रहे यह देश, अर्चना—चन्दा से चदन से॥
फूलो की सुगन्ध क्या कहती, सुनो प्रकृति की वाणी।
ससृति के सौरभ के स्वर हैं, सुखी रहे हर प्राणी॥"[120]

सदर्भित स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाका०यो के आरम्भिक मगलाचरणो एव अन्य अवान्तर प्रसगो म राष्ट्र वदना के प्रमग प्रकारान्तर से महाकाव्यकारो की राष्ट्रवादी काव्य चेतना के ही अभिव्यजक हैं।

4 राष्ट्र की हीनावस्था का चित्रण

भारत अपने स्वर्णिम अतीत के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है, किन्तु कुछ समय क लिए विदेशी आक्रान्ताओ ने इसके गौरव को धूमिल कर दिया। इसलामी आक्रमण-कारियो ने इस देश के धर्म, जाति, ज्ञान-विज्ञान के विकास को भारी क्षति पहुँचायी। अग्रेजो ने तो राष्ट्रीय जीवन को एक प्रकार से कायर और पगु ही बना डाला। अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी और बेकारी अग्रेजी शासन की देन है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नही कर पाया। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महा-काव्यकारो ने राष्ट्र की हीनावस्था का चित्रण प्रस्तुत करके उसके नवनिर्माण की सप्रेरणा दी है। अग्रेजो के आधिपत्य से देश के नर-नारी अपमानित अनुभव करते हैं। "देवपुरुष गांधी" के रचयिता श्री रमेशचन्द्र शास्त्री ने परतत्र भारत की हीनावस्था का चित्रण इस प्रकार किया है—

"अस्त हो गया था स्वतत्रता सूर्य देश का।
त्रस्त हो गया स्वाभिमान था, हा! स्वदेश का॥
लाज लुट रही थी नारी की चतुष्पथो पर।
भारत भर मे भय का मत घुसा था घर-घर॥"[121]

दासता की बेड़ियो मे जकडे हुए भारतवासियों को जगाने के लिए कवि ने उनकी कायरता को ललकारा है—

"राजाओ का शौर्य आज क्या शान्त हो गया ?
वीर शिवा का विक्रम क्या अब क्लान्त हो गया ?
वीरों की तलवार आज क्या जंग खा गई ?
स्वयं वीरता क्या उनकी क्षिति मे समा गई ?"[122]

पराधीन भारतवासियो की दयनीय दशा का चित्रण करते हुए कवि श्री रघुवीर शरण मित्र देशवासियो का आह्वान करना चाहते हैं। यथा—

"दास भारत दीन भारत कर दिया।
हर तरह से हीन भारत कर दिया॥
हम गुलामी का गरल पीने लगे।
दास होकर मुस्करा जीने लगे॥
देह अपना था, पराये श्वास थे।
दूर अपने थे, पराये पास थे॥
हृदय ने गमगीन भारत कर दिया।"[123]

वस्तुत राष्ट्रीय एकता तभी सभव होती है, जब शासनतन्त्र जन हित मे सचालित होता है। आजादी के बाद भी अगर हम परमुखापेक्षी बने रहे तो हम राष्ट्र को आगे कैसे ले जा सकते हैं ? भाषा, संस्कृति, ज्ञान आदि के लिये हम पाश्चात्य देशो की ओर ताकते रहे, तो इस देश की जनता को कैसे लाभ मिल सकता है ? राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए हमे इस देश की धरती और सस्कारों से जुडना होगा। कवि के शब्दो मे—

"राष्ट्रीय एकता न सम्भव
सांस्कृतिक ऐक्य भी दुष्कर,
पर सस्कृति में पोषित मन
सृजन से विरत भयकर।
कैसे हम राष्ट्र बने तब
देशाभिमान से वंचित
जनछिन्न मूल पादप से
गाँवो से पुर न समन्वित"[124]

सिक्खों के गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता का विरोध किया था। औरगजेब ने नृशसतापूर्वक गुरु तेगबहादुर का मस्तक धड से अलग करवा कर उनके पुत्र गुरु गोविन्दसिंह के पास भिजवाया। औरंगजेब की हिंसा, अध-धार्मिकता और बर्बरता का चित्रण 'सन्त सिपाही' के कवि उदयभानु हंस ने इस प्रकार किया है—

"नग्न नृत्य था वह हिंसा का, नाटक बर्बरता का।
मुगल सभ्यता का कलक, साक्षी नर की पशुता का।
औरंगजेबी अन्ध न्यायी की थी साकार कहानी।
देख दण्ड की दारुणता पत्थर भी होता पानी।"[125]

राम लक्ष्मण के वनवास जाने के बाद राजा दशरथ की मृत्यु हो गई। उस समय भरत और शत्रुघ्न भी अपने ननिहाल गये हुए थे। अयोध्या का राज्य शासन विहीन था। ऐसी स्थिति मे अराजकता फैलने की पूरी आशंका रहती है। 'अरुण रामायण' के रचयिता ने उस समय के भारतीय राष्ट्र का चित्रण करते हुए दर्शाया है कि शासन की दुर्बल अवस्था मे विदेशी शत्रु अधिकार कर लेते हैं और देश परतन्त्र हो जाता है। भारत म अग्रेजी राज्य के समय भी ऐसी ही स्थिति थी, प्रकारान्तर से महाकाव्यकार ने युगीन चेतना का ही रूपाकन किया है—

"तन-मन धन चिन्ता पर जब पर-शासन-प्रभुत्व,
हो जाता शक्ति विहीन स्वदेशी स्वर-गुरुत्व
बन जाती है परतन्त्र प्रजा चूहे-बिल्ली—
राष्ट्रीय चेतना की उडने लगती खिल्ली।
फैलता अराजकता से व्यापक तम ही तम
होती है ऐसी हानि कि घुटने लगता दम
हो जाता सत्यानाश, स्वत्व लुट जाता है
परतन्त्र देश रोगी सा ही अकुलता है।" [116]

'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य मे देश की वर्तमान राजनीतिक अवस्था का चित्रण उपलब्ध होता है। राजनीति न हमारे समग्र राष्ट्रीय जीवन को खोखला कर दिया है। यह ऐसी आँधी है जो सबको अपने साथ उडाये जा रही है। कवि की चिन्ता इन शब्दो मे रूपायित हुई है—

"यह राजनीति की हवा चली तो देखो
क्या लगे चमकने कल्लू और मटल्लू
बन गये निठल्लू भी अब ठल्लू जी हैं
दिख रहे सीकिया जी अब जैसे मल्लू।" [117]

गद्दार लोग देश की आजादी को भी गिरवी रख देते हैं। वैशाली राज्य मे गणतन्त्रीय शासन व्यवस्था थी। उस समय राष्ट्र विरोधी कार्यों से देश की स्वतन्त्रता एव प्रजातन्त्र के समक्ष सकट उत्पन्न हो गया था। 'वीरायन' के कवि ने वैशाली की तत्कालीन परिस्थिति का वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे वर्णन किया है। यथा—

'ऐसे भी थे देशभक्त जो देश बेच देते थे।
भारत देकर दौलत लेकर, जानें ले लेते थे॥
हिंसा के वूचड खाने थे, पैसा पैसा पैसा
कह न सकी पीडित वैशाली पतन हुआ था जैसा॥

\+ \+ \+

हम प्रजातन्त्र मे रहते हैं जीते हैं राज त्रिशूलों मे।
फूलो में काले नाग छिपे, भारत हैं आज बबूलो मे॥
पूर्णिमा अमावस्या है अब, जाडे की धूप बनी गर्मी।
उस रही तपस्याओ के फल, यह राजनीति की बेशर्मी॥" [118]

महाप्राण निराला क्रांतिकारी कवि थे। देश के दीन-हीन और शोषक वर्ग के प्रति उनका हृदय करुणा-प्लावित रहता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी जब देश की दशा दयनीय होती गई, तो उन्हें आघात लगा। श्री तिलक ने 'निराला' महाकाव्य में निराला जी की इसी चेतना को व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

"भारत के जन-जन के तन पर है लगी जोक,
वह चूस रही है खून दांत की चुभा नोक।
दुर्बल से दुर्बल हुआ जा रहा रोज देश,
बढ़ता ही जाता जीवन का हर रोज क्लेश।"[129]

लोकायतनकार श्री पंत ने परतंत्र देश के युवकों की हीनावस्था का मार्मिक चित्रण किया है—

"पर, दुर्गम दासता गर्त में
गिरा देश हत-चेत अधोमुख
पराधीन को सपने में भी
ठीक कहा, हरि, सुरभ कहाँ सुख!
दया व्यथा से विगलितचित नर
महत् कर्म करने में अक्षम"[130]

राष्ट्र की दीन हीन अवस्था का चित्रण राष्ट्रीय चेतना का ही प्रतिरूपण है। राजनीति ने देश के प्रत्येक क्षेत्र को आक्रान्त कर रखा है। कवि का क्षोभ कितना सहज है कि—

'अब कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जिसमें चलती हो घूस नहीं।
वश्या जैसी है राजनीति, नाचा करती है कहीं कहीं।।"[131]

स्पष्टतः इस प्रकार के प्रसंग समीक्ष्य महाकाव्यों की उस चेतना को ही अभिव्यंजित करते हैं, जिसका मूलाधार राष्ट्रीयता एवं स्वदेश प्रेम है। आह्वान भरे स्वरों में कवि ने जनमन को राष्ट्र की दीनावस्था का निराकरण कर उसे समृद्धि की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा दी है।

5 विदेशी शासन के प्रति आक्रोश तथा विद्रोह की भावना

राष्ट्रीय जनजागरण के समय महान नेताओं ने अनुभव किया कि पराधीनता अभिशाप है। अंग्रेजों के शासन में भारत की जनता उत्पीड़ित थी। धीरे-धीरे अंग्रेजों के प्रति भारतीयों के हृदय में विद्रोह तथा आक्रोश की भावना घर करने लगी। सन् 1917 में रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप वहाँ सोवियत समाजवादी राज्य की स्थापना हुई। लेनिन ने कहा था—"उत्पीड़ित राष्ट्रों द्वारा साम्राज्यवादी अर्थात् उत्पीड़क शक्तियों के विरुद्ध लड़ा जाने वाला युद्ध सच्चा राष्ट्रीय युद्ध है।"[132] अस्तु रूस ने भी परतन्त्र देशों के स्वतन्त्रता संग्राम के प्रति सहानुभूति प्रदान की और भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन में तेजी आई। भारतीय नेताओं को यह तथ्य भलीभांति ज्ञात हो गया था कि उनकी दीन-हीन दशा का मूल कारण पराधीनता है। अतः तिलक, गांधी, नेहरू,

सुभाष चन्द्र आदि नेताओं ने देश की जनता में विद्रोह के स्वर भरे और दासता से मुक्ति प्राप्त करने हेतु सकल्प किया। मुंशी प्रेमचन्द ने भारतीय जनता के स्वाधीनता आदोलन में सक्रिय सहयोग दिया है। पराधीनता को वे आत्मसम्मान के विरुद्ध मानते थे। श्री द्विरेफ ने प्रेमचद के पराधीनता विरोधी विचारों को अपने महाकाव्य में व्यक्त करते हुए लिखा है—

"बद करो बस गीत विरह के।
छोडो सखी का उन्माद।
जन-जन के गाण्डीव हाथ में
और करो तुम शख-निनाद।"[133]

गाँधीजी ने इगलैण्ड से लौटकर वकालत प्रारम्भ की। उस समय भारतीयों के प्रति अग्रेज अफसरों का व्यवहार बडा क्रूर और अपमानजनक होता था। एक अग्रेज अफसर ने गाँधीजी की बात सुने बिना ही चपरासी द्वारा उन्हें अपने दफ्तर से धक्का देकर निकलवा दिया। तब गाँधीजी ने अनुभव किया कि पराधीनता व्यक्ति को कितना पशु बना देती है। यथा—

"गाँधी ने समझा अपने को
अपनी ही धरती पर बदी।
भारतीय जनता की कैसी,
ब्रिटिश राज में स्थिति है गदी।।"[134]

नेहरू जी का हृदय भी अग्रेजों की पराधीनता से क्षुब्ध था। उन्होंने भारत के स्वतत्रता सग्राम में स्वय को समर्पित कर दिया था। श्री मिश्र ने नेहरू की अन्त प्रेरणा को व्यक्त करते हुए कहा है कि—

सब दुखो से अधिक दुख है—पराधीन माता है।
इन्कलाब का गीत हृदय से—फूट-फूट आता है॥
बिना क्रान्ति के स्वतत्रता के—दीप नहीं जलते हैं।
वे प्रभात लाते तम पीकर—जो असि पर चलते हैं।"[135]

नेहरू की आवाज पर भारतीय जनता अग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तत्पर हो गयी। विद्रोह के स्वरों को 'मानवेन्द्र' के प्रणेता ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"वे कानून मिटा दो जिनसे—मानवता मरती है।
ऐसे राजा व्यर्थ कि जिनसे—जनता ही डरती है।
क्या शासन न्याय और क्या—कानूनों के बधन।
व्यर्थ व्यवस्था ऐसी जिसमें—शेष देश में रोदन।"[136]

अग्रेजों की दासता से मुक्ति प्राप्त करने हेतु सुभाषचन्द्र बोस का अवदान भी कम उल्लेखनीय नहीं है। श्रीकृष्ण सरल ने सुभाष को अर्जुन की तरह वीर चित्रित किया है। यथा—

'जन्मा फिर एक और अर्जुन इस देश में
जिसने रचाया

महाभारत स्वतंत्र्य का
कौरव फिरंगी थे;
पाण्डव थे भारतीय
पाण्डवों ने माँगा जन्म-सिद्ध अधिकार निज ।"[137]

अंग्रेजो की दासता से मुक्ति प्राप्त करने हेतु झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपने प्राणो की बली दे दी। उन्होंने संघर्ष करने हेतु नारी-सेना को संगठित किया था —

"जगाऊँगी फिर नारी-जाति
करूँगी सेना को तैयार।
चढ़ाकर मुण्डो का नम हार
करूँगी माता का शृंगार।"[138]

अंग्रेजो की दमनकारी नीति से भारतीय भलीभाँति समझ गये थे कि दासता सर्वाधिक घृणित है। अतः भारतीय जनमत ने संगठित होकर अंग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह की तैयारी की। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए सभी ने अपने आन्तरिक भेदभाव भुला दिये और अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया—

"छोड़ो भारत को ईश्वर पर
तुम्हें नही यदि आस्था प्रभु पर,
तो छोड़ो विप्लव के हाथों—
रक्तपात का उठे बवण्डर!
श्रेष्ठ अराजकता, बर्बरता—
अधम दासता से छूटें नर,
एक बनेंगे, अरि के हटते
भारत भू जन भेद भूलकर।"[139]

अंग्रेजो के अत्याचार से सरदार भगतसिंह के हृदय मे अत्यधिक रोष भरा था। वास्तव में वे इन्कलाब की मूर्ति थे। 'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य मे श्रीकृष्ण सरल ने सरदार भगतसिंह का परिचय इन्कलाबी के रूप मे ही दिया है। यथा—

"पूछा है मेरा नाम, बताता हूँ—मैं,
सुन लो, मुझको सब इन्कलाब कहते हैं
जब जब होते हैं अत्याचार भयकर
तो लोग मुझे उनका जवाब कहते हैं।"[140]

देश के प्रति अपनी भावनाओ को व्यक्त करते हुए प० जवाहर लाल नेहरू ने "हिन्दुस्तान की कहानी" मे लिखा है कि—"हिन्दुस्तान मेरे खून मे समाया हुआ है और उसमे बहुत कुछ ऐसी बात है जो मुझे उकसाती है।"[141] भारत को अंग्रेजों के शासन से मुक्त कराने का संकल्प दोहराते हुए घोषणा की थी कि—

"अब न ब्रिटिश सरकार रहेगी, हमने प्रण ठाना है।
या तो हम आजाद रहेंगे, या अब मिट जाना है॥

शपथ हमें है भारत माँ की, शपथ ध्वजा की हमको।
युद्ध क्षेत्र से नहीं हटेंगे, बिना हटाये तम को।।"[142]

सुभाषचन्द्र बोस ने भी देश को स्वतन्त्र कराने के लिए प्रतिज्ञा की थी। यथा—

'चैन तभी लूँगा देश जब यह स्वतन्त्र हो
जब तक स्वदेश को—स्वजाति को न मुक्त करूँ
सोऊँगा न सुख से मैं कभी शान्ति शैया पर।"[143]

श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने अपने महाकाव्य में साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का विरोध किया है। 'उर्मिला' महाकाव्य के राम स्वयं इसका विरोध करते हैं। यथा—

"भूमि विजय, साम्राज्य स्थापन
यह न आर्य का ध्येय कभी,
आर्य सभ्यता छोड़ चुकी है
कब की सृतियाँ प्रेय सभी।
+ + +
हे साम्राज्यवाद का नाशक दशरथ नन्दन राम सदा।"[144]

औरंगजेब के विरुद्ध गुरु गोविंदसिंह का संघर्ष विदेशी सत्ता का ही विरोध था। औरंगजेब ने गुरु गोविंदसिंह को मधुर मिलन हेतु पत्र भेजकर निमंत्रित किया था। गुरु गोविन्दसिंह ने ऐसा उत्तर दिया, जो उनके राष्ट्र प्रेम का परिचायक है। यथा—

"तू साम्राज्यवाद का ध्वज, मैं लोक शांति की ज्वाला।
तू है गरल भरा द्विजिह्व मैं पिये अमृत का प्याला।।
लूट मार धोखा तेरा जीवन संघर्ष बना है।
देश धर्म का संरक्षण मेरा आदर्श बना है।।"[145]

"मेधावी' महाकाव्य के रचयिता डॉ० रांगेय राघव ने भी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का विरोध किया है—

'यह साम्राज्य मनुज के असली
मुक्त विकास रोक देते हैं
नियमों के जालों से रह रह
सहज विचार टोक देते हैं।"[146]

इसी प्रकार के विद्रोही स्वर अन्यान्य महाकाव्यों में भी उभरे हैं। विदेशी शासन के प्रति विरोध की भावना ही अन्ततः जनचेतना को उद्बुद्ध करने का साधन सिद्ध हुई और इसी भावना से कोटि कोटि भारतीयों को स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय योगदान करने हेतु अनुप्रेरित किया।

6 नवजागरण का उद्घोष

राष्ट्रीय एकता के प्रसार में छत्रपति शिवाजी का विशेष महत्त्व है। राष्ट्र जागरण के कार्य में शिवाजी ने मुगल सम्राट औरंगजेब का मुकाबला किया था। यथा—

"की राष्ट्रीय भावना मन मे
शीघ्र उन्होने जाग्रत,
स्वप्न देखने लगा मनोरम
नये राष्ट्र का भारत।"[147]

सोया हुआ राष्ट्र नव जागृति की अनुगूँज से क्रियाशील हो गया। नवजागरण हीनता को भी नष्ट करता है। नवजागरण के आलोक मे प्रगति का मार्ग भी खुल जाता है। यथा—

"नव जागृति का अग्रदूत सा
उनको ज्ञात प्रभात हुआ
सत्य अहिंसा का जय-सूचक
फुल्ल विमल जलजात हुआ।"[148]

स्वतन्त्रता संघर्ष के लिए गांधीजी ने देश की जनता को तैयार किया था। उनके नेतृत्व से देश मे नयी लहर बही—

"नई भावना है अब जाग्रत
नये भाव हैं मन मे
हुआ पूर्ण विश्वास देश को
अपने अपने पन मे।"[149]

स्वाधीन भारत की दशा को बदलने के लिए नवजागरण का उद्‌घोष नेहरू जी ने भी किया था—

"बदलो, नई सुबह से बदलो, रात हटा दो।
देश बना दो स्वर्ग, स्वर्ग को वर्ड हटा दो।
बदलो, जैसे बीज फूल बनकर खिलता है।
बदलो, मिटकर जैसे नया जन्म मिलता है।
बदलो वह इन्सान।"[150]

'लोकायतन' के कविवर पंत ने गांधीजी को नवयुग का दूत कहा है। गांधीवाद के प्रभाव से भारतीय जन-जीवन मे नयी लहर दौडने लगी और राष्ट्र पैरो पर खड़ा होने लगा। यथा—

"नयी चेतना पृष्ठ खुला हो
मिटा भेद भय, मन का संशय,
हिंस्र शक्ति से मत्त जगत को
मिला प्रेम बल का नव परिचय।
देश राष्ट्र में मुक्त धरा पर
हँसने को था नव स्वर्णोदय—
देख रहे थे शोषक शोषित,
मनुज सत्य का महत् समन्वय।"[151]

मधु-कैटभ निशाचरो ने संसार को अंधकारमय बना दिया था। लोगों में

आलस्य, तन्द्रा और कायरता व्याप्त हो गयी थी। तब विधाता ने नवजागरण का शंख फूंका। 'शक्तिशंखनाद' के कवि श्री लक्ष्मीचन्द्र मिश्र ने विधाता के माध्यम से देश जागरण का ही शंखनाद किया है—

"गई काली रजनी अब बीत
नया आया है प्रात काल।
उठा लो नूतन बल उत्साह
हटा दो यह असुरों का जाल।।"[152]

पर्वतीय नरेशों को सम्बोधित करते हुए गुरु गोविन्दसिंह ने राष्ट्र-जागरण का महान संदेश दिया था। कवि के शब्दों में—

"हे क्षत्रिय वंशाभिमानियों !
तुम किन सपनों में सोये हो ?
राष्ट्र जागरण की बेला है,
जान बूझकर क्यों सोये हो।"[153]

इसी चेतना का यह परिणाम हुआ था कि—

"शस्त्रागार बने गुरुद्वारे, ध्वजा बनी रण क्षेत्र निशान।
हुए रौद्र रस में मतवाले, बच्चे बूढ़े और जवान।।"[154]

अथवा

"सब में जागी नयी चेतना, त्याग भाव मुसकाया।
पत्ते-पत्ते पर स्वदेश का नया पथ लहराया।।"[155]

इस प्रकार नवजागरण का उद्‌घोष अनेक समीक्ष्य महाकाव्यों में सुनायी देता है, जो अन्ततः राष्ट्रीयता की भावना का ही संपोषण करता है।

7 स्वातन्त्र्य संघर्ष

देश को स्वतन्त्रता आसानी से नहीं मिली। इसके लिए लाखों नारी पुरुषों एवं बाल-वृद्धों ने अपने प्राणों की बलि दी है। काँग्रेस की अगुआई में देश के नेतागण ने अंग्रेजों की दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया और तभी सन् 1947 में देश स्वतंत्र हुआ। इस स्वाधीनता में आहूत होने की प्रेरणा देने वालों में कथाकार प्रेमचन्द का योगदान भी अविस्मरणीय है। प्रेमचन्द ने भारतीय जनता को संघर्ष के लिए आह्वान किया था। यथा—

"बन्द करो बस गीत विरह के
छोड़ो तन्त्री का उन्माद
जन-जन ले गांडीव हाथ में
और करो तुम शंख निनाद।"[156]

सरदार भगतसिंह दासता की यातना को नरक से भी बुरा समझते थे। वास्तव में वे राष्ट्रीय आजादी के दीवाने थे। भारत माता के लाड़ले सपूतों से उनका कहना था कि—

"जो कालिख है लग गई कीर्ति पर अपनी
हम सब शोणित से उस कालिख को धोयें
आजादी की उन्मुक्त फसल लहराने
हम बीज मस्तकों के धरती में बोयें।"[157]

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' की अनुपालना करते हुए महाकाव्यकार गोपालशरण सिंह जनमानस को स्वातन्त्र्य संघर्ष की प्रेरणा देते हैं। यथा—

"भारत छोड़ो हुआ वाक्य वह
स्वतन्त्रता के रण का गीत
शीघ्र बन गया वह भारत की
विजय प्राप्ति का मंत्र पुनीत।"[158]

सुभाषचन्द्र बोस ने देश मुक्ति के लिए प्रतीक्षा की थी और जीवन भर उसके लिए संघर्ष करते रहे—

"करते प्रतिज्ञा की पूर्ति रहे जीवन भर
देश के लिए ही रहे जीवन भर जूझते
जीवन भर खोजते ही रहे देश-मुक्ति तुम
और उसी खोज में स्वयं भी तुम खो गये।"[159]

शहीद सम्राट भगतसिंह बचपन से ही अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। खेल प्रतियोगिताओं में भी प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने में भी तत्पर रहते थे। श्रीकृष्ण सरल ने भगतसिंह की जूझारू चेतना की अभिव्यंजना इस प्रकार की है—

"गरज उठा था वीर भगत सक्रोध तब
साथियो! नहीं पाँव पीछे को धरेंगे हम।
आततायी ने है घर अपना उजाड़ा यह,
क्रुद्ध हो-हो आज सब युद्ध करेंगे हम।
+ + +
धरती का यह अपमान सहा नहीं हमें,
मिट्टी की माँग आज खून से भरेंगे हम
यदि अपमान का न बदला चुकाया, तब
आज रण-खेत बीच जूझ मरेंगे हम।"[160]

सुभाषचन्द्र बोस ने देश को आजाद कराने के लिए आजाद हिन्द फौज का संगठन किया था और स्वयं उसके मार्गदर्शक भी बने। द्वितीय महायुद्ध के समय आजाद हिन्द फौज अपने सेनानी के नेतृत्व में अंग्रेजी फौज से जी-जान से जूझी थी—

"इन्कलाब जिंदाबाद! इन्कलाब जिंदाबाद!
होता घोर शोर
घोष उठता 'जय-हिंद' का
नेताजी जिंदाबाद! नेताजी जिंदाबाद!

भीषण लगा कर हाँक
टूट पड़ते सूरमा।"[161]

सरदार भगतसिंह शिक्षा प्राप्त करते समय क्रान्ति के लिए संगठन तैयार कर रहे थे। उन्हें अंग्रेजी दासता से घृणा थी अतः वे संघर्ष के अवसर की तलाश में ही रहते थे। अस्तु

'भड़क उठी विप्लव की आँधी ऐसी ही इनके प्रदेश में,
अंग्रेजों के सम्मुख आये क्रुद्ध अकाली काल-वेश में।
उठकर खड़ा हुआ बब्बर-दल
सवा लाख पर एक अकाली,
आग उगलने लगी क्रांति की
पुण्य पथ पद की हरियाली।"[162]

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अपने अन्तिम दौर में था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारतीय नेताओं ने अंग्रेजों से आग्रह किया कि देश का शासन भारतीयों को सौंप दें, किन्तु अंग्रेज शासकों ने क्रूरता और दमन का आश्रय लिया। 'भारत छोड़ो' आंदोलन प्रारम्भ किया गया। अंग्रेजों के प्रति भारतीयों में हिंसा भड़क उठी और 'करो या मरो' के साथ संघर्ष प्रारम्भ हुआ—

"जब सुना 'करो या मरो।' नाद ताण्डव में था भैरवी राग।
आजादी के दीवानों ने—शोणित से खेला खुला फाग।।
चल पड़ी चण्डिका खप्पर ले, अब चली दविया दुर्गों पर।
हँसते हँसते चढ़ जाते थे—बलिवेदी पर वीरों के सर।।'[163]

स्वाधीनता संघर्ष के चेतना को उजागर करने वाले स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में लोकायतन, मानवेन्द्र, जननायक, चन्द्रशेखर आजाद, गाँधी पारायण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

8 राष्ट्रीय समृद्धि का महाभियान

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के लोगों पर दोहरा दायित्व आ गया। एक तरफ स्वतंत्रता की रक्षा करनी थी तो दूसरी ओर समृद्धि के लिए प्रयत्नों के अभियान की आवश्यकता थी। सभी के प्रयत्नों से देश का आर्थिक विकास हुआ। श्री मिश्र ने 'मानवेन्द्र' महाकाव्य में देश की आर्थिक समृद्धि के लिए देशवासियों का आह्वान किया है—

"हम स्वतंत्र हैं, हम पराश्रय—ताप तप शीघ्र मिटाना है।
हमको हर आलसी दुखी को—जीवन ज्ञान सिखाना है।।
बिना कर्म के सिद्धि न मिलती, भाग्य बदल दो हाथों से।
सुरभित स्वर्ण मूर्ति बन जाये—बरस पसीनों माथों से।"[164]

अंग्रेजों की दासता से देश जब मुक्त हुआ तो सत्ता भारतीयों के अधिकार में आई। नेहरू जी के नेतृत्व में सरकार गठित हुई। महात्मा गाँधी ने नेहरू जी को

आशीर्वाद दिया और कहा कि ऐसा शासन किया जाय जिससे देश समृद्ध हो—

'ऐसा देश बनाओ जिसमे प्यासा रहे न कोई।
ऐसे राज्य करो नर नाहर, आँसू बहे न कोई ॥
जनता के हित जनता के धन, सुख के सुन्दर क्षण दो।
जनता के राजा! जनता को—राम और लक्ष्मण दो।"[165]

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'रामराज्य' महाकाव्य मे रामराज्य की प्रशासनिक सुव्यवस्था का चित्रण विस्तारपूर्वक किया है। रामराज्य की ऐसी खुशहाली भारत की वर्तमान व्यवस्था के लिए भी अपेक्षित है। यथा—

"यही राज्य का सुप्रबन्ध था, बनी योजनाएँ भी ऐसी
भूले लोग कि दैहिक दैविक भौतिक तापो की गति कैसी।
सभी सुखी थे और सबों को सब प्रकार का सुख पहुँचाना
यह ही तो आदर्श राज्य का, राम राज्य ने जो पहिचाना।"[166]

नेहरू जी ने देश के विकास हेतु योजनाबद्ध उत्पादन की व्यवस्था प्रारम्भ की थी जिससे देश की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। यथा—

"बनने लगे बाँध भारत मे, होने लगी तपस्या।
श्रम के हाथो नई जिंदगी—बोने लगी तपस्या ॥
पानी मे बिजली को खीचा, सूरज से ज्वाला को।
हवा बाँध कर उड़े गगन म, मान मिला माला को ॥"[167]

नेहरू जी के प्रोत्साहन से देश का राष्ट्रीय विकास हुआ। कविवर मिश्र जी के शब्दो मे—

"पढ अनन्त के गीत प्रकृति मे, मुखर हुई युग-भाषा।
मानवेन्द्र के मुख से निकली—जन जन की अभिलाषा ॥
धन्धे बढने लगे देश मे—यत्नो की गति विधि से।
बडे बडे उद्योग खुल गये—यहाँ वहाँ की निधि से ॥"[168]

प्राचीन भारत धनधान्य से परिपूर्ण था। स्वतन्त्र भारत मे भी समृद्धि का महाभियान इसी परिप्रेक्ष्य मे अभिप्रेत माना गया है। महाकाव्यकारो ने अतीत की प्रेरणाओ के अनुरूप नये भारत के नवनिर्माण का सकल्प दुहराया है—

"भारतीय मानव समाज था
पुष्पोद्यान मनोहर,
रग रग के सुमन खिल थे
जिसमे सुन्दर सुन्दर।

+ + +

कृषक नारियों से ग्रामो मे
लालित पालित होकर,
हरे भरे खेतो मे भारत
था निरन्तर खेलता निरन्तर।"[169]

राष्ट्र की समृद्धि की मगल कामना कविवर पन्त ने 'लोकायतन' महाकाव्य मे स्थल स्थल पर की है। महाकाव्य मे हरि की बहन सिरी (श्री) के माध्यम से कवि ने सामूहिक स्वर म देश वन्दना कराते हुए समृद्ध भारत की सकल्पना इस प्रकार की है—

"कर्म भूमि, जय जनपद भारत,
जन मन हो भू रचना मे रत
तू ही जग, मन जनगण जीवन,
तुझ मे हो सब लोग एक मत !
+ + +
हम नव भारत की बालाएँ
मुक्ति चेतना की ज्वालाएँ,
शील, स्नेह, सेवा मालाएँ,
राष्ट्र भक्ति म हो जन परिणत।"[170]

इस प्रकार भारत की एक स्वतन्त्र राष्ट्र की अभिवन्दना प्रत्येक महाकाव्यकार ने की है।

9 भौगोलिक एकता की भावना

प्रकृति ने भारत राष्ट्र को भौगोलिक रूप म विशिष्टता प्रदान की है। उत्तर मे पर्वतराज हिमालय का लगभग दो हजार मील लम्बाई मे विस्तार है। पश्चिम और दक्षिण मे अरब सागर हिन्द महासागर तथा बगाल की खाडी से परिसीमित है। यह नदियो का देश है जिसमे हरे-भरे मैदान धन-धान्य से परिपूर्ण रहते हैं। हजारों-हजार वर्षों से यहाँ के निवासी भौगोलिक एकता का अनुभव करते रहे हैं। इस प्रकार राष्ट्र को एकता के सूत्र म बाँधे रखने म भौगोलिक एकता की महत्वपूर्ण भूमिका है। जो देश अनेक नदियो स सिंचित होता रहे, जिस देश के खनिज पदार्थ उसके निवासियों की आवश्यकताओ की पूर्ति करें वह देश भावात्मक रूप स एक होगा, यह मान्यता महाकाव्यकार श्री मिश्र की है—

"सेतु बन्ध से सह्य-मलय से अचल विन्ध्य से
ख्यात पचनद अमर सिन्धु से सप्त सिन्धु से।
पूर्व सिन्धु से ऊपर सिन्धु तक तुहिनाचल से
ब्रह्मपुत्र नद शोण तथा सागर के तल से
है जिसका विस्तार महान् यहाँ नही है पाप स्थान।"[171]

राम की लका विजय ने तत्कालीन भारतीय आर्य राष्ट्र को जो गौरव प्रदान किया, उससे वर्तमान भारत की अखडता को निश्चय ही शक्ति प्राप्त हुई है—

"अवधपुरी से लका तक जो,
बनी एक पथ की रेखा,

जिससे होकर आर्य-सभ्यता
ने दक्षिण जन-पद देखा।"

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक सीमा इसी भावना से निर्धारित की थी—

"काबुल से बंगाल सिन्धु तक
विस्तृत तथा व्यवस्थित,
किया मौर्य साम्राज्य हिन्द में
चन्द्रगुप्त ने निर्मित।"[173]

'विदेह' महाकाव्य में द्राविड जन के अभिनन्दन का उत्तर देते हुए राजा जनक भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक एकता को प्रशस्ति करते हैं—

"अभिनन्दन के उत्तर में कहा जनक ने—हे दक्षिणी बन्धु।
उत्तर की महिमा दक्षिण से, दक्षिण की महिमा उत्तर से
नगराज हिमालय करता गर्व उदधि पर ही
औ' उदधि हिमालय के गीतों को सुनता है
जाह्नवी सिन्धु औ' ब्रह्मपुत्र का प्रेम कहाँ झरता जाकर।"[174]

कैकेयी द्वारा युवराज रामचन्द्र को राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए ही वनवास दिया गया था। वन में जाकर उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए दक्षिण भारत के खण्डित राज्यों को आर्य राष्ट्रों के साथ संयुक्त किया। 'रामराज्य' महाकाव्य में राष्ट्रीय एकता की इसी भावना को राम के मुख से कहलाया गया है—

"बड़ी बात है वह, मुझको तो इस पल है भारत का ध्यान।
भरत यशस्वी हो, भारत का सर्वोदय मय हो उत्थान।
रची इकाई इसकी अद्भुत स्वयं प्रकृति ने अपने हाथ।
रत्नाकर से चरण अलंकृत हिम किरीट से सज्जित माथ।।"[175]

सम्राट हर्ष के समय में भी भारत भौगोलिक रूप से एक राष्ट्र था। हिमालय से लेकर सागर तक भारत की अखंडता निर्बाध थी। 'बाणाम्बरी' महाकाव्य के कवि पोद्दार रामावतार अरुण ने तत्कालीन भारत की भौगोलिक एकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है—

"बाह्य स्थानमंडप में रण विचार विनिमय
सम्राट युवक श्रीहर्ष रुद्र रघु-सा निर्भय
हिमगिरि से सागर तक भारत, भौगोलिक सत्
प्राचीन शास्त्र के दृढ़ प्रमाण से सब अवगत।"[176]

भारत राष्ट्र की भौगोलिक संरचना निश्चय ही राष्ट्रीयता की भावनाओं की अभिवृद्धि में सहायक है। चारों धामों की तीर्थ-यात्रा के पीछे भी राष्ट्रीयता की चेतना विद्यमान है। समीक्ष्य महाकाव्यों में इस चेतना को संरक्षित करने का प्रशस्य उपक्रम हुआ है।

10 जातीय एकता

हजारों वर्षों से इस देश में अनेक जातियाँ निवास करती रही हैं। देव, असुर, आर्य अनार्य, द्रविड शक, सिदियन, हूण, मुसलमान, ईसाई, मंगोल आदि जातियों के लोग आये और इस देश में ही बस गये। सहिष्णुता का गुण विभिन्न जातियों के लोगों को इस देश की भूमि से बाँधे हुए है। कई बार जातीय संघर्ष भी हुए हैं, किन्तु अन्त में मिलकर रहने के लिए सभी ने संकल्प व्यक्त किया है। वर्तमान काल में हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष के परिणामस्वरूप भारत के दो टुकड़े हो गये। किन्तु भारत के नेताओं ने जातीयता के आधार पर राष्ट्र का निर्माण नहीं किया है। आज भी इस देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि कई जातियों के लोग परस्पर मिलकर रहते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर महाकाव्यों में जातीय एकता की भावना को पर्याप्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों की जातीय एकता को नष्ट करना चाहा था किन्तु झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने दोनों जातियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तलवार उठाई थी —

' भूलें हिन्दू जप, तप, व्रत को
मुसलिम रोजा और नमाज।
मसजिद में सूखे पैगम्बर
मन्दिर में रोएँ सुर राज।
तब वह कहती थी हाथों में
लेकर नागिन सी तलवार।
अरिदल का उर चीर-चीर कर
हरना है भू का यह भार।'[177]

देश के विभाजन से पूर्व गाँधीजी ने जिन्ना को बहुत समझाया कि जातीय पृथकता के आधार पर पाकिस्तान की माँग न की जाय किन्तु उनकी जिद से देश विभाजन हुआ। श्री रघुवीर शरण मिश्र के महाकाव्य 'जननायक' में गाँधीजी के हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रयत्न सराहनीय हैं—

'हम मनुष्य हैं, मनुष्यता से—मीठे और महान् रहेंगे।
हिन्दू-मुसलिम क्या चिड़िया है ! हम सब ही इंसान रहेंगे।
बने एक मिट्टी से हम सब मिट्टी में ही मिल जायेंगे।
ईश्वर खुदा एक ही तो है, जुदा न उनको कर पायेंगे।"[178]

इस देश के कई जातियों के लोग अफ्रीका में जाकर बस गये। वहाँ अंग्रेज लोग उनको 'कुली', 'सामी' कहकर अपमानित करते थे। गाँधीजी जब अफ्रीका गये तो उन्हें इस स्थिति का बोध हुआ। सभी भारतीयों को एकत्रित करके उन्होंने सम्बोधित किया है। श्री रघुवीरशरण मिश्र के 'जननायक' महाकाव्य की इन पंक्तियों में जातीय एकता के उद्गार व्यक्त हुए हैं—

"यह हिन्दू, वह मुसलमान क्या ! कौन पारसी ! क्या ईसाई।
मानव मानव सभी एक हैं, सब आपस में भाई भाई॥

देख रहे हो यहाँ तुम्हारा—कौडी भर सम्मान नहीं है।
गोरे तुम्हें 'कुली' कहते हैं, यह थोडा अपमान नही है।"[179]

'जगदालोक' के कवि ठाकुर गोपालशरण सिंह ने भी धर्म और जातीय एकता को देश की विशिष्टता घोषित किया है—

भारत मे हैं धर्म अनेक,
पर सबका है मूल विवेक,
और ध्येय है सबका एक,
भारत तरु के हो हैं पुष्प
हिन्दू-मुसलिम सिक्ख अशेष;
सबसे प्रिय है अपना देश।"[180]

औरगजेब की धर्म और जातीय कट्टरता के विरुद्ध गुरु गोविन्दसिंह ने इस देश मे जातीय एकता स्थापित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए थे। श्री उदयभानु हस के 'सत सिपाही' महाकाव्य की इन पक्तियो म जातीय एकता के ही स्वर व्यजित हुए हैं—

"सदा सच्चिदानद-निरत मैं सर्वजगत का सुख अभिलाषी।
हिन्दू-मुसलिम, राम-रहीम, समान मुझे है काबा-काशी।
मुझे किसी भी जाति-धर्म भाषा से किंचित द्वेष नहीं है।
राज्य स्थापना मेरे जीवन का निश्चित उद्देश्य नही है।"[181]

जातीय ऐक्य का उद्बोधन कालिदास, गुरु गोविन्दसिंह, महाभारती, मानवेन्द्र आदि महाकाव्यो मे भी यथा प्रसग दृष्टव्य है।

11 सास्कृतिक परम्पराओ का गौरवान्वित परिप्रेक्ष्य

सस्कृति किसी भी जाति अथवा समाज की प्राणवतता की प्रतीक है। जातीय जीवन की अभिव्यक्ति उसके सास्कृतिक स्वरूप के ही माध्यम से होती है। राष्ट्रीय भावनाओ के प्रचार-प्रसार एव स्थायित्व मे सास्कृतिक तत्वो का विशिष्ट योगदान होता है। पाकिस्तान ने अपने पूर्वी भाग के लोगो की सास्कृतिक एकता को नष्ट करना चाहा था, किन्तु इस सघर्ष मे सास्कृतिक रक्षा हेतु बगला देश का उदय हुआ—

"हम सत्ता के लिए कभी
सस्कृति न छोड सकते हैं,
इसे छोड कर हम बगाली
जी न कभी सकते हैं।"[182]

हिमाचल पर्वत भारतीय राष्ट्र की सभ्यता और सस्कृति का सदा से गौरव रहा है। भौगोलिक एकता बनाये रखने के लिए हिमाचल प्रेरणा का स्रोत रहा है। 'जगदालोक' महाकाव्य की ये पक्तियाँ हिमालय को राष्ट्रीय एकता का गौरवमय प्रतीक सिद्ध करती हैं—

"आर्य सभ्यता के गौरव का
है प्रतीक वह निश्चित,

देवलोक में राजदूत सा
है अवनी में सस्थित।"[163]

गुरु गोविन्दसिंह ने धर्म वैषम्य को समाप्त किया और सांस्कृतिक एकता की भावना प्रसारित करके राष्ट्रीय एकता को प्रसारित करने का प्रयास किया था—

"छोड हृदय की असित विषमता,
और राममय असद् विचार।
जन्म-भूमि के सब सपूत हैं,
समझ करें आपस में प्यार॥[164]

इस देश म अनेक जातियो, धर्मों एव सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, जिनकी भिन्न सस्कृति है। फिर भी भिन्नता मे एकता के दर्शन होते हैं। जाति धर्म, भाषा, सम्प्रदाय आदि की भिन्नता के रहते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। उत्तर-दक्षिण की दूरियाँ भी राष्ट्रीय एकता को मिटा नहीं सकी। कवि श्री पत का 'लोकायतन' राष्ट्रीय एकता के स्वरों को उभारता है—

"बहु प्रान्तो की वाणी का
जन मानस हो रस-सगम,
सांस्कृतिक दैन्य की खाई
फिर पटे युगों की दुर्गम!
उत्तर-दक्षिण छोरों पर
नव सेतु बध हो निर्मित
इस जन विशाल भू मे हो
राष्ट्रीय एकता प्रतिष्ठित।"[165]

लका विजय के बाद राम अयोध्या लौटे। राम की इस विजय से उत्तर और दक्षिण भारत एक ही राष्ट्र के रूप म सगठित हुआ। राम के सिंहासनारूढ होने से समस्त भारतवर्ष एक सूत्र म बध गया। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'रामराज्य' महाकाव्य म भारत को एक राष्ट्र माना है। कवि की धारणा है कि इस राष्ट्र की एक सस्कृति ही उसे सुदृढता प्रदान करेगी—

"स्वदेशी राष्ट्र का अर्थ ऐसा भारतवर्ष है
कर्म भूमि कि जो ख्यात, देव है, भोग-भूमियाँ
तभी राष्ट्रीयता होगी सुदृढा इस देश की
जब भिन्न जनो मे भी, एक सस्कृति-साम्य हो।"[166]

वैदिक काल से लेकर वर्तमान युग तक भारत भौगोलिक एव सास्कृतिक रूप से एक राष्ट्र रहा है। राष्ट्रीय एकता की धारा अबाध गति से प्रवाहित रही है। 'बाणाम्बरी' के कवि ने भी इसकी पुष्टि की है—

"वैदिक-ब्राह्मण-बौद्ध-जैन सस्कृति-रसप्लावित धरणी
किरण-काव्यमय कमल पत्र-सज्जित सुनील पुष्करिणी

व्याप्त विविधता किन्तु एकता की केन्द्रित अभिलाषा
दिव्य ज्ञान से पूर्ण महासागर सी भारत भाषा।"[187]

राम रावण युद्ध से पूर्व हनुमान, अगद आदि ने अनेक प्रयत्न किये कि रावण सीता को लौटा दे, किन्तु अभिमानी रावण ने अपने भाई विभीषण की बात भी न मानी। फलत राम ने नर वानर सेना एकत्रित करके लका पर आक्रमण किया। इस पर राक्षस नगरी मे हाहाकार मच गई। लका के अनेक राक्षस पीठ दिखाकर भागने लगे और रावण को ही दोष देने लगे कि अभिमानी रावण स्वय लका का नाश कर रहा है। तब रावण ने बढती हुई सेना को रोकना चाहा। 'आजनेय' महाकाव्य के रचयिता कविवर डॉ० दयाकृष्ण विजय ने रावण के असफल प्रयास का कारण उसकी अहमन्यता बताया है। कायर, दम्भी और कपटी लोग राष्ट्र के गौरव की रक्षा नही कर सकते—

"होता गौरव स्वाभिमान कब
ध्येय हीन जन भीडो मे,
अर्थ-क्रीत-मन, डूबा रहता
सदा स्वार्थ के नीडो मे।
राष्ट्र प्रेम, सस्कृति गौरव ही
चुनता पथ बलिदानो का
मातृ भूमि-रक्षा हित करता
स्वागत रण अभियानो का।"[188]

विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को राजा दशरथ से माँग कर ले गये थे, ताकि उनकी साधना पूरी हो सके और राक्षसो का उत्पात समाप्त हो सके। दूरदर्शी विश्वामित्र दोनो राजकुमारो (राम लक्ष्मण) को उचित शस्त्र और शास्त्र विद्या सिखलाई। उसी समय विदेह के राजा जनक की पुत्री सीता का स्वयवर हुआ। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर इस स्वयवर मे सम्मिलित होने गये। रास्त म महर्षि ने दोनो राजकुमारो को भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक एव सास्कृतिक एकता के बारे मे जानकारी दी। ऋषि विश्वामित्र राम लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"बढता जाता लकापति रावण का प्रभाव
करना है असुरो से भारत का अब बचाव
राक्षसी सभ्यता ऋषियो को स्वीकार नही
भारत को कभी अभीष्ट तमस का ज्वार नही
मैं एक राष्ट्र की करता हूँ कल्पना सबल
है गूँज रहा मेरे मन म गणतत्र विमल
सागर से महा हिमालय तक भारत विशाल
झुकता स्वदेश के सत्य चित्र पर नित्य भाल।"[189]

व्यक्ति राष्ट्र के सम्मान की रक्षा हेतु स्वय प्राणो का बलिदान कर देता है, यदि उसमे स्वदेश प्रेम की भावना विकसित हो। 'आजनेय' महाकाव्य मे डॉ० दया-

कृष्ण विजयवर्गीय ने राष्ट्रीय संस्कृति पर गौरव अनुभव करने वाले के लिए—

"राष्ट्र-प्रेम, संस्कृति-गौरव ही
चुनता पथ बलिदानों का,
मातृभूमि-रक्षा हित करता
स्वागत रण अभियानों का।"[190]

राष्ट्रीय संस्कृति के अनेकानेक सन्दर्भ अन्य समीक्ष्य हिन्दी महाकाव्यों में भी समुपलब्ध हैं। ये सभी कथ्य सन्दर्भ सांस्कृतिक चेतना के विशिष्ट आयामों को उद्घाटित करने के साथ-साथ महाकाव्यकारों की रचनाधर्मिता की उत्कृष्टता को उजागर करते हैं।

12. धार्मिक एकता की भावना

भारत विभिन्न जातियों और धर्मों का देश है। आर्यों के समय से ही इस देश में अनेक मत-मतान्तर और धर्म पनपते रहे हैं, किन्तु जाति और धर्म की अनेकता उनकी भावात्मक एकता को कम नहीं कर सकी। अपनी धार्मिक, नैतिक एकता की नींव पर आधृत यह देश अखण्ड आर्यावर्त के नाम से विख्यात रहा है। पण्डित लक्ष्मीचन्द्र मिश्र ने 'शक्ति शंखनाद' महाकाव्य में धार्मिक एकता को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"सतत धर्म सनातन था जहाँ
अचल नीति अखण्डित राज्य है
यह सकानन-सागर-भूधरा
विदित आर्यधरा अविभाज्य है।"[191]

साम्प्रदायिक एकता राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधती है। इसलिए महात्मा गांधी ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए आजीवन प्रयत्न किये—

"करने लगे हरिजनों का वे
सेवा कार्य निरन्तर
हिन्दू मुसलिम ऐक्य प्रवर्धन
करने लगे कुशल कर।"[192]

औरंगजेब की धार्मिक एवं जातीय कट्टरता के कारण भारतीय राष्ट्र की एकता को बहुत बड़ा धक्का लगा था। सिक्ख गुरुओं को भी इसलामी धार्मिक कट्टरता का कटु फल भोगना पड़ा था। औरंगजेब ने गुरु गोविन्दसिंह को इसलाम धर्म कबूल करने के लिए विवश किया किन्तु गुरु गोविन्दसिंह ने धार्मिक एकता पर ही बल दिया—

"बोले गुरु मानस का शमित अगार जगा
शाह ! इसलाम और हिन्दू मत एक है।
केवल रहीम-राम के ललाम धाम तक,
जाने के जहान में सुपन्थ ही अनेक है।"[193]

गुरु गोविन्दसिंह ने आजीवन धार्मिक एवं जातीय कट्टरता के विरुद्ध संघर्ष किया तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास किया। यथा—

"एक धर्म ज्ञान था, एक स्वाभिमान था।
एक ही निशान था, एक जाति ज्ञान था।"[194]

एकता प्रगति और शक्ति का प्रतिफलन होती है। यह धार्मिक एकता संस्कृति के विकास में सहायक होती है। डॉ० गोपालशरण सिंह ने 'जगदालोक' में हिन्दू और मुसलमानों की जातीय एवं धार्मिक एकता का रूपांकन किया है—

"हिन्दू और मुसलमानो के
रुधिर हो गये मिल कर एक
हुआ भारतीयो के मन मे
राष्ट्र भावना का उद्रेक।"[195]

श्री पन्त ने भारत को अनेक धर्मों का समन्वय स्थल बताया है—

"भारत सब धर्मों की भू
सबका हो यहाँ समन्वय
प्रिय राम रहीम उभय ही
ईश्वर के नाम, न सशय।"[196]

महात्मा गांधी मानवतावादी जीवन मूल्यो मे आस्था रखते थे। उनके लिए हिन्दू-मुसलमान या ईसाई सभी समान थे। धार्मिक एकता उनके सिद्धान्तो का निचोड़ कही जा सकती है। सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ने से पूर्व गांधीजी ने इर्विन के पास सन्देश भिजवाया कि नमक कर कानून वापस लिया जाय। उन्होंने कहा कि—

"मैं हूँ सत्य अहिंसावादी मनसा वाचा और कर्म से
मेरी नीति समक्ष सत्य है, विमुख नही हूँ मनुज धर्म से
अंग्रेजो से प्यार मुझे है, लेकिन हम पर राज्य शाप है।
सत्य निडर होकर कहता हूँ, सत्य न कहना महापाप है।"[197]

देश विभाजन के समय हिन्दू-मुसलमानो मे धर्म और जाति के नाम पर सघर्ष हुए किन्तु गांधीजी ने जातीय-धार्मिक एकता स्थापित करने का ही प्रयास किया था। कविवर पन्त के शब्दो में—

"गीता कुरान दोनो ही
जो हम न सुन सकें सविनय
तो व्यर्थ प्रार्थना करना—
मेरा सीधा सा आशय।"[198]

धार्मिक एकता की भावना भी अन्ततः सांस्कृतिक एकता को सुदृढ करती है। राजनीतिक दृष्टि से दगे-फिसाद अधिकतर धार्मिक कट्टरता या असहिष्णुता का ही परिणाम होते हैं। अस्तु, महाकाव्यकारो ने एकता के विविध आयामों का समाहार करके राष्ट्रीयता की भावना को ही सपुष्ट और समृद्धिशाली किया है।

निष्कर्ष—जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा और संस्कृति की भिन्नताओ के कारण कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता रहा है कि भारत कभी भी एक राष्ट्र नहीं रहा है। किन्तु वैदिक युग से लेकर रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति, बौद्ध, गुप्त, हर्ष से लेकर आज

तक भारत का राष्ट्रीय स्वरूप (उसकी भावात्मक एकता) अखण्डित रही है। हाँ, कभी-कभी इसकी भौगोलिक सीमा मे फेर-बदल अवश्य हुआ है। उत्तर मे पर्वतराज हिमालय देश के गौरव का प्रतीक है, सिंधु, गगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, कावेरी, गोदावरी, नर्मदा, ताप्ति आदि नदियो से सिंचित इसकी हरी-भरी धरती, पूर्व मे बगाल की खाडी, पश्चिम मे अरब सागर और दक्षिण मे लहराते हुए हिन्द महासागर के साथ प्रत्येक भारतीय की आत्मा जुडी हुई है। भिन्नता मे एकता की अनुभूति ही भारतीय राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधे हुए है। स्वतन्त्रता आन्दोलन राष्ट्रीय भावना के बल पर ही चलाया गया था। स्वातन्त्र्योत्तर भारत ने तीन बार विदेशी आक्रमणो का जिस तत्परता से मुकाबला किया उससे स्पष्टत परिलक्षित हुआ है कि भारत एक राष्ट्र है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के सामान्यत हिन्दी के सभी महाकाव्यो मे राष्ट्रवादी चेतना अपनी समस्त उदात्तता के साथ अभिव्यजित हुई है। स्वदेश गौरव, राष्ट्र-भक्ति, स्वर्णिम अतीत का गौरव गान, स्वातन्त्र्य संघर्ष, भौगोलिक एकता, धार्मिक सास्कृतिक एकता आदि सभी प्रवृत्तियो को युगस्रष्टा प्रेमचन्द, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र, विदेह, मेधावी, सत सिपाही, सरदार भगतसिंह, कैकेयी, झाँसी की रानी, मानवेन्द्र, निराला, कालिदास, वीरायन, जननायक, रामराज्य, भक्ति शखनाद, गुरु गोविन्दसिंह, जगदालोक, लोकायतन, देवपुरुष गाँधी, अरुण रामायण आदि महाकाव्यो मे देखा जा सकता है।

पाद टिप्पणी

1. विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 1
2 भार्गव आदर्श शब्द कोश, पृ० 553
3 आप्टे—सस्कृत इगलिश डिक्शनरी, पृ० 802
4. वेब्स्टर्स न्यू डिक्शनरी, पृ० 498
5 प्रकाशचन्द्र गुप्त—साहित्य धारा, पृ० 80
[illegible] डॉ० सुधीन्द्र—हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० 37
7 डॉ० सुधाकर शकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता मे राष्ट्रीय भावना, पृ० 21
8 डॉ० विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 5
9. डॉ० विनयमोहन शर्मा—साहित्य, शोध और समीक्षा, पृ० 4
10 स० कालिका प्रसाद—बृहत् हिन्दी कोश, पृ० 1100
11 "A nation is [illegible] historically evolved, stable community of language, territory, economic life and Psychological make-up manifested in a community of culture "
—J B Stalin –Marksism and the question of Nationlitics, P [illegible]
12 डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० 11
13 J K. Bluntschle—Theory of the Modern State (3rd Ed), P 90
14. J.W. Burgess—Political Science and constitutional law, (Vol. 1), P 1
15 Phillimore—International Law (3rd Ed), (Vol. I), P. 82
[illegible] विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 9

17 डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना पृ० 22

18 "Nationality is mainly a Psychological feeling, it is a belief on the partofils members that they belong together, that they posses common pride or common grievances that they have a common heritage and common traditions '

—R G Gettle-Political Science, (3rd Ed 1954), P 54

19 डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० 10

20 R N Gilchrist—Principles of political science (6th Ed), P 26

21 J S Mill—Considerations of Representative Government (1861), P 287

22 Ed Edwin R A Seligman—Encyclopedia of the social sciences, (Vo III), P 231

23 Ibid, P 249

24 J Huxley—Race in Europe P 3

25 नेत्र पाण्डे—नागरिक शास्त्र दिग्दर्शन, पृ० 134

26 "Nationalism is the child of French Revolutions "

—G P Gooch—Studies in Modern History, P 217

27 Nationalism is first and foremost a state of mind '

—Hans Kohn—The idea of Nationalism, P 10-11

28 डॉ० सुधीन्द्र—हिन्दी कविता में युगान्तर (प्रथम संस्करण), पृ० 237

29 "Nationalism may be called a religion because it is rooted in the deepest instincts in man In mocern times its has become a faith as complex and compelling any religious creed for which men have died or conpuered *

—Christopher Llyod—Demoracy And its Rivals P 3

30 डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा— गांधी का राजनीतिक दर्शन और सर्वोदय, पृ० 153

31 The Encyclopedia Americana (Vol 19) P 749

32 Webster s New International Dictionary, P 1629

33 डॉ० सुभाष कश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 274 275

34 Don Sturzo—Nationalism and Internationalism, P 4

35 R A Seligmen—Encyclopaedia of Social Sciences, P 248

36 Frederick Hertz—Nationality in History and Politics, P 2

37 "Socialists usually were concordant that nationalism was a smoke screen for capitalist interests, or a means for deverting the people from the struggle for socialism '

F Hertz—Nationality in History and Politics, P 4

38 "Race, Intinct, language, Religion, Geography and Administration all go to make up the sentiment of Nationalism But the most important factor is an amalgam of all these—Traditions "

—Christopher Llyod—Democracy And its Rivals, P 19

39 डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—राजनीति और दर्शन, पृ० 23

40 डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—राजनीति और दर्शन, पृ० 23
41. विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 9-10
42. डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 29
43. डॉ० सुषमा नारायण—भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति, पृ० 4
44. वही, पृ० 4
45. सत्यकेतु विद्यालंकार—राजनीति शास्त्र, भाग-2, पृ० 462-468
46 डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय का विकास, पृ० 10
47. डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 36-37
48. वही
49 डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद (सन् 1957), पृ० 48
50 डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० 22
51 डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना पृ० 38
52. यजुर्वेद पूर्व अध्याय 9/23
53 ऋग्वेद 4/42/1
54. यजुर्वेद उत्तर अध्याय 28-22
55. अथर्ववेद 5/1/7
56 अथर्ववेद कांड 12 सूक्त 1/12
57 अथर्ववेद 5/1/7
58 डॉ० के० के० शर्मा—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, पृ० 28
59. डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 41
60. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

—कठ उपनिषद्, अध्याय प्रथम, वल्ली 3/14/

61 "ॐ सहनाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै।"।

—कठ उपनिषद् दूसरा अध्याय वल्ली 6।1/9

62 महर्षिक सूक्तावलि, त्याग-प्रसंग, पृ० 106
63. विष्णु पुराण, अ० 2, अ० 3, श्लोक 24
64 "If there was country that was made for unity—It was India"

—M. Ruthna Swami—The making of the state (Ed 1932) P. 439

65. रामधारीसिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 52
66 "The only Vehicle of Hindu theology, philosophy, law and mythology, the only mirror in which all the creeds opinions, customs and usages of the Hindus are faithfully reflected"

—Monier Williams—Hinduism, P 13

67. डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० 42
68 विष्णु पुराण अ० 2, अ० 3, श्लोक 1
69 "The whole country was politically unified and felt the stirring of new life A newly roused national spirit expressed it self in different spheres of thought and action"

—R. K Mukerjee—The Gupta Empire (2rd Edition), P 144

106 सुभाषचन्द्र, पृ० 23
107 गुरु गोविन्दसिंह, पृ० 12
108, बीरायन पृ० 27
109 जगदालोक, पृ० 6
110 वही, पृ० 116
111 मानवेन्द्र, पृ० 16
112 वही, पृ० 16
113 शक्तिशखनाद, पृ० 22
114 लोकायतन, पृ० 170
115 वर्द्धमान, पृ० 37
116 बीरायन, पृ० 27
117 सरदार भगतसिंह, पृ० 78
118 जगराज, पृ० 9
119 रामराज्य, पृ० 21
120 मानवेन्द्र, पृ० 714
121 रमेशचन्द्र शास्त्री—देवपुरुष गांधी, पृ० 10
122 वही, पृ० 20
123 मानवेन्द्र, पृ० 139
124 लोकायतन, पृ० 164
125 सत सिपाही, पृ० 33
126 अरुण रामायण, पृ० 234
127 सरदार भगतसिंह, पृ० 272
128 बीरायन, पृ० 24 25
129 निराला, पृ० 190
130 लोकायतन, पृ० 50
131 बीरायन, पृ० 59
132 लेनिन-मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा समाजवादी यथार्थवाद, पृ० [illegible]
133 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 111
134 देवपुरुष गांधी, पृ० 86
135 मानवेन्द्र, पृ० 182
136 वही, पृ० 316
137 सुभाषचन्द्र, पृ० 50
138 झाँसी की रानी, पृ० 94
139 लोकायतन पृ० 107
140 सरदार भगतसिंह, पृ० 309
141 प० जवाहरलाल नेहरू—हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० [illegible]
142 मानवेन्द्र, पृ० 459
143 सुभाषचन्द्र, पृ० 69 70
144. उर्मिला पृ० 540
145 सत सिपाही, पृ० 168
146 मेधावी, पृ० 232
147 जगदालोक, पृ० 20

148. वही, पृ॰ 115
149. जगदालोक, पृ॰ 263
150. मानवेन्द्र, पृ॰ 583
151. लोकायतन, पृ॰ 86
152. शक्तिशखनाद, पृ॰ 121
153. सत सिपाही—पचम सर्ग, पृ॰ 105
154. श्री गुरु गोविन्दसिंह—आठवाँ सर्ग, पृ॰ 80
155. वही, पृ॰ 102
156. युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ॰ 111
157 सरदार भगतसिंह, पृ॰ 268
158. जगदालोक, पृ॰ 143
159. सुभाषचन्द्र, पृ॰ 70
160. सरदार भगतसिंह, पृ॰ 99
161 सुभाषचन्द्र, पृ॰ 97
162. सरदार भगतसिंह, पृ॰ 281
163. जननायक, पृ॰ 361
164. मानवेन्द्र, पृ॰ 576
165. वही, 528
166. रामराज्य, पृ॰ 143
167. मानवेन्द्र, पृ॰ 561
168. वही, पृ॰ 566
169 जगदालोक, पृ॰ 9
170. लोकायतन, पृ॰ 69-70
171. शक्तिशखनाद, पृ॰ 231
172 उर्मिला, पृ॰ 520
173. जगदालोक, पृ॰ 26
174. विदेह, पृ॰ 256
175. रामराज्य, पृ॰ 21
176. बाणाम्बरी, पृ॰ 256
177. झाँसी की रानी, पृ॰ 148
178. जननायक, पृ॰ 421
179. वही, पृ॰ [illegible]
180. जगदालोक, पृ॰ 277
181. सत सिपाही, पृ॰ 107
182. बंगला देश, पृ॰ 10
183. जगदालोक, पृ॰ 1
184. गुरु गोविन्दसिंह, पृ॰ 76
185. लोकायतन, पृ॰ 166
186. रामराज्य, पृ॰ 119
187. बाणाम्बरी, पृ॰ 306
188. आग्नेय, पृ॰ 129
189. अरुण रामायण, पृ॰ 38-39

190. आग्नेय, पृ० 129
191. शक्ति शंखनाद, पृ० 2
192. जगदालोक, पृ० 210
193. गुरु गोविन्दसिंह, पृ० 56
194. वही, पृ० 111
195. जगदालोक, पृ० 90
196. लोकायतन, पृ० 217
197. जननायक, पृ० 249
198. लोकायतन, पृ० 128

6
गांधीवादी चेतना

गांधीवाद की पृष्ठभूमि

गाधीजी का सक्षिप्त जीवन-परिचय

मोहनदास गाधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को पोरबन्दर मे हुआ था। आपके पिता कर्मचन्द गाधी राजकोट के दीवान थे। बालक मोहनदास गाधी की प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर और राजकोट मे हुई। आपके माता पिता धर्म-परायण, न्यायप्रिय एव सत्यनिष्ठ थे। मोहनदास गाधी पर उनके माता पिता का गहरा प्रभाव था। सच्चाई, ईमानदारी, सेवा भावना, लगन आदि के गुण उनमे पैतृक देन है। उनका विवाह तेरह वर्ष की अल्पायु मे ही हो गया था। जब गाधीजी सोलह वर्ष के थे तब उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। 4 सितम्बर 1888 को आप बैरिस्टरी की पढाई करने विलायत गये। इगलैण्ड मे कानून की पढाई करते समय उन्हे अनेक खट्टे-मीठे अनुभव हुए, फिर भी उन्होंने अपने खान-पान, रहन-सहन, आचार व्यवहार को वैष्णव ही रखा अर्थात् मास-मदिरा, अण्डे आदि का सेवन उन्होने नही किया और उन्होने भारतीय शिष्टता का निर्वाह करते हुए अध्ययन किया। 12 जून सन् 1891 को महात्मा गाधी बैरिस्टर बन कर भारत लौटे। उसके पश्चात् बम्बई हाई कोर्ट मे वकालात करने लगे।

प्रारम्भ मे गाधीजी वकालत मे जम नही सके, उन्हें इस पेशे से निराशा हुई। सन् 1893 मे अफ्रीका के एक हिन्दुस्तानी व्यापारी सेठ अब्दुल्ला के मुकदमे के सिलसिले मे उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाना पडा। दक्षिण अफ्रीका मे पहुँचकर गाधीजी को रगभेद का शिकार होना पडा, उन्होने अग्रजो के अत्याचार के विरुद्ध भारतीयो का सगठन बनाया और उनमे जागृति उत्पन्न की। दक्षिण अफ्रीका का प्रवास गाधीजी को एक नया मोड दे सका। दक्षिण अफ्रीका के टालसटाय फार्म मे रह कर गाधीजी ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अनेक प्रयोग किये। सन् 1901 मे वे भारत लौटे और तब से काग्रेस के साथ भारत की आजादी के लिए प्रयत्नशील हुए।

व्यक्तित्व की गरिमा

बाल गगाधर तिलक के पश्चात् भारतीय राजनीति मे गाधी युग का अवतरण हुआ। भारत के इतिहास मे गाधी युग युगान्तरकारी परिवर्तनो और अनेक प्रकार की

हलचलो का युग है। यह युग स्वतन्त्रता सग्राम की अतिम यात्रा का युग है। महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीतिक रगमच पर प्रवेश करते ही काँग्रेस मे सपूर्णत परिवर्तन लाकर उसे जनता की सघटना बनाया। सन् 1920 के बाद के स्वातन्त्र्य आन्दोलन गाधीवाद स परिचालित हुए। गांधी मत मे हिंसात्मक साधनो की गुजाइश नही है। गांधीवाद का तत्व-चिंतन पीडा का तत्व-चिंतन है, जिसका जन्म एक परतत्र देश की चिरपराजय म हुआ।[1] महात्मा गांधी ने देश के स्वतत्रता आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे गतिशीलता, परिवर्तन और परिष्कार किया। वे मानव के चरित्र बल को ऊँचा उठाना चाहते थे। उन्होने कूटनीतिक चालो, षडयत्र, हिंसा, असत्य, छल-कपट आदि के स्थान पर सरल, निष्कपट जीवन को अपनाया। डॉ० सुधाकर शकर कलवडे ने लिखा है—"यह तो गांधीजी ही थे जिन्होने सत्य, अहिंसा तथा बधुत्व के बलबूते पर विदेशी सत्ता की विकराल शक्ति को चुनौती दी और विश्व भर के राष्ट्रो के सम्मुख यह आदर्श प्रस्तुत किया कि घृणा से प्रेम को, हिंसा को अहिंसा से, बर्बरता को सत्य से भी विजित किया जा सकता है।"[2]

भारत का स्वतन्त्रता सग्राम और गाधीजी

सन् 1920 से 1947 तक महात्मा गांधी द्वारा अनेक देशव्यापी आन्दोलन चलाये गये, जिनमे प्रमुख ये हैं—सन् 1920-21 का असहयोग आन्दोलन, खेडा सत्याग्रह, अहमदाबाद सत्याग्रह, सन् 1930 का नमक कानून तोडना, सन् 1930 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा सन् 1942 का भारत छोडो आन्दोलन। 'गांधीजी के राजनीतिक क्षेत्र म आगमन के साथ ही देश मे तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिन्होने सपूर्ण देश को एक स्वर तथा एकमत से उनके साथ कर दिया। वे तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थी—सन् 1919 मे जनता की इच्छा के विरुद्ध रोलेट एक्ट का पास होना, जलियावाला बाग की नृशस एव अमानुषिक घटना तथा खिलाफत का प्रश्न।"[3] गांधीजी राजनीतिक और सास्कृतिक जीवन को एक रूप मानते थे। यही कारण था कि उन्होने स्वतन्त्रता की लडाई म सत्य और अहिंसा का पुनीत मार्ग अपनाया। उनके सभी आर्थिक एव सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन साधनो की पवित्रता पर आश्रित थे। "उन्होने समूचे देश के हृदय मे एक व्यापक राष्ट्रीय चेतना जागृत कर उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिरोध मे डटकर खडे होने के योग्य बनाया।"[4]

जिस समय महात्मा गाधी का भारतीय राजनीति मे आगमन हुआ उस समय देश अनेक समस्याओ से ग्रसित था। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर न केवल मानवीय मूल्यो का ही हनन हुआ था अपितु जनजीवन और सम्पत्ति भी नष्ट हुई थी। देश मे भयकर गरीबी, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, अस्पृश्यता, गुटबदी, फूट आदि का बोलबाला था। उन्होने करोडो लोगो के इस प्रकार के विवशतापूर्ण जीवन को देखकर एकता, स्वावलबन और आत्मनिर्भरता स्थापित करने का निश्चय किया। वे एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे, जिसमे जाति भेद का कोई स्थान न हो।[5] डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है—' सन् 1921 मे सरकार का मुकाबला करने की प्रवृत्ति देश

के सार्वजनिक जीवन मे मुख्य बात थी, और जनता इस प्रवृत्ति का परिचय भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे अपने आसपास की स्थिति को देखकर तथा वहाँ की स्थानिक और नागरिक समस्याओ के अनुसार दे रही थी।"[6]

दूरदर्शिता के प्रतिमान

महात्मा गाधी राजनीतिज्ञ या दार्शनिक कम थे किन्तु कर्मवाद मे विश्वास करने वाले कुशल व्यावहारिक कर्मयोगी अधिक थे। उन्होने अपने इसी व्यवहारवाद के आधार पर शक्तिशाली अग्रेजी साम्राज्यवाद से टक्कर ली और देश को स्वतत्र कराया। तिलक गरम दल के नेता थे और शक्ति द्वारा देश की आजादी की लडाई लडना चाहते थे। प्रथम महायुद्ध मे भारतीय जनता ने धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध मे अग्रेजो का साथ इस आशा से दिया था कि विजय के पश्चात् अग्रेज लोग भारत को आजाद कर देंगे। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर कॉंग्रेसी नेताओं द्वारा स्वतत्रता की माँग करने पर टाल-मटोल की और भारतीय जनता पर अत्याचार बढा दिये। गाधीजी ने अपनी सूझ-बूझ के आधार पर स्वतत्रता आन्दोलन को अहिंसा द्वारा चलाया। उन्होने राजनीति मे सत्य, सरलता और धर्म को अपनाया। सत्याग्रह व असहयोग को नि.शस्त्र रूप से जनता की सामूहिक शक्ति के सहारे चला सकने की राजनीति को महात्मा गाधी की बडी देन है। महात्मा गाधी न भौतिक रूप से विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रो को चुनौती दी और भारतीय जनता की आन्तरिक शक्ति जागृत की अर्थात् पशुबल के सामने आत्मबल की शक्ति का सफल प्रदर्शन किया। उन्होंने भारतीय राजनीति को आध्यात्म प्रधान बनाया। सन् 1920 के राजनैतिक आन्दोलन के पश्चात् वर्तमान भारतीय पीढी के जीवन मे इसी आदर्श का उतर आना उनकी बहुत बडी सिद्धि है।

देश के सर्वतोमुखी विकास मे गाधीवाद का प्रभाव

गाधीजी का कार्य मात्र राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं था, बल्कि समाज व्यवस्था करने का भी था, जिसका आधार सत्य और अहिंसा हो उनकी चिन्तन धारा का मर्म मात्र भारतीय जनता तक ही सीमित नही था, बल्कि वह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है।[7] विद्यानाथ गुप्त के अनुसार—"गाधीजी कर्मठ नेता तथा कर्मण्यता के प्रतीक थे। उन्होंने अपने सिद्धातो का केवल उपदेश अथवा प्रचार मात्र ही नहीं किया वरन् अपने निजी जीवन मे उन्हे क्रियात्मक रूप देकर सत्य कर दिखाया। भारतवर्ष की राजनैतिक स्वतन्त्रता के सघर्ष मे सबसे अधिक प्रभावशाली नेतृत्व करने वाले यही नेता थे। उन्होंने अपने स्वराज्य आन्दोलनों में जनता को अपने जीवन दर्शन तथा विचारों से प्रभावित कर उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त किया। उन्होंने भारत की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी स्थितियो को सुधारने का जो प्रयास किया उसमे भारतीयता एव मानवता का स्वर मुखरित होता हुआ स्पष्ट सुनाई देता है।"[8]

भारतीय राष्ट्र के निर्माण मे गाधीजी 1915 से 1948 तक सक्रिय रहे। इस अवधि मे उन्होने विविध क्षेत्रो म महत्त्वपूर्ण कार्य किये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन्होने पहली बार अहिंसा का मार्ग अपनाया। "ससार की राजनीति मे अहिंसा एक प्रमुख शक्ति बन गई। एक शक्तिशाली राष्ट्र के विरुद्ध इसके द्वारा युद्ध किया गया और युद्ध मे जीत भी हुई।. पुरानी खादी नये फैशन के रूप मे सामने आई। अछूतोद्धार का प्रयास किया और राष्ट्र उनकी अद्भुत क्षमता को देखकर चकरा गया और भारत ससार के लिए एक समस्या बन गया।"[9] रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दो मे—"महात्मा गांधी हजारो निर्धनो और गरीबो की झोपडी के प्रवेश द्वार पर उन्ही की पोशाक मे जाते और उन्हीकी भाषा मे उनके सुख दुःख की बातें करते थे। यह केवल पुस्तको के उद्धरणो की बात नही वल्कि एक जीवित सत्य था इसी कारण भारत के लोगो ने उनको *महात्मा (महान् आत्मा है जो) का नाम दिया।* महात्मा गाधी के अतिरिक्त ऐसा कोई भारतीय नही हुआ जिसने इन गरीब भारतीयो को अपना ही हाड-मास समझा हो। जब प्रेम स्वय गाधीजी के रूप मे भारत के द्वार पर उपस्थित हो तो क्यो न उसका द्वार पूर्णत खुल जाय? गाधी जी के आह्वान पर भारत की महानता उसी प्रकार चमत्कृत और अभिव्यक्त हुई जिस प्रकार अतीत में बुद्ध के द्वारा इस सत्य के उद्घोष पर हुई थी कि सभी मनुष्य समभाव हैं, सभी प्राणी प्रेम सूत्र मे बँधे हुए हैं।"[10]

इस प्रकार विलक्षण व्यक्तित्व, अटूट कर्मनिष्ठा, स्वस्थ चिन्तन के धरोहर और प्रबल जन-समर्थन की शक्ति से समन्वित गाधीजी न भारतीय जन और जीवन के हर क्षेत्र को प्रेरित और प्रभावित किया। उन्ही की विचारणा गाधीवाद के नाम राजनीति और दर्शन के क्षेत्र मे सुविख्यात हुई।

गाधीवाद स्वरूप विश्लेषण

महात्मा गाधी ने स्वय स्पष्ट किया है कि उन्होने किसी नवीन विचारधारा या जीवन-दर्शन का प्रतिपादन नही किया अपितु प्राचीन सिद्धान्तो को पुन आलेखित किया है।[11] गाधीजी ने 'हरिजन' मार्च 1936 के अक मे लिखा है—"मैं किसी नये सिद्धात को प्रारम्भ करने का दावा नही करता। मैंने अपने तरीके से शाश्वत सत्यो का प्रयोग करके अपने दैनिक जीवन की समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न किया है। मेरा समस्त दर्शन यदि इसे दर्शन की सज्ञा दी जाय तो वही है जो कुछ मैंने कहा है। इस 'गाधीवाद' नही कहा जा सकता क्योकि इसम 'वाद' नाम की कोई वस्तु नही है।'[12] गाधीवाद वस्तुत भारत की उस आचारपरक आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक परिस्थितियो के अनुकूल परिवर्द्धित एव सशोधित सस्करण है, जो शताब्दियो स *सत्य, अहिंसा, सेवा, प्रेम, त्याग, सहिष्णुता, अस्तेय, अपरिग्रह, आत्म सयम* आदि नैतिक मूल्यों को भौतिक जीवन मानो की अपेक्षा अधिक काम्य और वरेण्य मानती आई है।[13] जिस जीवन दर्शन को महात्मा गाधी ने अपनाया उसे गांधीवाद के नाम से अभिहित किया जाता है।

श्री जैनेन्द्र कुमार के मतानुसार गाधी को वाद के द्वारा ग्रहण नहीं करना चाहिए। उन्होने लिखा है—"गाधीवाद पर शुरू म ही मुझे कहना होगा कि मेरे लेखे वह शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद भी है। वाद का काम है प्रतिवाद को विवाद द्वारा खडित करना और इस तरह अपने को चलाना। गाधीजी के जीवन म विवाद एकदम नही है। इसलिए गाधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नही होगा।'[14] किन्तु एक सार्वजनिक सभा म बोलते हुए स्वय गाधी जी ने एक बार कहा था—'गाधी मर सकता है पर गाधीवाद अमर रहेगा।'[15] गाधीवादी की व्याख्या करते हुए श्री कमलापति त्रिपाठी ने लिखा है—'जिस जगतव्यापिनी प्रवृत्ति और क्रिया का सक्रिय रूप भारत मे व्यक्त हुआ उसकी प्रतिक्रिया भी यही हो सकती है। यूरोप ने इस देश की समस्याओं और परिस्थितियो को जिस विकटता और उलझन म डाल दिया था, उसका प्रतिकार भी यही देश कर सकता था। जगत् की परिस्थिति यदि उपर्युक्त समस्याओ के हल की माँग कर रही थी, तो भारत की दशा भी उसी माँग की अपेक्षा कर रही थी।

गाधीजी का उदय उसी माँग का परिणाम है। वे सम्पुट हैं उस परिस्थिति के गर्भ के जो स्वभावत उपर्युक्त समस्याओ की विभीषिका स छुटकारा पाने की माँग कर रही थी। यही कारण है कि परिस्थितियो के अनुकूल पथ और पद्धति को लेकर वे अवतरित हुए। वही पथ और पद्धति 'गाधीवाद के नाम स जगत के सामने उपस्थित है।[16] यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि गाधीवाद गाधीजी के किसी मूल सिद्धात का उद्घाटन नहीं करता। वस्तुत गाधीवाद अथवा गाधी दर्शन को यदि हम समझना चाहें तो उसे 'सर्वोदय दर्शन म समझा जाता है। हाँ, यह बात अलग है कि आज गाधीजी की विचारधारा के लिए सामान्यत गाधीवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है। भवानीशकर द्विवेदी के अनुसार— गाधीजी के अहिंसात्मक सिद्धात साहित्य म 'गाधीवाद' के नाम स व्यवहृत होते हैं। प्रगतिवादी परिवर्तन मे नहीं प्रत्युत पुरान को

सारे ससार का सत्य और अहिंसा के आदर्शों पर नये सिरे से निर्माण करना था।

भारत की स्वतत्रता इस लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन मात्र थी। ऐसी स्थिति मे महात्मा गाधी ने समय-समय पर अपने लेखों, भाषणो और पत्रो मे भावी समाज व्यवस्था के बारे मे अपने विचार प्रकट किये थे। जिनके अनुशीलन से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि चाहे महात्मा गाँधी और उनके निकटतम अनुयायियो तक को इसका ज्ञान न रहा हो, फिर भी महात्मा गाधी ने एक नूतन राजनीतिक दर्शन की प्रतिष्ठा की है। गाधीजी की शिक्षाओ को अक्सर 'गांधीवाद' के नाम से सम्बोधित किया गया है, पर इस शब्द पर उन्हे स्वय आपत्ति थी। उनका कहना था—"गाधी-वाद नाम की कोई वस्तु, नही है और मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नही चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नही करता कि मैंने कोई नया सिद्धान्त चलाया है। मैंने केवल निजी ढग से केन्द्रीय सच्चाइयों को अपने नित्य प्रति के जीवन और समस्याओ पर लागू करने की चेष्टा की है और यह परिणाम जो मैंने प्राप्त किये हैं, अन्तिम नही है। मैं उन्हें कल बदल सकता हूँ।"

गाधीजी ने इतिहास म पहली बार सत्य, अहिंसा और प्रेम के आध्यात्मिक एव नैतिक सिद्धातो का राजनीति के क्षेत्र मे इतने विशाल पैमाने पर प्रयोग किया और इसमे सफलता प्राप्त की। प्राचीन सत-महात्माओं ने—गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी तक ने—अहिंसा के सिद्धात को केवल व्यक्तिगत जीवन मे ही लागू किया था। गाधीजी ने इतिहास मे पहली बार अहिंसा को जीवन के समग्र दर्शन के रूप में स्वीकार किया और उसके आधार पर समाज एव राजनीति की प्रत्येक समस्या को हल करने का प्रयास किया।[19] गाधीवाद का मूल आधार आध्यात्मिक अवधारणा है जिसके अन्तर्गत अलौकिक सत्ता ही यथार्थ और सर्वव्यापी है जो सर्व स्वीकृत जीवन ज्योति है जिसे सत्-चित-आनन्द या ब्रह्म या राम या सामान्य सत्य के नाम से पुकारा जा सकता है। गांधीवाद का प्रारम्भिक बिन्दु और अन्तिम उद्देश्य दानो पूर्ण पर ब्रह्म सर्व-व्यापी आत्मा या ईश्वर है।[20] सम्पूर्णानन्द ने गांधीवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"गाधीवाद महात्मा गाधी (1869-1948) की विचार पद्धति का व्यापक नाम है। गाधी व्यक्तित्व के अनेक पक्ष थे। वे राजनेता थे, समाज-सुधारक थे, अर्थवेत्ता थे, शिक्षा-शास्त्री थे और धर्मोपदेशक भी थे।

समाज-शासन के सगठन तथा जीवन के अन्य पक्षों के बारे मे उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होने अपनी दैनिक साधना के मध्य से गुजरते हुए किया। मार्क्सवाद के समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन इसके पीछे नही है। इसी कारण उसमे किसी प्रकार की तर्कजन्य पद्धति का अभाव है। गाधीवाद का आधार तर्क नही, स्वानुभूति है। इस विचारधारा का प्रत्येक खड आत्मशक्ति को लेकर चलता है। इसी कारण उसमे एक प्रकार की आध्यात्मिकता और विचार स्वातत्र्य है।[21] गाधी आधु-निक ससार के महानतम नेताओ मे से एक हैं। उनकी तुलना गौतम बुद्ध, ईसा मसीह और कबीर से की जा सकती है। वे हर प्रकार से आम भारतीय व्यक्तित्व का मूर्त रूप थे। खान-पान, बोल-चाल, रहन-सहन, वेशभूषा, साहित्य, चित्रकारी, दर्शन, सामाजिक

जीवन, आचार-व्यवहार आदि सभी पर गांधीजी की छाप पड़ी है। गांधीजी ने सर्वाधिक रूप से जीवन में सत्य और अहिंसा को महत्त्व दिया है। विश्व को अहिंसा भारत की सबसे बड़ी देन रही है। अहिंसा का मूल भय नहीं प्रेम है, कायरता नहीं सामर्थ्य है।

गांधीजी के अनुसार अहिंसा सम्पूर्ण धर्म की जान है। "सत्य की तरह अहिंसा भी सर्वशक्तिमान और असीम है और ईश्वर के समानार्थक है।"[23] 'अहिंसा सर्वकालीन-सर्वव्यापक नियम है, जिसका जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में बिना किसी अपवाद प्रयोग हो सकता है।'[33] गांधीजी के अनुसार सत्य के दो भेद हैं—(1) साधन या व्रत रूप सत्य, आंशिक या अपेक्षित सत्य, (2) साध्यपूर्ण सत्य, निरपेक्ष सार्वभौम या शाश्वत सत्य। रिचर्ड ग्रे के अनुसार—गांधीजी "सामाजिक सत्य के क्षेत्र में महान वैज्ञानिक हैं।"[34] सत्य की अनुभूति के लिए इन्द्रिय वासनाओं से विरक्ति अथवा वैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन अनिवार्य है। किन्तु वास्तव में सत्य की अनुभूति अहिंसा की अनुपालना से ही प्राप्त होती है। "अहिंसा और सत्य इतने ही ओत-प्रोत हैं, जितने कि सिक्के के दोनों बाजू या चिकनी चकरी के दोनों पहलू।"[35] गांधीजी एकादश महाव्रतों में विश्वास करते थे। ये महाव्रत ही उनके जीवन के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद (Control of palate) अस्तेय (Non-Stealing), अपरिग्रह (Non-accumulation), अभयम्, स्वदेशी, कायिक श्रम (Bread labour), सर्व धर्म सम्भव (genuine reverence for all religions), अस्पृश्यता निवारण (Removal of untouchability) गांधीजी ने जीवन के सभी क्षेत्रों—सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक आदि में इन सिद्धान्तों को अपनाया और प्रभावित किया।

भारतीय सामाजिक जीवन पर गांधीवाद का प्रभाव

गांधीजी ने अपने सिद्धान्तों का प्रयोग समाज सुधार में भी किया। वे भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन लाना चाहते थे। पहले उन्होंने समाज के प्रत्येक पहलू का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया। उसके पश्चात अहिंसा की नीति पर चल कर आदर्श समाज की स्थापना करने का ध्येय बनाया। वे परस्पर प्रेम और समता उत्पन्न करना चाहते थे। साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता का उन्मूलन करना चाहते थे। उनके राम-राज्य की कल्पना ही उनका आदर्श भारत था। उन्होंने स्वयं लिखा है—' मैं एक ऐसे विधान के निमित्त चेष्टा करूँगा जो भारत को हर तरह की गुलामी व प्रभुता से मुक्त करेगी और जरूरत पड़ने पर उसे अपराध करने का अधिकार रहेगा, जिसे गरीब से गरीब अपना देश समझेगा···जहाँ पर सब जातियों के लोग मिल-जुलकर रह सकेंगे। ऐसे भारत में अस्पृश्यता तथा मादक द्रव्यों जैसे अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के समान होंगे, चूँकि शेष विश्व के साथ न हम भिन्न भाव से रहेंगे न तो किसी का शोषण करेंगे। अतः हमें कम से कम सेना की आवश्यकता होगी।"[26] महात्मा गांधी ने सामाजिक सुधार के लिए रचनात्मक कार्य-

क्रमों की एक अट्ठारह सूत्री तालिका बनाई। सामाजिक सुधार के अट्ठारह सूत्र निम्न हैं—

1 साम्प्रदायिक एकता
2 अस्पृश्यता निवारण
3 मद्यपान निषेध
4 खादी
5 दूसरे ग्रामोद्योग
6 गाँवों की सफाई
7 नयी या बुनियादी तालीम
8 प्रौढ़ शिक्षा
9 स्त्रियों की उन्नति
10 स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा
11 मातृभाषा प्रेम
12 राष्ट्रभाषा प्रेम
13 आर्थिक समानता
14, 15, 16 किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन
17 आदिवासियों की सेवा
18 कोढ़ियों की सेवा।

महात्मा गाधी वर्तमान समाज व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका अट्ठारह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम इस तथ्य का स्पष्ट सूचक है कि वे वर्तमान दोषपूर्ण समाज व्यवस्था मे सुधार तथा उसका पुनर्निर्माण करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, हालांकि उनकी इस उत्सुकता की अपनी सीमाएँ थीं। इसीलिए वे प्रेमपूर्वक समझाने बुझाने, हृदय परिवर्तन तथा व्यक्ति के सुधार से आगे नहीं बढ़ पाते।[37] गाधीजी ने देश मे प्रचलित अनेक बुराइयो को दूर करने का प्रयास किया। साम्प्रदायिक झगड़े, छुआछूत, नारी की हीनावस्था, वेश्या वृत्ति, पर्दा-प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह तथा मादक वस्तुओं का सेवन आदि समाज की ऐसी समस्याएँ थी जो समाज के लिए अकल्याण-कारी थी। गाधीजी ने समाज की इन बुराइयो को दूर करने के अनेक प्रयत्न किये और उन्हें अपने इस कार्य म सफलता भी मिली। सामाजिक क्षेत्र मे गाधीजी का योगदान अविस्मरणीय है।

भारतीय आर्थिक जीवन और गाधीवाद

गाधीजी के आर्थिक विचारों का भारतीय अर्थ व्यवस्था पर जो प्रभाव पड़ा उससे उनके अर्थशास्त्री होने का प्रमाण मिलता है। उनके द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय तथा ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त उनकी अर्थनीति का विस्तृत वर्णन करते हैं। कुटीर उद्योगो तथा चरखे के विकास मे उनका आर्थिक दृष्टिकोण ही स्पष्ट होता है। वे गाँवो मे स्वावलम्बी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे। उनकी बुनियादी तालीम मे

भी उत्पादन को महत्त्व दिया गया है। गांधीजी के आर्थिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए श्री गोपीनाथ धावन ने लिखा है— 'वह आर्थिक प्रश्नों पर मनुष्य की नैतिक भलाई के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। उनका आर्थिक दृष्टिकोण अपरिग्रह, अस्तेय, शरीर-श्रम और स्वदेशी के आदर्शों पर निर्धारित हुआ था। आर्थिक समता का आदर्श उन्हें बहुत प्रिय था क्योंकि विलासिता और भुखमरी का एक साथ अस्तित्व शोषण और जीवन की निष्फलता का द्योतक है और धनी और निर्धन दोनों के लिए आध्यात्मिक एकता की अनुभूति कठिन कर देता है।"[28]

'वस्तुतः गांधीजी के आर्थिक दृष्टिकोण का निर्माण खादी तथा दूसरे ग्रामोद्योगों के विकास एवं आर्थिक समानता के सिद्धान्तों से हुआ है। जैसा कि उनके रचनात्मक कार्यक्रम से स्पष्ट है। गांधीजी का आर्थिक दृष्टिकोण उनके नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन दर्शन की अनिवार्य परिणति है। स्वभावतः वे मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं और प्रश्नों पर भी अस्तेय, अपरिग्रह, मनुष्य की नैतिक भलाई तथा प्राणिमात्र के साथ आध्यात्मिक एकत्व का बोध की धार्मिक भाषा में विचार करते हैं।"[29] गांधीजी के अनुसार बेकारी को दूर करने का एक मात्र उपाय ग्रामीण उद्योगों का प्रचार है। उन्होंने लिखा है कि—"जब अर्थशास्त्र में और जीवन में गांवों की दृष्टि प्रवेश करेगी तब जनता का मन गांवों में बनी वस्तुओं का अधिक से अधिक उपयोग करने की ओर मुड़ेगा, तभी जनता अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ गांवों में तैयार कराने का आग्रह रखने वाली बनेगी। इसके परिणामस्वरूप गांवों की कला और वहां के औजारों को सुधारने की, देहाती जनता को सस्कारी बनाने की, गांवों के जंगलों और खेतों में पैदा होने वाली उपज के बारे में और उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में गांवों में जिस सम्पत्ति का और प्राकृतिक साधनों का आज कोई उपयोग नहीं हो रहा है, उनके सम्बन्ध में खोज और आविष्कार करने की प्रवृत्ति जनता में जागेगी।"[30] संक्षेप में कहा जाय तो गांधीवाद अर्थ व्यवस्था पूँजीवाद का विरोध करती है और आर्थिक विकेन्द्रीकरण में उसका दृढ़ विश्वास है। गांधीजी की मान्यता थी कि मनुष्य के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे। जिसके पास जो भी सम्पत्ति हो वह समाज की सम्पत्ति होनी चाहिए।

भारतीय धार्मिक-नैतिक जीवन और गांधीवाद

गांधीजी मुख्यतः हिन्दू धर्म के अनुयायी थे किन्तु उनके हृदय में मानव धर्म के प्रति विशेष अनुराग था। उनका विश्वास था कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं।[31] जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, गांधीवाद का मूल आधार धर्म, आध्यात्मिकता और नैतिकता है। ईश्वर में उनकी दृढ़ आस्था थी किन्तु उन्होंने लिखा है —"मेरी दृष्टि में ईश्वर सत्य व प्रेम है। ईश्वर सदाचार व नैतिकता है। ईश्वर निर्भयता है वह प्रकाश व जीवन का स्रोत है। फिर भी वह इस सबसे ऊपर है और इस सबसे परे है। ईश्वर आत्मिक चेतना है। वह तर्क और वाणी से परे है।"[32] धर्म के बारे में गांधीजी ने स्पष्टतः कहा है कि—(1) सभी धर्म

सत्य होते हैं। (2) सभी धर्मों मे कोई न कोई भूल या कमी अवश्य होती है। (3) सभी धर्म मेरे लिए उतने ही प्रिय है जितना हिन्दू धर्म। (4) दूसरे धार्मिक विश्वास के लिए मेरे मन मे उतना ही सम्मान है जितना अपने धार्मिक विश्वास के लिए। इसलिए धर्म परिवर्तन की कल्पना असम्भव है। औरों के लिए हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए कि हे प्रभु ! उन्हें अपने उच्चतम विकास के लिए जितने भी प्रकाश व सत्य की आवश्यकता हो। वह दिखा।[33]

श्री विनय गोपाल रे ने गाधीजी के धर्म का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उनका धर्म किसी सकीर्ण मतवाद या सम्प्रदाय की सीमा मे नही बँधा है उनके धर्म मे हिन्दू, इसलाम, ईसाई आदि धर्म ही सम्मिलित नही हैं अपितु उनका धर्म सत्य के नाम से भी अभिन्न है। उनका धर्म नीति धर्म है, सम्प्रदाय विशेष का नहीं।[34] गांधीजी धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार मे मानते हैं उनकी मान्यता है कि धर्म का निचोड नैतिकता के पालन मे है। धर्म और नैतिकता गाधी जी के विचारो और आचरण की आधार शिला है, उनका जीवन प्राण है।[35] अपनी समन्वयकारी प्रवृत्ति के कारण गाधीजी ने धर्म के क्षेत्र मे सर्व धर्म समानता की प्रतिष्ठा की। ईश्वरीय एकता और व्यापकता का विवेचन करते हुए उन्होने कहा है—"ईश्वरीय प्रकाश किसी एक ही राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नही है। ईश्वर न काबे मे है न काशी मे है ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नही। वह प्रेम है, घृणा नही वह सत्य है, महान है और हम सब उसकी चरण रज हैं।"[36]

गाधीजी की मान्यता थी कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य के साधन भी लक्ष्य की ही तरह पुनीत होने चाहिए। आत्मशुद्धि और शुद्ध आचरण से नैतिक बल उत्पन्न होता है। अत. वे व्यक्तिगत जीवन की शुद्धि पर विशेष बल देते थे। इसके लिए प्रार्थना, उपासना, व्रत, प्रतिज्ञा, ब्रह्मचर्य आदि को उपयोगी मानते थे।

भारतीय राजनीतिक जीवन और गाधीवाद

जिस समय महात्मा गाधी ने भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया उस समय शासन तत्र अति जटिल था और लोगो ने राजनीति को स्वार्थ सिद्धि का अस्त्र बना रखा था। गाधीजी ने राजनीति मे सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धात लागू करके नयी चेतना उत्पन्न की। उन्होने स्वीकार किया है कि—"जब से मैंने यह जाना कि सार्वजनिक जीवन क्या है, तब से मेरे प्रत्येक शब्द और कार्य के मूल मे धार्मिक चेतना और नितान्त धार्मिक हेतु रहे हैं।"[37] महात्मा गाधी ने सर्वप्रथम धर्ममय राजनीति की नींव डाली। गाधीजी ने अपनी बात मनवाने के लिए सत्याग्रह को विशेष महत्त्व दिया। गांधीजी ने इसका प्रयोग दक्षिण अफ्रीका से ही प्रारम्भ कर दिया था। सत्याग्रह से उनका तात्पर्य था—अहिंसा के द्वारा सत्य का आग्रह। उनका यही सत्याग्रह राजनीति के क्षेत्र मे असहयोग के नाम से जाना जाता है। सन् 1920 मे असहयोग की घोषणा करते हुए गांधीजी ने लिखा है—"हमारे सामने एक रास्ता है, असहयोग। वह सीधा, साफ मार्ग है। हिंसात्मक न होने से यह कारगर भी उतना ही होगा।[38] भारतीयों

पर अंग्रेजो का शासन अन्यायपूर्ण और क्रूर था। इस बुरे शासन को हटाने के लिए गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन चलाया।

गाधीजी असहयोग को केवल निषेधात्मक ही नहीं मानते थे। परस्पर मिलकर किसी बुराई को दूर करने के लिए असहयोग करना उनका विधायक पक्ष है। इस आन्दोलन द्वारा वे जनता मे राजनीतिक शिक्षा का प्रचार भी करना चाहते थे। क्योंकि उनकी मान्यता थी कि जनता के सहयोग के बिना न तो असहयोग व्यापक हो सकता है और न सफल हो सकता है।[39] असहयोग का एक रूप सविनय अवज्ञा है। अन्यायी और अनैतिक सरकार को सविनय अवज्ञा द्वारा पगु बना दिया जाता है। गाधीजी की विचारधारा के अनुसार सविनय अवज्ञा से तात्पर्य है—सरकार के कानूनों को भग करना जो नैतिक नहीं है। सविनय अवज्ञा इस बात का प्रतीक है कि प्रतिरोधकारी सविनय अर्थात् अहिंसक रूप से कानून की अवज्ञा करता है।[40] वे इस देश को स्वतंत्र करवाना चाहते थे और इसी लक्ष्य को लेकर उन्होने स्वतन्त्रता सग्राम लडा। उन्होने लिखा है—'राजनीतिक आजादी का मतलब यही है कि मुल्क पर ब्रिटिश फौजो की किसी भी शक्ल म कोई हुकूमत न रहे। वे तो विदेशी दासता से स्वतन्त्रता पाकर छुटकारा चाहते हैं। उनके लिए स्वतन्त्रता का अर्थ देशवासियो को स्वतन्त्र बनाने म था। वे भारत पर किसी भी प्रकार के दासत्व का भार नही रहने देना चाहते थे।"[41] काँग्रेस की अगुवाई करते हुए गाधीजी ने स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष किया और अन्त म 15 अगस्त 1947 को देश स्वतन्त्र हुआ।

"गाधीजी राजनीति को जीवन के अन्य विभागो से पृथक रखने मे विश्वास नही करते थे। उनकी राजनीतिक विचारधारा धर्म द्वारा नियन्त्रित थी। गाधीजी की राजनीतिक विचारधारा उदारवादी राष्ट्रीय नेताओ और उग्र राष्ट्रीय दल स कुछ भिन्न थी। सत्य, अहिंसा मे विश्वास रखने के कारण वे राजनीतिक क्षेत्र म भी धर्म की शक्ति को सर्वोपरि मानते थे। धर्म रहित राजनीति स्वार्थ सिद्धि के रूप मे परिवर्तित हो जायेगी। उदारवादियो ने राजनीति को बुद्धिसगत बनाया। उग्र राष्ट्रवादियो ने राजनीति को भावात्मक बनाया किन्तु गाधीजी ने उसे आध्यात्मिक बनाने की कोशिश की।'[42] वस्तुत गाधीजी ने राजनीतिक सघर्षों के दरम्यान सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा नैतिक बल का प्रयोग किया। इन सिद्धान्तो का न केवल भारतीयो पर ही गहरा प्रभाव पडा अपितु अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे भी इनको अपनाया गया।

गाधीवादी दर्शन के आधार पर राजनीतिक और सरकार का स्वरूप विश्लेषण

गाधीवादी दर्शन म राजनीति धर्म से परिचालित होती है। गाधीजी राज्य को साध्य न मानकर मात्र साधन मानते थे। उनके अनुसार राज्य सब लोगो का अधिकाधिक भला करें। यदि राज्य म राजनीति सत्ता का दुरुपयोग होता है तो प्रत्येक व्यक्ति इस योग्य बने कि उसका विरोध कर सके। व्यक्ति सरकार की सहायता के बिना ही अपनी समस्याओ को हल कर सकें। इस प्रकार राज्य या सरकार लोगों के जीवन मे कम से कम हस्तक्षेप करें। गाधीजी ने लिखा है—"राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व

द्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियंत्रित करना ही राजनीतिक शक्ति का सही उपयोग है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वचालित हो सके तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रहती।"43 गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य या सरकार बल प्रयोग एवं शक्ति पर आधारित है इसलिए अवांछनीय है। शक्ति के प्रयोग से जनता का नैतिक बल कमजोर हो जाता है। राज्य के कठोर नियंत्रण से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न होती है और वह अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य नहीं कर सकता। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्रता की स्थिति में ही कर सकता है। इस प्रकार वह अन्ततोगत्वा अहिंसक राज्य की स्थापना करना चाहते थे। "गांधीजी राजनीतिक आन्दोलन द्वारा भारत में सच्चे अर्थों में प्रजातंत्रात्मक स्वराज्य की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीय जीवन को राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व द्वारा नियमित रखे। अहिंसा उनके आन्दोलन का मेरुदंड थी क्योंकि अहिंसा द्वारा स्थापित प्रजातंत्रवाद में ही राष्ट्र की प्रत्येक इकाई को सच्ची स्वतंत्रता का आनन्द लाभ हो सकता है।"44

गांधीजी राज्य के अस्तित्व के ही विरुद्ध थे, क्योंकि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को खतम अथवा सीमित कर देता है। उनका कहना है कि प्रत्येक राज्य, चाहे वह कितना ही प्रजातंत्रीय क्यों न हो, हिंसात्मक होता है। उन्होंने राज्य को केन्द्रीकृत और संगठित हिंसा की संज्ञा दी है। मनुष्य में आत्मा होती है इसलिए उसे तो हिंसा से मुक्त किया जा सकता है, लेकिन चूंकि राज्य एक आत्महीन मशीन होता है इसलिए उसे हिंसा से मुक्त कर सकने का प्रश्न ही नहीं उठता। गांधीवादी दर्शन के अनुसार किसी भी राज्य में सरकार का उद्देश्य सर्वोदय होना है। सर्वोदय उच्चकोटि के चारित्रिक एवं नैतिक बल की आवश्यकता है। ऐसा राज्य अहिंसक नीति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। गांधीजी ने राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् देश को स्वतंत्र करवाने के लिए संगठित प्रयास किये। उन्हें अंग्रेज जाति से विरोध नहीं था किन्तु विदेशी सरकार के अन्याय और अत्याचारों से सख्त विरोध था। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी ताकत से हिंसा द्वारा विरोध नहीं किया जा सकता अतः गांधीजी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अहिंसक आंदोलन प्रारम्भ किये। इन अहिंसक आन्दोलनों में निष्क्रिय विरोध, असहयोग सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह आदि उपायों का उपयोग किया। राजनीति में इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा गांधीजी ने न केवल देश को स्वतंत्र ही करवाया अपितु गांधीवादी दर्शन के अन्तर्गत नवीन अहिंसक लोकतंत्रात्मक स्वराज्य की स्थापना की रूपरेखा भी प्रस्तुत की।

निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)

"अन्यायपूर्ण और अत्याचारी सरकार को हटाने के लिए गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को अपनाया। निष्क्रिय प्रतिरोध सत्याग्रह का ही एक रूप है। किन्तु सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध एक नहीं है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक ऐसा राजनीतिक हथियार है जो प्रतिपक्षी को अपनी माँगें स्वीकार करवाने के लिए बाध्य करता है। यद्यपि

निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा नहीं होती तथापि वह हिंसक उपायों के प्रयोग के विरुद्ध नहीं है। इसकी कार्य प्रणाली निषेधात्मक है।"[45] निष्क्रिय प्रतिरोध में यदि हिंसात्मकता आ जाती है तो गांधीजी के अनुसार उसे त्याग देना चाहिए। स्वतंत्रता के लिए जन आन्दोलन चलाते समय कभी-कभी निष्क्रिय प्रतिरोध को काम में अवश्य लिया गया और इस प्रकार के आन्दोलनों को कुचलने में सरकार ने हिंसात्मक उपाय अपनाये। "दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग किया था। वास्तव में निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन इंग्लैण्ड में नानकान्फरमिस्ट (Nonconformist) नेताओं ने चलाया था। उन्होंने इसे समयानुकूल परिस्थितियों का एक राजनीतिक अस्त्र बनाया था।

गांधीजी का निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा सविनय अवज्ञा आन्दोलन अहिंसात्मक था। इस आन्दोलन द्वारा शत्रु पर प्रेम और धैर्य से विजय प्राप्त की जाती है। सविनय अवज्ञा को असहयोग का उपसंहार अथवा उग्रतम रूप मानना चाहिए। सविनय अवज्ञा का प्रयोग चुने हुए समझदार लोग ही कर सकते हैं। असहयोग और सविनय अवज्ञा दोनों का ही ध्येय है अन्यायी और अनैतिक सरकार जो जनता की निश्चित इच्छा की अवज्ञा करती है, पंगु बना देना अर्थात् गांधी विचारधारा के अनुसार सविनय अवज्ञा का अर्थ है सरकार के कानूनों को भंग करना, जो नैतिक नहीं है। सविनय अवज्ञा इस बात का द्योतक है कि प्रतिरोधकारी सविनय अर्थात् अहिंसक रूप से कानून की अवज्ञा करता है।"[46]

सत्याग्रह—गांधीजी ने स्वतंत्रता संग्राम के समय अंग्रेजी सरकार का अहिंसा की नीति से प्रतिरोध किया, यही सत्याग्रह था। वैसे सत्य के प्रति आग्रहशील होना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह के बारे में स्वयं गांधीजी ने लिखा है—"राष्ट्रीय अथवा राजनीतिक जीवन में सत्य और कल्याण के लिए कृत संकल्प होकर आग्रह करना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह सत्य के लिए निरन्तर खोज है और सत्य तक पहुँचने तक का संकल्प है। सत्याग्रह एक सतत विकासशील शक्ति स्वरूप है। यह एक प्रकार का उच्चतम धैर्य है। सहनशीलता व आस्था उसके मूल तत्त्व हैं। हम सभी बुराइयों से सत्याग्रह के द्वारा असहयोग करते हैं।'[47] कि० घ० मशरूवाला के अनुसार—'सत्य पर आग्रहपूर्वक आचरण करना तथा अधर्म का सत्यादि, साधनों द्वारा आग्रहपूर्वक विरोध करना ही सत्याग्रह है।"[48] रामनाथ सुमन ने लिखा है—"सत्याग्रह निजी रूप में आध्यात्मिक साधना है। समष्टि रूप में सामाजिक कल्याण की साधना है। वह व्यक्ति तथा समाज के दोषों को दूर दोनों के बीच हितकर सम्बन्ध स्थापित करता है।"[49] सत्याग्रह के निम्नलिखित तत्त्व हैं—

(1) सत्याग्रह सत्य और न्याय के आधार पर ही हो।
(2) सत्याग्रह को अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनाया जाना चाहिए। इससे पूर्व न्यायोचित परिवर्तन हेतु अन्य शांतिपूर्ण उपायों को काम में लाकर देख लेना चाहिए।

(3) सत्याग्रही में क्षमा भाव होना चाहिए और वह अपने विपक्षी को मूलक सुधार हेतु पूरा अवसर प्रदान करे।
(4) सत्याग्रह सत्य और ईश्वर में पूरी आस्था का आधार लिए हुए होता है।
(5) सत्याग्रह मे अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है।
(6) सत्याग्रही में प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन करने की क्षमता होनी चाहिए।
(7) वह नम्रतापूर्वक समझौते के लिए तैयार रहे।"[50]

"प्रेम और अहिंसा पर आधृत होने के कारण सत्याग्रह मे अविनय के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि अविनय के साथ हिंसा का प्रवेश लगभग निश्चित है। सत्याग्रही का *आग्रह अर्थात् उसके द्वारा अत्याचारी का विरोध उसकी सत्यनिष्ठा से प्रेरित होता* है, किसी व्यक्तिगत द्वेष-भावना से नही।"[51] हंटर कमेटी के समक्ष बोलते हुए गांधीजी ने सत्याग्रह के सम्बन्ध मे कहा है—"सत्याग्रह' शब्द मेरे द्वारा दक्षिण अफ्रीका मे उस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए गढा गया था जिसका प्रयोग वहा के भारतीय आठ वर्ष तक करते रहे थे और यह इसलिए गढा गया था कि उस समय यूनाइटेड किंगडम और दक्षिण अफ्रीका मे निष्क्रिय प्रतिरोध नाम से चल रहे आन्दोलन से इसका विभेद किया जा सके। इसका मूल अर्थ सत्य पर दृढ रहना है। अत सत्य शक्ति है। मैंने इसे प्रेम की शक्ति या आत्मा की शक्ति भी कहा है। सत्याग्रह का प्रयोग करते हुए मैंने प्रारंभिक स्तर पर पाया कि सत्य पर चलते हुए विरोधी के साथ हिंसा नही अपनानी चाहिए बल्कि धैर्य और सहानुभूति के साथ उसे मूल से विमुख करना चाहिए।"[52]

सत्याग्रह की कई पद्धतियाँ हैं जिनमे प्रमुख इस प्रकार है—(1) हडताल, (2) उपवास, (3) प्रार्थना, (4) प्रतिज्ञा, (5) असहयोग, (6) कर बदी, (7) धरना, (8) सविनय अवज्ञा, (9) अहिंसक धरना, (10) अपनी इच्छा से सरकारी सीमा त्यागना, (11) आमरण अनशन।"[53] देश की आजादी की लडाई म गाधीजी ने समय-समय पर इनमे से अधिकाश पद्धतियो का प्रयोग किया था। भारत की तत्कालीन परिस्थितियो मे स्वराज्य प्राप्ति के लिए सत्याग्रह ही सर्वोत्तम साधन था।

असहयोग—असहयोग सत्याग्रह का ही एक अग है। जो कार्य अथवा बातें अनुचित और अनीतिपूर्ण हो उनके साथ असहयोग किया जाता है। बुरे कार्यों मे भाग न लेकर उसका बहिष्कार करना ही असहयोग है। असहयोग किसी व्यक्ति के प्रति नही बल्कि उसकी बुराइयो के प्रति किया जाना चाहिए। गाधीजी ने कहा है कि असहयोग की जडें घृणा मे नही बल्कि प्रेम म होती हैं। सत्य के आधार पर किये गये असहयोग का अन्तिम परिणाम विजय होता है। भारतीय राजनीति म असहयोग आन्दोलन कांग्रेस के 34 वें अधिवेशन (1920) से प्रारम्भ होता है। इस *अधिवेशन मे गाधीजी* द्वारा प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन के मुख्य अग इस प्रकार थे—

(1) सरकारी उपाधियो और आफिसो का त्याग।
(2) सरकार को ऋण देना बन्द कर देना।
(3) वकीलो को वकालत छोड देना और देहाती झगडो का मध्यस्थ द्वारा निवारण करना।

(4) सरकारी स्कूलो के विद्यार्थियो और उनके माता-पिता द्वारा बहिष्कार।
(5) काउसिलो का बायकाट।
(6) विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार।
(7) सरकारी पार्टियो तथा उत्सवो का बहिष्कार।"[54]

अग्रेज सरकार इस देश की जनता की भावनाओ के प्रतिकूल थी। उसका शासन अन्यायपूर्ण और अनैतिक था अत अग्रेज सरकार को हटाने के लिए गाधीजी ने असहयोग आन्दोलन चलाया।

अहिंसा का पालन

गाधीवादी दर्शन मे अहिंसा सपूर्ण दर्शन की धुरी है। भारतीय सस्कृति मे ऋषियो का अमर वाक्य 'अहिंसा परमो धर्म' गाधी के दर्शन लिए प्रकाश स्तम्भ है। गाधीजी ने देश की राजनीति मे अहिंसा को अपनाकर जन आन्दोलन मे आत्मिक बल उत्पन्न किया। गांधीजी अहिंसा को प्रेम का पर्यायवाची मानते थे। वे अहिंसा के द्वारा व्यक्तिगत हानि-लाभ स दूर रहत हुए समस्त मानवता का कल्याण चाहते थे। गाधीजी हर प्रकार के बुरे विचार व बुरे कर्म को हिंसा मानते थे। किसी भी प्रकार के विचारा को मन म न लाना व हर प्रकार के बुरे कर्म स दूर रहना अहिंसा है। अहिंसक कभी झूठ नही बोलता, किसी स घृणा नही करता तथा किसी प्रकार की अनधिकार चेष्टा नही करता। गाधीजी इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर चलकर सत्य की खोज मे लगे थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा को एक दूसरे का पूरक माना था। उनके लिए सत्य साध्य था और अहिंसा साधन।

आत्मकथा म गाधीजी न लिखा है—"सत्यमय होने के लिए अहिंसा ही एक मार्ग है अथवा सत्य रूपी सूर्य का सपूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के बिना असभव है।"[55] अहिंसा एक प्रवृत्ति है जो उदारता, प्रेम तथा सर्वोदय की भावना से पोषित होती है। गाधीजी ने लिखा है—'अहिंसा सिर्फ एक व्यक्तिगत गुण नही है, बल्कि एक सामाजिक गुण भी है, जिसे दूसरे गुणों की तरह विकसित करना चाहिए।'[56] सर्वप्रथम गाधीजी ने ही अहिंसा का सामुदायिक तथा सामाजिक जीवन मे प्रयोग किया। गाधीजी भारत में रामराज्य की स्थापना करना चाहते थ। उनके इस प्रयत्न मे अहिंसा का स्थान प्रमुख था। नये समाज और नये विश्व की रचना इसी अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाकर करना चाहते थे। श्री कमलापति त्रिपाठी के शब्दो मे—"अपनी इस नयी दृष्टि को लेकर गाधीजी जगत के सास्कृतिक आधार को बदलना चाहते हैं। जीवन की आधुनिक दशा को उलट देना चाहते हैं और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। अहम् के सुखवाद और ऐहिक भोगो की लिप्सा के स्थान पर दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यो के पालन और प्राणिमात्र के प्रति प्रेममय जीवन के चरम उत्कर्ष तथा जगत कल्याण के चरम उत्कर्ष तथा जगत कल्याण का रहस्य देखते हैं। गाधीवाद इस प्रकार आधुनिक पशुवाद के स्थान पर मानववाद की प्रतिष्ठा करना चाहता है।"[57]

एक सच्चा अहिंसक वीर और निर्भीक होता है। अहिंसा कायरता नहीं है। कायरता का मेल हिंसा से ही हो सकता है।

मानव जीवन का इतिहास बर्बर युद्धों, क्रान्तियों और हिंसक कार्यों से परि-व्याप्त है। गांधीजी ने अहिंसा को वीरों का शस्त्र कहा है। उनका कहना है कि अहिंसा का पालन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनमें नैतिक और मानसिक बल हो, जिनमें सहस हो और जिनमें साहस शक्ति हो। अहिंसा के लिए शारीरिक शक्ति आवश्यक नहीं। अहिंसा में आत्मसमर्पण का कतई स्थान नहीं है, अतः साहसहीन और डरपोक अहिंसा का पालन नहीं कर सकते। गांधीजी का कहना है 'कि डरपोक की अहिंसा तो हिंसा ही भली, यानी यदि हिंसा और डरपोकता में से एक का चुनाव करना हो तो उस हालत में वे हिंसा को चुनने की सलाह देंगे।"[18] बुद्ध, महावीर, और गांधी ने मानव विकास में प्रेम और अहिंसा को जो महत्त्व दिया है उसी से अखिल मानवता का कल्याण सम्भव है। भारतीय जन बल इस अहिंसा की शक्ति से आत्मबल पैदा करें। यही गांधीजी की कामना थी।

सत्ता का विकेन्द्रण

गांधीजी के रामराज्य की कल्पना में सत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों में सीमित नहीं मानी गयी। वे सत्ता का विकेन्द्रीकरण चाहते थे। हमारा देश गांवों का देश है। भारत की 90 प्रतिशत जनता गांवों में ही निवास करती है। वे ऐसे जनतन्त्र में विश्वास करते थे जिसमें कि सत्ता प्रत्येक व्यक्ति में निहित हो। वर्त-मान काल में अधिकांश देशों में सत्ता किसी एक व्यक्ति में अथवा कुछ व्यक्तियों के समुदाय में सीमित हो गई है। इससे आम जनता का विकास नहीं हो पाता। दूसरे आज के पूंजीवादी जनतन्त्र में सत्ता का दुरुपयोग भी होता है यही कारण है कि शहरों का आकार बढ़ता जा रहा है। सुविधाएँ शहरों में साधन सम्पन्न लोगों को उपलब्ध होती हैं और आम जनता गरीबी में निवास करती है। गांधीजी प्रत्येक गाँव को स्वावलंबी बनाना चाहते थे। ग्रामों में पंचायती राज्य की स्थापना होने से लोगों को केन्द्र की तरफ हाथ फैलाना न पड़े। प्रत्येक गाँव में उसकी आवश्यकता के अनुसार सभी साधन सुविधाएँ उपलब्ध हों और सम्पूर्ण कारोबार स्वयं गाँव के लोग चलायें। इस तरह गांधीजी के रामराज्य में विकेन्द्रण की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार गांधीजी अहिंसक लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे जिसमें हर व्यक्ति अपना मुक्त विकास कर सके और किसी का मोहताज न रहे। गांधीजी ने प्रचलित राज्य सम्बन्धी दोषों को देखते हुए रामराज्य की कल्पना की थी जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास कर सकें, अपनी इच्छाओं का व्यावहारिक रूप दे सकें। जहाँ बल और शक्ति का अनुचित प्रयोग न हो। उनके अनुसार राज्य का उद्देश्य जनता की दशा में हर सम्भव सुधार करना होता है। श्रेष्ठ राज्य का उद्देश्य सर्वोदय है। सर्वोदय की स्थापना के लिए उच्चकोटि के नैतिक और चारित्रिक बल

की आवश्यकता है। जनता आम जनता के दृढ़ संकल्प से ही रामराज्य की स्थापना की जा सकती है।

गांधीजी के रामराज्य की कल्पना में स्वराज्य प्रथम कड़ी है। स्वराज्य एक पवित्र शब्द है जिसका अर्थ आत्म शासन और आत्म संयम है। निरंकुशता या स्वच्छन्दता से इसका कोई तालमेल नहीं है। स्वराज्य व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति पर निर्भर करता है। आन्तरिक शक्ति से पूर्ण व्यक्ति ही स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं और उसे टिकाये रख सकते हैं। गांधीजी लिखते हैं—"स्वराज्य हमारी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखता है। स्वराज्य की रक्षा तभी सम्भव है जब देशवासी देशभक्त हों।"[59]

स्वराज्य को ही रामराज्य का आदर्श रूप कहा जा सकता है। किशोर लाल मशरूवाला ने गांधीजी के रामराज्य की धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"रामराज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म का राज्य या न्याय व प्रेम का राज्य अथवा अहिंसक स्वराज्य या जनता का स्वराज्य। जनता के स्वराज्य का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति के स्वराज्य से उत्पन्न जनसत्तात्मक राज्य। इस प्रकार के रामराज्य में किसी को अपने अधिकार का ख्याल तक नहीं होता है। अधिकार आवश्यक होने पर खुद ब खुद दौड़ा चला आता है।" गांधीजी के रामराज्य में सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान भाव से मिलजुल कर रहेंगे और धार्मिक झगड़े या क्षुद्र स्पर्धा ऐसी कोई चीज नहीं होगी। सारे मतभेद, विरोध, झगड़े अहिंसक मार्ग से निपटा दिये जायेंगे।"[60]

स्वराज्य, ग्रामराज्य और पंचायत राज्य के बारे में गांधीजी की अपनी कल्पना थी। उनका कहना था कि आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। प्रत्येक गांव में जमहूरी सल्तनत या पंचायत का राज्य होना चाहिए। जब प्रत्येक पंचायत के पास पूरी सत्ता और ताकत होगी तो गांव अपने पैरों पर खड़ा होगा। अपनी जरूरतों के अनुसार उसे सब कुछ स्वयं तैयार करना होगा। पंचायत का प्रत्येक सदस्य उचित तालीम प्राप्त करेगा ताकि आत्मनिर्भर होने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। ऐसे पंचायती राज्य की बुनियाद व्यक्ति पर टिकी होगी। गांधीजी ने लिखा है—"ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिंदगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहां तो समुद्र की लहरों की तरह जिंदगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य बिन्दु होगा।"[61]

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचार

गांधीजी स्वयं महान राष्ट्रवादी थे। उनके राष्ट्रवाद की नींव गहरी आध्यात्मिकता पर टिकी हुई थी। उन्होंने देश के नित्य प्रति जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग कर मनुष्य को उच्च धरातल पर ले जाने का प्रयास किया था।[62] गांधीजी के लिए राजनीति, राष्ट्रीय हित तथा धर्म में कोई अन्तर नहीं था अतः उन्होंने परा-

धीनता, अत्याचार और अन्याय से भारतीय राष्ट्र को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष किया। डॉ० बुच ने लिखा है—"गांधीजी का राष्ट्रवाद भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा से अनुप्रेरित था। उनकी मान्यता थी कि भारत अपने प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नैतिक आदर्शों का पालन करते हुए ही उन्नत राष्ट्र हो सकता है।"[63]

गांधीजी का राष्ट्रवाद अति पुरातन हिन्दू धर्म समन्वित राष्ट्रवाद था लेकिन उनका हिन्दुत्व इतना व्यापक और उदार था कि उसमें विश्व के सभी धर्मों को समाहित कर लेने की शक्ति थी।[64] गांधीजी के राष्ट्रवाद का मूल तत्त्व प्रेम है। उनका यह विश्वास था कि सभी धर्मों के मूल में प्रेम तत्व विद्यमान है। अतः प्रेम अखिल मानवता के कल्याण की परिधि तक व्याप्त है। राष्ट्रीय सीमा में रहते हुए भी मानव मात्र के प्रति दया एवं सेवा भावना के आदर्श से परिपूरित उनकी राष्ट्रीय भावना थी।[65] शान्ति-प्रसाद वर्मा के अनुसार—'गांधीजी की राष्ट्रीयता की परिधि किसी एक धर्म, संस्कृति अथवा समाज विशेष तक सीमित नहीं थी, उसमें तो हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी धर्मों, संस्कृतियों और समाजों का मुक्त समावेश था।"[66] गांधीजी का राष्ट्रवाद उनके जीवन की साधना का एक अंग है। यह स्वतः ध्येय नहीं है, साधन मात्र है। उनका राष्ट्रवाद राजनीति की अपेक्षा नैतिक अधिक है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गांधीजी के राष्ट्रवाद में अहंकार का, दूसरी जातियों में जबरन बैठने का, अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए दूसरे दुर्बल देशों का उपयोग करने का भाव नहीं है।[67] गांधीजी राष्ट्रवादी विचार में कोई बुराई नहीं मानते थे। उनके राष्ट्रवाद में भारत के दीन दुखियों की मुक्ति का भाव था और विश्व बंधुत्व के साथ मानव सेवा की प्रबल कामना थी। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना राष्ट्रों की स्वेच्छा से और उसका संचालन अहिंसक मार्ग से होना चाहिए। अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीयता में शस्त्रों और शक्ति का प्रयोग वर्जित है।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के बारे में गांधीजी ने स्पष्ट किया है कि—"राष्ट्रवादी हुए बिना कोई अन्तरराष्ट्रीयतावादी नहीं हो सकता। आन्तरराष्ट्रीयता-वाद तभी संभव है जब राष्ट्रवाद सिद्ध हो चुके—यानी जब विभिन्न देशों के निवासी अपना संगठन कर लें और हिल-मिलकर एकतापूर्वक काम करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लें। राष्ट्रवाद में कोई बुराई नहीं है, बुराई तो उस संकुचितता, स्वार्थ-वृत्ति और बहिष्कार वृत्ति में है, जो मौजूदा राष्ट्रों के मानस में जहर की तरह मिली हुई है। हर एक राष्ट्र दूसरे की हानि करके अपना लाभ करना चाहता है और उसके नाश पर अपना निर्माण करना चाहता है। भारतीय राष्ट्रवाद ने एक नया रास्ता लिया है। वह अपना संघटन या अपने लिए आत्म-प्रकाशन का पूरा अवकाश विशाल मानव जाति के लाभ के लिए, उसकी सेवा के लिए ही चाहता है।"[68]

गांधीवाद : एक सुधारवादी एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण

गांधीवाद को उदारवादिता तथा राष्ट्रीयता या क्रान्तिकारिता का समन्वय कह सकते हैं। गांधीजी कोरे सिद्धान्तवादी नहीं थे। वह एक व्यावहारिक विचारक थे।

"गांधी जी युग-पुरुष थे। वह भारत ही नहीं एशिया की जागृति के प्रतीक थे। उनके व्यक्तित्व में योद्धा की निर्भयता, विद्वान् की प्रखरता, साधक की निष्ठा, तपस्वी की तेजस्विता, राजनीतिज्ञ की कुशलता और भक्त की विह्वलता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ था।'[69] गांधीजी एक सुधारवादी संत थे जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को नवीन दृष्टिकोण से देखते थे। रूढ़िगत और औपचारिक धर्म के स्थान पर व्यवस्थित नैतिक अनुशासन को मानते थे। उनके धर्म में ऊँच-नीच, जाति भेद, रंग-भेद आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। वे राजनीति को भी धर्म से पृथक स्वीकार नहीं करते थे। उनका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वयकारी दृष्टिकोण रहता था। गांधीजी मनुष्य को अनिवार्यतः परोपकारी मानते थे। उनका कहना था कि यह परोपकारी भावना उसके सुधार कार्यों में उभरनी चाहिए, यही उनका ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त था।[70]

कबीर के बाद हिन्दू समाज में गांधीजी ही सबसे बड़े सुधारक हुए हैं। प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा लिखते हैं कि –"परन्तु मैं समझता हूँ कि हिन्दू समाज ने गांधी से बड़ा कोई सुधारक पैदा नहीं किया। गांधीजी ने हिन्दू समाज की मूल कमजोरी को पहिचाना। उन्होंने देखा कि असमानता की भावना को हिन्दू समाज से जब तक बिल्कुल ही नष्ट नहीं कर दिया जाएगा, वह न तो पनप सकेगा और न जीवित ही रह सकेगा। वे इस कार्य में जुट गये। पहले किसी सुधारक को काम करने की ऐसी व्यापक सुविधा भी प्राप्त नहीं थी। बुद्ध और शंकराचार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल यात्रा करनी पड़ती थी। उनके पास प्रचार के इतने साधन भी नहीं थे। परन्तु यह भी सच है कि सुधार के प्रश्न को गांधीजी ने जितने सर्वांगीण रूप में लिया उतना पहले के किसी सुधारक ने नहीं लिया था।'[71]

गांधीवादी दर्शन के आधार पर सर्वोदयी समाज की संकल्पना

गांधीजी के विचार सर्वोदयवाद में समाहित हुए हैं। सर्वोदयवाद अथवा विश्वव्यापी उन्नति का मूल आधार मानव स्वभाव में निहित कल्याण कामना है। प्रेम और सत्याग्रह द्वारा वे लोगों का हृदय परिवर्तन करना चाहते थे। हिंसा के लिए उनके हृदय में कोई स्थान नहीं था। सर्वोदयवादी मान्यता के अनुसार यदि नैतिक रूप से अपील की जाय तो लोग स्वेच्छा से अपने अधिक धन माल और सुखों का त्याग कर देंगे।[72] सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है—सबका उदय सबकी उन्नति, सबका कल्याण। सर्वोदय में स्वराज्य अवश्यम्भावी है। इसमें सम्प्रभुता लोगों की शुद्ध नैतिक शक्ति पर आधारित है। यह सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का राज्य है। यह ऐसा राज्य है जिसमें निम्न से निम्न व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता सुरक्षित है और उसे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ आसानी से उपलब्ध होती है।

गांधीजी के अनुसार सर्वोदय का स्वरूप इस प्रकार है—'मेरी राय में हिन्दुस्तान की और सारे संसार की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें बिना खाने और कपड़े के कोई भी रहने न पाये। दूसरे शब्दों में हर एक को अपनी गुजर-बसर के लिए काफी काम मिलना ही चाहिए। यह आदर्श तभी सिद्ध होगा जबकि

जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करने के साधनों पर जनता का अधिकार रहेगा। जिस प्रकार भगवान की पैदा की हुई हवा और पानी सबको मुफ्त मयस्सर होता है, या होना चाहिए, उसी तरह ये साधन भी सबको बिना रोक-टोक के मिलने चाहिए। उन्हें दूसरों को लूटने के लिए लेन-देन की चीजें हरगिज नहीं बनने देना चाहिए।"[73] आर्थिक समानता के लिए गांधीजी ने मशीनों का भी विरोध किया था। उनका विश्वास था कि बड़े पैमाने पर उत्पादन से हजारों हजार लोगों में बेकारी फैलेगी और कुटीर व्यवसाय समाप्त हो जायेंगे। उनकी राय में सर्वोदय समाज एक बड़े परिवार की तरह होना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्ट क्षमता के अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता से साथ सेवा करे। सर्वोदयवाद केवल आर्थिक जीवन तक ही सीमित नहीं है अपितु इसमें मानव के समग्र विकास की संभावनाएँ निहित हैं। यह गांधीवाद का निचोड़ कहा जा सकता है।

गांधीवादी चेतना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में गांधीवादी चेतना की अभिव्यक्ति निम्नांकित प्रवृत्तियों के माध्यम से हुई है—

1 अस्पृश्यता उन्मूलन।
2 साम्प्रदायिक एकता पर बल।
3 खादी एवं ग्रामोद्योग का प्रचार-प्रसार।
4 सत्याग्रह, असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलनों का अनुसमर्थन।
5 सामाजिक कुप्रथाओं एवं रूढ़िवाद का विरोध।
6 अहिंसा की शक्ति में अटूट विश्वास।
7 नारी मुक्ति का समर्थन (बाल विवाह, सती-प्रथा, बहु विवाह का विरोध एवं विधवा विवाह का समर्थन)
8 द्रुतगामी मशीनीकरण एवं औद्योगीकरण का विरोध।
9 आर्थिक अभ्युदय का कार्यक्रम सर्वोदय।
10 आध्यात्मिक निष्ठाओं का परिप्रेक्ष्य—सत्य ईश्वर का पर्याय, धर्म और नैतिकता, प्रार्थना, व्रत संयम आदि।
11 अपरिग्रह और स्वावलम्बन।
12 मानवतावादी जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह—विश्व बंधुत्व, समानता, प्रेम और मानवतावाद में आस्था।

1 अस्पृश्यता उन्मूलन

हिन्दू समाज में छुआछूत के कारण जातीय एकता को बड़ा धक्का लगा है। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए आजीवन अथक प्रयत्न किये, किन्तु फिर भी यह बुराई समाज से दूर नहीं हो सकी है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर को इसके

दुष्परिणाम भुगतने पड़े थे। श्री अम्बेडकर की पीड़ा को कविवर बाबूलाल सुमन ने स्थापित करते हुए लिखा है—

"शोषण तो सर्वत्र अछूतों का है।
भारत-घर नर-भक्षी भूतों का है॥
उनका कोई व्यक्ति नहीं अपना है।
सुख सुविधा सर्वत्र मात्र सपना है॥'[74]

बाबा साहब अम्बेडकर का सुयोग्य प्रतिभा का धनी होते हुए भी हिन्दू सवर्णों में समता का स्थान प्राप्त नहीं हो सका। श्री अम्बेडकर जैसी विभूति पर वस्तुत. हिन्दू-समाज को गर्व करना चाहिए था। गांधीजी के जाति-वर्ण-भेद उन्मूलन में अम्बेडकर ने प्रभावशाली सहयोग दिया था। सुमन जी ने गांधीजी के विचारों से प्रभावित होकर 'अम्बेडकर' महाकाव्य में लिखा है कि—

"कोई अंग देश का दूषित,
दुखी अवर्ण सवर्णों से क्यों ?
विशृंखलता मिटे हमारी—
सर्वोदय सबका हो मन से।"[75]

श्री अम्बेडकर ने भारत की अछूत समस्या को मिटाने के लिए कदम-कदम पर संघर्ष किया था। उन्होंने देखा कि राजनीति का दुष्परिणाम अछूतों पर सबसे अधिक पड़ा है। यथा—

'भ्रम में पड़कर सभी अछूत अभागे
अत्र-तत्र सर्वत्र दौड़ते भागे॥
सचमुच यहाँ न उनका कोई साथी
राजनीति है बड़े-बड़ों की हाथी॥"[76]

जननायक गांधी ने राष्ट्रीय एकता के लिए छुआछूत का प्रबल विरोध करते हुए राष्ट्रधर्म को सर्वोपरि बताया—

"जननायक ने वाणी बोली, अस्पृश्यता गरल बतलाया।
अलग अछूत नहीं हिन्दू से, हिन्दू को दीपक दिखलाया॥
छुआछूत का भेद मिटेगा, वर्ना मेरी लाश चलेगी।
या तो यहाँ एकता होगी, वर्ना मेरी चिता जलेगी।"[77]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य में सभी धर्मावलम्बियों एवं जातियों के लोगों का समान योगदान रहा है। गांधीजी ने स्वयं कहा था कि यदि छुआछूत का भेद रखा गया तो स्वतन्त्रता प्राप्ति में भी बाधा उत्पन्न हो सकती है—

"छुआछूत अभिशाप बड़ा ही
है कलंक भारत समाज का
बाधा निश्चय ही डालेगा
यह स्वतन्त्रता के सुकाज में।"[78]

गाधीजी स्वय किसी से छुआछूत का भेदभाव नही बरतते थे। उनका कहना था कि अछूत कहे जाने वाले लोग ही हिन्दुओ को पवित्र बनाते हैं। यथा—

"हम उनको अछूत बतलाते, वे हमको पवित्र करते हैं।
वे सबकी सेवा करते हैं, हम उनसे भिडते डरते॥
भगी जितनी सेवा करते, नही सगा बेटा कर सकता।
कौन बालटी मे मैला भर अपने कधे पर धर सकता॥"[79]

भारत में अछूत समस्या की कटुता को देखते हुए अग्रेजो ने उन्हे हिन्दुओ से पृथक जाति मानने का निर्णय किया था। गाधीजी ने इसका विरोध तो किया किन्तु वे अस्पृश्यता को कलंक मानते रहे। गोल मेज परिषद् मे जाकर उन्होने कहा कि—

"अस्पृश्यों की पृथक जाति कर—हमे न वर्गीकरण चाहिए।
छुआछूत क्या ? क्या अछूत है ? हमे न ऐसा मरण चाहिए।
अस्पृश्यता मिटा न सके तो—हिन्दू धर्म डूब जायेगा।
अस्पृश्यता अगर मिट जाये—भारतवर्ष विजय पायेगा॥"[80]

महान् धनुर्विद्या विशारद निषादपुत्र एकलव्य को शूद्र होने के कारण गुरु द्रोण ने शिष्य बनाने से मना कर दिया था। 'एकलव्य' महाकाव्य मे डॉ० रामकुमार वर्मा ने एकलव्य की भावनाओ को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"एकलव्य सहन की है वर्ग की विगर्हणा,
शूद्र कहलाते रहे सदा भाव मान के।
किन्तु जब मानव को विद्या का निषेध हो,
बात क्या नही है क्रान्तिकारी बन जाने की ?'[81]

कांग्रेस की बागडोर स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय महात्मा गाधी के सुदृढ हाथो मे थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ उन्होने कई अन्य आन्दोलन भी चलाये। अस्पृश्यता आन्दोलन उनमे से एक था—

'करो अछूतोद्धार भाइयो। कहा 'नागपुर' कांगरेस मे।
"एक रहो सब, एक रहा सब, बनी रहे एकता देश मे॥
खादी के तारो को जोडो, धो दो छुआछूत की स्याही।
कैसा हिन्दू, मुसलमान क्या, हिन्दू मुसलिम हैं हमराही॥"[82]

गाधीजी हिन्दू धर्म मे आस्था रखते थे किन्तु उनका अन्य धर्मों से विरोध नही था। हरिजनो को वे हिन्दू ही मानते थे और उन्हे सवर्ण के समान महत्त्व देते थे। उन्होंने हरिजनों को अलग जाति के रूप मे पृथक नही होने दिया। यथा—

"किया आमरण व्रत अजेय रह,
बना ऐतिहासिक वह अनशन !
भारत आत्मा एक अखण्डित—
रहे हिन्दुओ मे ही हरिजन,
जाति वर्ण—अध पोछ, चाहते
मे संयुक्त रहे भू जन गण।"[83]

मानव-मानव सभी समान हैं। उन्हें पवित्र-अपवित्र मानना उचित नहीं। मनुष्य तो भले-बुरे कार्यों से ही पवित्र-अपवित्र होता है, यह अवधारणा भी महाकाव्यों में व्यक्त हुई है—

"जिन्हें अपावन कहते हैं हम वे भी पावन हैं।
जो कुरूप हैं, वे भी औरों के मन भावन हैं।
जिसे धूप में सभी झाँकते, कहते रेगिस्तान,
कहते नखलिस्तान, वहाँ पर भी तो सावन है।"[84]

इस प्रकार अस्पृश्यता उन्मूलन की भावना का प्रबलतम समर्थन निश्चय ही गांधीवादी चेतना का प्रभाव है।

2. साम्प्रदायिक एकता पर बल

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के लिए जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदि का भेद असह्य था। भारत में अनेक सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए सभी धर्म और सम्प्रदाय में एकता होनी चाहिए। साम्प्रदायिक कट्टरता किसी भी राष्ट्र को खंडित कर देती है। 'देवपुरुष गांधी' महाकाव्य में श्री रमेशचन्द्र शास्त्री ने गांधीजी के साम्प्रदायिक एकता के प्रयासों का चित्रण किया है। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में सभी प्रकार के भेदों को मिटाकर भारतवासियों का एक संगठन बनाया था; जिसमें सभी सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित थे—

"अफरीका के हिन्दुस्तानी हुए संगठित एक संघ में।
भेदभाव को भुलाकर रंगे सभी थे एक रंग में।।
हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, गुजराती, सिन्धी, मद्रासी।
गौरव का अनुभव करते थे, कहलाने में भारतवासी।।"[85]

देश विभाजन के समय साम्प्रदायिक दंगे हुए। गांधीजी ने उन दंगों की आग में प्रवेश कर साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने की चेष्टा की थी—

"हिन्दू हो आर्त मुसलमा
वह धोता तन मन के व्रण,
नैराश्य विषाद घटा तम
हरता बन प्रेम प्रभंजन।"[86]

प्रत्येक जाति अथवा सम्प्रदाय के लोग गांधीजी के घर को अपना ही घर समझते थे। गांधीजी भी सभी सम्प्रदाय के लोगों को परिवारवत मान्यता देते थे। उनकी इस सहृदयता ने साम्प्रदायिक सौमनस्य को पनपाया—

हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, पारसी—गांधी का घर सबका घर था।
काला हो या गोरा कोई—सबमें सम गांधी हरिहर था।"[87]

देश विभाजन के समय साम्प्रदायिक दंगे हुए। गांधीजी ने उन दंगों के बीच जाकर शांति स्थापित की—

गाधीजी का चर्खा आन्दोलन आजादी और स्वावलम्बन का प्रतीक बन गया था—

"चर्खे चलने लगे देश मे—देने को आजादी।
गा गा कर कबीर बुनता था—गाँव गाँव मे खादी॥
कहा नेहरू ने जनता से—गाधीजी के स्वर म।
स्वावलम्बन मे अमर शक्ति है—स्वतन्त्रता खद्दर मे॥"[96]

गाधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ गाँवो की आर्थिक दशा सुधारने हेतु अनेक कार्य किये। खादी वस्त्रो का निर्माण, कुटीर उद्योगो का प्रचार करके जन-जीवन मे श्रम के महत्व का प्रतिपादन किया। पत जी का लोकायतन' महाकाव्य गाधीवादी चेतना के अनुप्रेरित है—

"खादी के पट मे लपेट मैं जन को
सधि-पत्र दूँगा श्रम-मूल्य समन्वित,
विक्रम-स्पर्धा रहित यत्र युग का श्रम
खादी सा ही हो पावन, जन-आहृत।"[97]

श्री पन्त ने 'लोकायतन' मे गाधीजी के आर्थिक आन्दोलनो का यथा प्रसग नानाविधि चित्रण किया है, जिसमे खादी उद्योग को अहिंसा का प्रतीक कहा गया है। यथा—

"शुद्ध अहिंसा की प्रतीक शुचि
खादी, कातें पूत सूत जन,
तकली, चरखे, करघे ढाँपे
नगे भूखे भारत का तन।"[98]

'लोकायतन' मे आदर्श गाँव की रचना हेतु गाधीजी के ग्रामोद्योग की ही सकल्पना को हरि अपनाता है—

"हरि ने तकली, चरखे करघे
जुटा, सिरी-कर से सचालित
खोला गृह उद्योग शिविर का,
स्त्री जन के जीवन विकास हित।"[99]

गाधीजी के लिए स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ साथ ग्रामोत्थान भी आवश्यक था। उन्होंने ग्रामोद्योग विकास हेतु चर्खे को प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया। श्री मिश्र के महाकाव्य 'मानवेन्द्र' मे प० नेहरू ने महात्मा गाधी के नेतृत्व का आह्वान किया और भारत को अग्रेजो की दासता से मुक्त करने हेतु मिलकर आन्दोलन चलाया—

'देखो एक तपस्वी तपरत, चर्खा कात रहा है।
कात कात कर दीन-हीन को—कपडा बाँट रहा है॥
जिसका चीर हरण होता यह—उसकी लज्जा बुनता।
पर दु खो की व्यथा कथाएँ,—बुनता बुनता सुनता॥"[100]

खादी प्रचार-प्रसार के साथ-साथ ग्रामोद्योग और नारी के आर्थिक स्तर को

ऊँचा उठाने में भी गांधीजी ने प्रयत्न किया था। श्री पंत ने गांधीवाद से प्रभावित होकर ही ग्रामोद्योग में तकली, चरखे को महत्त्व दिया है—

"तकली चरखे लेकर स्त्री जन
सूत कातती गा ऋतु वर्णन,
नव जीवन पट बुनती, धुनती
नए विचारों से पिछड़ा मन।
सुनती गाधी गौरव कीर्तन
राष्ट्र जागरण के वन नायक
राम कृष्ण की पुण्य भूमि में
प्रकट हुए जन भाग्य विधायक।"[101]

वस्तुत गाधीजी की ग्रामोद्योग सरल्पना उनके चिन्तन का व्यावहारिक पहलू प्रस्तुत करती है। इसी परिप्रेक्ष्य में बहुआयामी गांधीवादी चेतना का व्यावहारिक स्वरूप उद्घाटित हुआ है।

4 सत्याग्रह, असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अनुसमर्थन

अंग्रेजो को हिन्दुस्तान से निकालने के लिए गाधीजी ने अनेक उपाय किये। उन्हें जन सहयोग प्राप्त हुआ और जन जागृति उत्पन्न हुई। गाधीजी सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह मे आस्था रखते थे। उन्होंने अंग्रेजी शासन के प्रति सत्याग्रह, असहयोग एव सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने के लिए जनता का आह्वान किया। प्रेमचद जी ने तो इस आन्दोलन (असहयोग) मे भाग लेने हेतु सरकारी सेवा से त्यागपत्र ही दे दिया था—

"असहयोग के आन्दोलन मे
लिया नौकरी से मुख मोड़
बातों ही बातो मे मासिक
दिये सवा सौ रुपये छोड़।"[102]

गाधीजी ने आत्मशक्ति, प्रेम और अहिंसा के मार्ग द्वारा देश को अंग्रेजो की दासता से मुक्त कराया। राजनीति मे नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देना गांधीजी की अद्भुत देन रही है। अंग्रेजो के विरुद्ध आन्दोलन करते समय सत्याग्रह ही उनका प्रमुख अस्त्र था—

"अत्याचार रोकने का है
सत्याग्रह ही अद्भुत मन्त्र
जीत नही सकते हैं उसको
अस्त्र-शस्त्र वैज्ञानिक यन्त्र
प्रेम अहिंसा न्याय तर्क ही
हैं सत्याग्रह के आधार
उसका सत्य प्रधान अंग
जैसे नौका का

देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन मे असहयोग आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विदेशी शासन से असहयोग करते हुए गाधीजी ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया था। प्रत्येक भारतीय ने मन, वचन और कर्म से इस आन्दोलन मे सहयोग दिया—

"रहा वह असहयोग संग्राम
सत्य का अद्भुत दिव्य प्रयोग,
अनय का था वह घोर विरोध
किन्तु सत्कार्यों मे सहयोग।"[104]

जब देश मे अंग्रेजो की क्रूरता बढी और जनता पर निमर्मपूर्वक अत्याचार होने लगे, तो गाधीजी ने सत्याग्रह प्रारम्भ किया था—

"अत्याचार बढे जब जग मे सत्याग्रह की सृष्टि हुई तब।
शक्ति अहिंसा बन कर आई सभा स्वय मे अस्त्र-शस्त्र सब।
सच्चा सत्याग्रही वही है जिसने मन मथ सत्य निकाला।
वही उजाला कर सकता है—जिसके मन मे हुआ उजाला।।"[105]

गाधीजी द्वारा चलाया गया असहयोग आन्दोलन ऐसा अस्त्र था, जिसके द्वारा राजनीतिक चेतना का प्रयास हुआ और मुक्ति आन्दोलन को भी बल मिला—

"असहयोग आन्दोलन मे अब
आया वह अनिवार्य महत् क्षण,
फैले गाँवो मे भू ज्वाला।"[106]

सत्याग्रह आन्दोलन जन समर्थित आन्दोलन था। पंतजी ने गाधीजी के सिद्धान्तों में आस्था व्यक्त करते हुए सत्याग्रह का समर्थन किया था। सुन्दरपुर गाँव की नायिका (सिरी) के माध्यम से कवि श्री पंत ने असहयोग का समर्थन कराया है—

"नम्र अवज्ञा, असहयोग का
सिरी बताती गूढ प्रयोजन
शस्त्र संगठित यत दैत्य को
यह मानव का प्रेम निमंत्रण।"[107]

असहयोग आन्दोलन के प्रथम चरण में नौकरशाही एवं विदेशी वस्तुओ का वहिष्कार किया गया—

"यह नया अस्त्र था असहयोग, युग ने था जिसको अपनाया,
था वज्र शक्ति का यह प्रहार, था जिससे शासन थर्राया।
था जनता को आदेश मिला, नौकरशाही का त्याग करें
भावना स्वदेशी अपनायें, इस धरती से अनुराग करें।"[108]

सविनय अवज्ञा द्वारा अंग्रेजो के शासन का विरोध किया गया। इससे जनता मे उत्साह उमड पडा—

"सविनय होने लगी अवज्ञा
राजाज्ञा की भारत मे

वीरों ने उत्साह दिखाया
आघातों में स्वागत में।"[109]

गांधीजी की बद्धमूल धारणा थी कि विज्ञान के विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों से महाविनाश होगा। सत्याग्रह ही आज की नीति है—

"अणु बन में अणु बल पर पाना जय
विश्व ध्वंस को देना आमंत्रण,
यदि सम्भव हो तो, सत्याग्रह ही से
सम्भव मानवता का संरक्षण।"[110]

कलकत्ता कांग्रेस महासभा में असहयोग आन्दोलन का मसौदा तैयार किया गया और इसी के द्वारा भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ा गया। असहयोग आन्दोलन सत्याग्रह के द्वारा ही चलाया गया था—

"असहयोग में दीप शिखा है, विष में बुझी हुई आरी भी।
असहयोग में शान्ति व्याप्त है और क्रान्ति की चिनगारी भी॥
असहयोग में शुद्ध अहिंसा, सत्याग्रह का शख बोलता।
असहयोग में आत्मा बल है, आत्मा बल से दैत्य डोलता॥"[111]

गांधीजी के आह्वान पर देश के स्वतंत्रता सेनानियों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में पंडित नेहरू भी अत्यधिक क्रियाशील रहे—

'सविनय आज्ञा भग राज्य की—करता वीर सिपाही।
और सिपाही पर संगीनें—करती थीं मनचाही॥
आज्ञा हुई—जलूस न निकले, पर जलूस बढ़ता था।
निडर निहत्था फूल सुगन्धित काँटों से लड़ता था॥"[112]

महात्मा गांधी ने सत्याग्रह द्वारा न केवल अंग्रेजों के अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध ही आन्दोलन चलाया था अपितु सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए भी इसका सहारा लिया। लोकायतनकार की इन पंक्तियों में गांधीजी के सत्याग्रह के सिद्धांत की ही संपुष्टि हुई है—

"गाँव गाँव में सत्याग्रह का
मैं संदेश करूँगा वितरण
राष्ट्र यज्ञ में बापू के संग—
जन तन मन कर सर्व समर्पण।"[113]

अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने के लिए भारतीय जनता के पास भौतिक बल (शस्त्रास्त्र आदि) का अभाव था। गहरी सूझ बूझ और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए गांधीजी ने अंग्रेजी शासन से लड़ने के लिए सत्याग्रह, असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाये। इससे भारतीय जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। बुराइयों, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए गांधी जी के ये सिद्धान्त आज भी प्रभावकारी हैं।

5 सामाजिक कुप्रथाओ एव रूढिवाद का विरोध

भारतीय सामाजिक जीवन मे बहुत सी कुप्रथाएँ, रूढियाँ और बुराइयाँ जन्म ले चुकी थी। गाधीजी ने अनेक आन्दोलनों द्वारा इन बुराइयो को दूर करने का प्रयास किया। यह प्रयास गाँधीवादी विचार दर्शन का सामाजिक पक्ष था। विवाह प्रथा मे खान-पान, जातीय उच्चता आदि का इतना गहरा प्रभाव छाया हुआ है कि समय और धन का तो अपव्यय होता ही है, योग्य वर भी नही मिल पाते—

"हिन्दू जनता मे विवाह की रीति नीति कैसी है ?
किसी जाति के जन समाज मे वहो नही ऐसी है ।।
कितना खाना, कितना पीना, कितना समय गँवाना।
कन्याओ के घर वालो पर कितना भार बढाना ।।"[114]

कन्याओ के लिए धनाभाव के कारण योग्य वर नही मिलते। इससे कन्याएँ तथा माँ-बाप तक असमय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस विडम्बना का चित्रण कविवर श्री रमेशचन्द्र शास्त्री ने किया है—

"इसी बोझ से दब कर लाखो कन्यायें मरती हैं
निज शरीर को ज्वालाओ की भेंज स्वय करती हैं ।।
लाखो माता-पिता गले मे फाँसी खा जाते हैं।
वो दहेज के लिए क्यो धन नही जुटा पाते हैं।"[115]

हिन्दू समाज मे विवाह प्रथा दोषपूर्ण होने से समाज भी दुर्बल होता जा रहा है। इस कुप्रथा पर प्रहार करते हुए कवि ने लिखा है कि—

"यह विवाह की प्रथा क्या है एक दानवी माया।
जिसने की हिन्दू समाज की जर्जर काया ।।
प्रथा पुरानी कथा पुरानी, यह निर्लज्ज बडी है।
इस समाज के जीवन की यह कडवी एक कडी है ।।"[116]

पुरानी रूढियो से समाज का विकास रुक जाता है। गाधीजी ने जनान्दोलन द्वारा पुरानी रीति-रूढियो को दूर हटाने का कार्य किया। पत कृत 'लोकायतन' महाकाव्य मे गाधीवादी प्रभाव देखने को मिलता है—

"आत्म मुक्ति के रिक्त गगन मे
भटके जन मन को दिखला पथ,
रूढि रीति कर्दम से निष्क्रिय
था उबरना भू जीवन रथ।"[117]

गाधीजी विलायत पढ़ने जाना चाहते थे। इस पर जाति के पचो ने मना कर दिया किन्तु गाधीजी ने पचो के निर्णय को ठुकरा दिया और रूढिवाद का तिरस्कार करते हुए विलायत पढने गये। यथा—

" 'वह जा सकता नही विलायत', पचो ने यह बात सुनाई।
'मोढ जाति' के इस निर्णय पर बढ मोहन ने लात लगाई।"[118]

स्वतत्रता सग्राम मे देश का नेतृत्व करने से पूर्व गाधीजी ने भारत भ्रमण

किया। उन्होंने कलकत्ता में काली मंदिर में बकरों की बलि को देखा। विश्वनाथ की नगरी काशी में नंगे बाल भिखारी, भूखे स्त्री-पुरुष और जीवन की सड़ांध को देखा। इन तीर्थों में भगवान के दर्शन के नाम पर ढोंग पाखण्ड परिव्याप्त था। गांधीजी को इन सामाजिक ढोंग-पाखण्डों के प्रति विगर्हणा हुई—

"पाखण्डी कैसे-कैसे ये
रचते हैं पाखण्ड यहाँ पर ?
फिर भी उन्हें न कुछ भी कहता
कितना सहनशील है ईश्वर ॥"[119]

कृत्रिम जीवन जीने से मानव रुग्ण हो गया है। स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए टोटकों की शरण जाने लगा है। गांधीजी ने प्राकृतिक इलाज को ही महत्त्व दिया—

"मानव ने अपने को जकड़ा
है कितने ही जंजालों में।
डाक्टर, वैद्य, हकीम, दवाई
और टोटकों के जालों में ॥"[120]

गांधीजी ने परम्परावादी जड़ रीति-रिवाजों से भारतीय सामाजिक जीवन का उद्धार किया। 'लोकायतन' महाकाव्य में श्री पंत ने गांधीवादी चिन्तन को ही प्रकारान्तर से वाणी दी है—

"जन समाज से विमुख, स्वार्थ पर
जाति पाँति पथ मत में खण्डित
विश्व विरत वह, आत्म मुक्तिरत
दुख दारिद्र्य नरक, जीवित-मृत !
देख रहा था जग विस्मय हत
पुण्य भूमि का नव्य जागरण
युग-युग के वाष्पों से अमलिन
सत्य दीप्त था अन्तर-दर्पण।"[121]

निश्चय ही गांधीवादी विचार दर्शन का सामाजिक पक्ष अपनी व्यावहारिक उपलब्धियों के कारण विशिष्ट और महत्वपूर्ण है।

6. अहिंसा की शक्ति में अटूट विश्वास

'रामराज्य' गांधीजी का परम आदर्श था। अहिंसा के माध्यम से रामराज्य को प्राप्त करना उनका लक्ष्य था। गांधीजी के राम भी अहिंसा प्रिय थे। राम के वनवास गमन के समय गुह ने उनका आदर सत्कार किया और निरामिष भोज्य पदार्थ इसी सद्भाव से जुटाये थे। यथा—

"कुछ भेंटें भी इक निषाद ने
धीरे से जतलाया

"ना ना राम नही लेंगे वे"
गुह ने उसे बताया।
मृगया प्रिय हैं यद्यपि रघुवर
पर निरीह पशुओ का
हनन नही है वांछित उनको
यथा निबल मनुजों का।"[122]

भारत की दुर्दशा को देखकर देव-सभा मे मंत्रणा हुई और अंग्रेजो की पराधीनता से मुक्त करने के लिए विष्णु ने पुनः संकल्प किया; किन्तु अब गांधीजी के रूप मे अवतार लेकर अहिंसा द्वारा देश को मुक्त करने की इच्छा व्यक्त की। कवि के शब्दो मे—

"मैं अहिंसा का पुजारी हूँ स्वयं—
चाहता हूँ लोक मे हिंसा न हो।
शस्त्र हिंसा को बढ़ाते हैं सदा,
देवता हिंसक बने हैं कब कहो ?"[123]

गांधीजी सभी व्रतो का मूल अहिंसा को मानते थे—

'सभी व्रतो का मूल अहिंसा
यही महाव्रत कहलाती है।
अन्य व्रतो की गणना इसकी
सीमा मे ही आ जाती है।"[124]

गांधीजी का लक्ष्य अहिंसा और शान्ति के द्वारा सत्य को प्राप्त करना था। जैसा कि 'जननायक' के यशस्वी प्रणेता श्री मिश्र जी ने स्वीकारा है—

'सेवा करने लगे सत्य की—नर नारायण ईश्वर सेवी।
गांधीजी के हृदय कमल पर—गाने लगी अहिंसा देवी॥
बढती चली अहिंसा मन म वाणी पर शुभ शान्ति विराजी।
जहाँ शान्ति सन्धि बहती है, वहाँ नही रहती नाराजी॥'[125]

गांधीजी की अहिंसा तो सत्य का ही एक पहलू थी। उनके विचार से विशुद्ध सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही अहिंसक हो सकता था—

'काम न सत्यवादियो का है—हिंसा, हत्या, आग लगाना।
आग लगाना बहुत सरल है बहुत कठिन है आग बुझाना॥
शुद्ध अहिंसावादी वह है—जो पीडा मे मुक्त बन जाये।
गोता मार कूल पर निकले—काटो मे भी फूल खिलाये॥'[126]

विश्व को महाविनाश स सत्य-अहिंसा ही बचा सकते हैं गांधीजी की यह बद्ध-मूल अवधारणा थी—

'रण प्रांगण बनता जाता जग
बलि होते अगणित निरीह जन,
सत्य-अहिंसा ही कर सकते।
विश्व ध्वंस से जन संरक्षण।"[127]

अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता आन्दोलन चलाते समय गांधीजी ने अहिंसा को सामूहिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया था। यथा—

"सामूहिक अस्त्र अहिंसा,
स्वातंत्र्य युद्ध की निश्चय
सर्वोत्तम देन जगत को—
अणु मर्दित भू हो निर्भय।"[128]

स्वतंत्रता आन्दोलन चलाने समय गांधीजी उग्रवादी राजनीति के विरुद्ध थे। उन्हीं की प्रेरणा से आन्दोलन के समय लोगों ने शान्ति और अहिंसा का मार्ग अपनाया। कविवर श्री कृष्ण सरल ने 'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य में गांधीजी के इस नेतृत्व का मुक्त हृदय से स्वागत करते हुए लिखा है कि —

"अस्त्र अहिंसा का ही उनका, हमें मुक्ति दे सकता,
भारत की तरणी तूफानी सागर से खे सकता।
यदि अभीष्ट हो मुक्ति, शान्ति पथ ही हम सब अपनायें
सत्याग्रह द्वारा हम अपना विजयकेतु फहरायें।"[129]

अहिंसा वीरों को धर्म स्वीकारने वाले गांधीवादी चिन्तन के अनुसार कवि की धारणा है—

"और अहिंसा—दया दृष्टि का है यह पुण्य प्रकाशन,
जो न दुखाएँ किसी जीव का, करे सदा हित चिन्तन।
वीरों का है धर्म अहिंसा, यह पर्याय न भय का
सह जीवन का दृष्टिकोण यह, तत्व है परम सदय का।।"[130]

हिंसा, दमन, उत्पीड़न का प्रतिकार अहिंसा से ही किया जा सकता है। भारत से अंग्रेजों की सत्ता को हटाने में गांधीजी ने आत्मबल और अहिंसा का ही सहारा लिया। 'वीरायन' महाकाव्य के प्रणेता ने प्रतिपादन किया है कि गांधीजी ने भगवान महावीर के सिद्धान्तों को अपनाते हुए ही देश की मुक्ति आन्दोलन में सफलता प्राप्त की—

'जिस असि मे नहीं अहिंसा है, वह काट नहीं कर सकती है।
जो तेज आत्मबल से प्रेरित, वह प्यास नही भर सकती है।
'गांधी' के पास अहिंसा थी, वाणी थी महावीर वाली।
जय मिली बदन डाली दुनिया, की मुक्त कैद से उजियाली।।"[131]

अहिंसा-शक्ति में अनन्त क्षमता का प्रतिपादन करते हुए महाकाव्यकार मिश्र जी कहते हैं कि—

"शक्ति अहिंसा मे अद्भुत,
सर्व सिद्धियाँ प्राप्त की।
धरती दुर्गा शारदा,
एक शक्ति में व्याप्त।[132]

वृद्ध सम्राट दुष्यन्त की कामना थी कि भावी शासक अहिंसक ही हो—

"ना ना राम नही लेंगे वे"
गुह ने उसे बताया।
मृगया प्रिय हैं यद्यपि रघुवर
पर निरीह पशुओं का
हनन नही है वांछित उनको
यथा निबल मनुजों का।"[122]

भारत की दुर्दशा को देखकर देव सभा मे मंत्रणा हुई और अंग्रेजो की पराधीनता से मुक्त करने के लिए विष्णु ने पुन अवतार लिया, किन्तु अब गाधीजी के रूप म अवतार लेकर अहिंसा द्वारा देश को मुक्त करने की इच्छा व्यक्त की। कवि के शब्दो मे—

"मैं अहिंसा का पुजारी हूँ स्वय—
चाहता हूँ लोक म हिंसा न हो।
शस्त्र हिंसा को बढाते हैं सदा,
देवता हिंसक बने हैं कब कहो ?"[123]

गाधीजी सभी व्रतो का मूल अहिंसा को मानते थे—

'सभी व्रतो का मूल अहिंसा
यही महाव्रत कहलाती है।
अन्य व्रतो की गणना इसकी
सीमा मे ही आ जाती है।"[124]

गाधीजी का लक्ष्य अहिंसा और शान्ति के द्वारा सत्य को प्राप्त करना था। जैसा कि जननायक' के यशस्वी प्रणेता श्री मिश्र जी न स्वीकारा है--

'सेवा करने लगे सत्य की—नर नारायण ईश्वर सभी।
गाधीजी के हृदय कमल पर---गाने लगी अहिंसा देवी।।
बढती चली अहिंसा मन मे वाणी पर शुभ शान्ति विराजी।
जहाँ शान्ति सरिता बहती है, वहाँ नही रहती नाराजी।।'[125]

गाधीजी की अहिंसा तो सत्य का ही एक पहलू थी। उनके विचार स विशुद्ध सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही अहिंसक हो सकता था—

'काम न सत्यवादियो का है---हिंसा, हत्या, आग लगाना।
आग लगाना बहुत सरल है बहुत कठिन है आग बुझाना।।
शुद्ध अहिंसावादी वह है---जो पीडा मे सुख बन जाये।
गोता मार कूल पर निकले---काटो म भी फूल खिलाये।।'[126]

विश्व को महाविनाश से सत्य-अहिंसा ही बचा सकते है गाधीजी की यह बद्धमूल अवधारणा थी--

'रण प्रागण बनता जाता जग
बलि होते अगणित निरीह जन,
सत्य अहिंसा ही कर सकते।
विश्व ध्वस से जन सरक्षण।"[127]

अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाते समय गांधीजी ने अहिंसा को सामूहिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया था। यथा—

"सामूहिक अस्त्र अहिंसा,
स्वातन्त्र्य युद्ध की निश्चय
सर्वोत्तम देन जगत को—
अणु मंदित भू हो निर्भय।"[128]

स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाते समय गांधीजी उग्रवादी राजनीति के विरुद्ध थे। उन्हीं की प्रेरणा से आन्दोलन के समय लोगों ने शान्ति और अहिंसा का मार्ग अपनाया। कविवर श्री कृष्ण सरल ने 'सरदार भगतसिंह' महाकाव्य में गांधीजी के इस नेतृत्व का मुक्त हृदय से स्वागत करते हुए लिखा है कि—

"अस्त्र अहिंसा का ही उनका, हमें मुक्ति दे सकता,
भारत की तरणी तूफानी सागर में खे सकता।
यदि अभीष्ट हो मुक्ति, शान्ति पथ ही हम सब अपनायें
सत्याग्रह द्वारा हम अपना विजयकेतु फहरायें।"[129]

अहिंसा वीरों को धर्म स्वीकारने वाले गांधीवादी चिन्तन के अनुसार कवि की धारणा है—

"वीर अहिंसा—दया दृष्टि का है यह पुण्य प्रकाशन,
जो न दुखाएँ किसी जीव को, करे सदा हित चिन्तन।
वीरों का है धर्म अहिंसा, यह पर्याय न भय का
यह जीवन का दृष्टिकोण यह, तत्व है परम सदय का।।"[130]

हिंसा, दमन, उत्पीड़न का प्रतिकार अहिंसा से ही किया जा सकता है। भारत से अंग्रेजों की सत्ता को हटाने में गांधीजी ने आत्मबल और अहिंसा का ही सहारा लिया। 'वीरायन' महाकाव्य के प्रणेता ने प्रतिपादन किया है कि गांधीजी ने भगवान महावीर के सिद्धान्तों को अपनाते हुए ही देश की मुक्ति आन्दोलन में सफलता प्राप्त की—

"जिस असि में नहीं अहिंसा है, वह काट नहीं कर सकती है।
जो तेज आत्मबल से प्रेरित, वह प्यास नहीं भर सकती है।
'गांधी' के पास अहिंसा थी, वाणी थी महावीर वाली।
जब मिली बदन काली दुनिया, की मुक्त कैद से उजियाली।।'[131]

अहिंसा-शक्ति में अनन्त क्षमता का प्रतिपादन करते हुए महाकाव्यकार मित्र जी कहते हैं कि—

"शक्ति अहिंसा में बहुत,
सब सिद्धियाँ प्राप्त को।
धरती दुर्गा शारदा,
एक शक्ति में व्याप्त।[132]

वृद्ध सम्राट दुष्यन्त की कामना थी कि भावी शासक अहिंसक ही हो—

"अरे, वह युग कभी क्या आ सकेगा धरातल पर—
कुटुम्बी शासकों का जब अहिंसा अस्त्र होगा ?
हृदयता-धीरता-दृढ़ता-अलंकृत सत्यता के—
नियंत्रित हस्त में सयमित समता-शस्त्र होगा ?"[133]

एक कवि की तो सकल्पना है कि भगवान विष्णु ने अहिंसा के पुजारी महात्मा गाधी के रूप में जन्म लिया और अहिंसक नीति में ही भारत को स्वतंत्र करवाया । 'देवपुरुष गाधी' महाकाव्य की इन पक्तियों में गाधीजी की अहिंसा ही मुखरित हुई है—

"मैं अहिंसा का पुजारी हूँ स्वय
चाहता हूँ लोक में हिंसा न हो।
शस्त्र हिंसा को बढाते हैं सदा,
दक्षता हिंसक बने हैं कब कहो ? '[134]

'सत सिपाही' महाकाव्य में गुरु गोविन्दसिंह के मुख से श्री उदयभानु हस ने हिंसा और अहिंसा का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है उस पर गांधीवाद का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। यथा—

'आदर्श अहिंसा का विचार सज्जन मानस का मोती है।
पर असुर शक्तियों के विरुद्ध हिंसा आवश्यक होती है।।
नि शक्त अहिंसा ही हिंसा को स्वय निमत्रण है देती।
सर्वथा नपुसक नीति राष्ट्र का स्वाभिमान है हर लेती।।'[135]

'मानवेन्द्र' के कवि श्री रघुवीरशरण मित्र ने महात्मा गाधी द्वारा चलाये गये अहिंसक आन्दोलन को उचित ठहराते हुए लिखा है कि—

"बिना रक्त की क्रान्ति का गीत गाओ।
अहिंसक ! न पग राह से फिर हटाओ।
इसी राह से चाह पूरी करेंगे।
बहक कर न हम अब गलत पग धरेंगे।।
हमे दीप बापू दिखाते रहेंगे।
सदा राह के गीत गाते रहेंगे।।'[136]

युधिष्ठिर अपने भाइयों एव द्रौपदी के साथ काम्य वन गये थे। वहाँ रात्रि मे उन्होंने स्वप्न में वनमृगी को भयभीत और कातर-दृष्टि युक्त देखा। मृगी की कातर दृष्टि मानो उनसे कह रही हो कि उनका (मृगी मृगो का) शिकार न किया जाय। दया और अहिंसा का पालन किया जाय। 'जय भारत' महाकाव्य की इन पक्तियों मे गाधीजी की अहिंसा का प्रभाव ही व्यजित हुआ है—

'इससे तो अच्छा, हमें हिंस्र पशु खा लें,
असम्य नहीं वे, यदि न अहिंसा पालें।
पर दया धर्म के धाम आप नरवर हैं,
उनके खूँटो से प्रखर आपके शर हैं।"[137]

इस प्रकार अनेक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे गाधीवादी चिन्तन के प्रमुख प्रत्यय अहिंसा का निरूपण हुआ है।

7 नारी मुक्ति का समर्थन

भारतीय समाज मे नारियो की दशा अच्छी नही रही है। पुरुष हमेशा उन्हे दासी के समान समझता रहा है। पुरुष सत्ता प्रधान समाज म नारी सभी अधिकारो से वचित रही है। गाधीजी समाज म नारी को उसका उचित स्थान दिलाना चाहते थे। गाधीजी के इन विचारो का स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यकारों पर प्रभूत प्रभाव पडा है। उन्होने नारी मुक्ति को अपने महाकाव्यो मे विवेचना का मुख्य विषय बनाया है। 'पार्वती' महाकाव्य म श्री रामानद तिवारी न नारी मुक्ति क प्रसग मे लिखा है कि जो पुरुष सुसस्कृत है वह नारी का सम्मान अवश्य करेगा। केवल नारी तन का उपासक नर सभ्य और उन्नत नही हो सकता—

"जीवन सस्कृति का माप सदा ही नारी
नर की नय का ध्रुव निकष सर्वदा नारी,
नर भ्रष्ट हुआ कर आराधन बस तन का,
उन्नत होगा कर मान हृदय स मन का।'[138]

गाधीजी के नारी मुक्ति विचारो का प्रेमचन्द पर अनुकूल प्रभाव पडा। उन्होने विधवा विवाह को उचित माना और स्वय भी विधवा विवाह किया। यथा—

विधवा विवाह कुछ पाप नहीं
मैं शिक्षित होकर क्यो न करू ?
अन्धे समाज स मैं न डरूं!
यह तो मानवता की सेवा
मुझको कुछ पश्चाताप नही।"[139]

गाधीजी की मान्यता थी कि जब तक भारतीय नारी जागृत नही हो जाती, तब तक देश स्वतत्र नही हो सकता—

'जब तक प्रसुप्त भारत की
नारियाँ न होगी जागृत,
गांधी ने सोचा तब तक
स्वाधीन न होगा भारत।"[140]

श्रीअमरसिंह कृत 'आम्रपाली' महाकाव्य म कवि ने आम्रपाली के माध्यम से नारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी है। स्पष्टत महाकवि पर गाधीजी का प्रभाव है—

'नारी तो जग का क्रन्दन है
यह कुहकिनी का भ्रम बधन है।
या छली पुरुष की छाया है
छलना की धडकन स्पन्दन है।"[141]

गांधीजी के सिद्धान्तो से प्रभावित श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'लोकायतन' मे

"देख, सामने वे लोहे की
खड़ी चिमनियाँ काली,
धूम उगलती सर्वनाश का,
उनमें मनुज पिघलता।"[151]

मशीनीकरण और औद्योगीकरण से मानव जीवन की समरसता का हनन होता है। व्यक्ति का जीवन नीरस और यांत्रिक बन जाता है। श्री दिनेश ने गांधीवादी स्वरों में इस यांत्रिक सभ्यता का विरोध करते हुए कहा है कि—

"आँखों का सौन्दर्य कुचलता
लोहे के पाटों में।
काले काले यंत्र भयंकर
हरते मन की सुषमा।
लुटता यहाँ प्रकृति का वैभव
कृत्रिमता इठलाती
जन्म अनैसर्गिक दानव की
संस्कृति को मिलता है।"[152]

'रामराज्य' के कवि श्री बलदेव प्रसाद मिश्र ने भी यांत्रिक सभ्यता का विरोध किया है। उनके रामराज्य में आधुनिक गांधीजी के आदर्शों के रामराज्य की झलक मिलती है—

"नव यांत्रिक आविष्कारों से अर्थ नीति जटिला बन जाती
उसमें फँसकर बुद्धि, अथक श्रम करके भी है शांति न पाती।
जो अभ्युदयी युद्ध बुलवावे जो वैभव उठ हमें गिरावे
रामराज्य में पनप न पावे ऐसे असत्-समृद्धि-भुलावे।"[153]

आर्थिक अभ्युदय का कार्यक्रम . सर्वोदय

सर्वोदय गांधीवादी दर्शन का व्यावहारिक प्रतिफलन है, जिस प्रकार समाजवादी दर्शन की परिणति अततः साम्यवाद में होती है। सर्वोदय समाज की स्थापना के लिए गांधीजी ने रामराज्य को आदर्श माना था और ग्राम राज्य या ग्राम स्वराज्य से यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। 'विदेह' महाकाव्य में पोद्दार रामावतार अरुण ने राजा जनक के माध्यम से सर्वोदय की अपेक्षा की है—

"आयेगा देवि! कभी ऐसा युग धरती पर
पर्वत, सरिता, सागर को लाँघेंगे मनुष्य के शुभ विचार
होगा सर्वोदय का प्रभात
फूटेगा समता-कमल मनुजता-गंध पूर्ण।"[154]

गांधीजी ने ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो; सभी जन उन्नति कर सकें; कोई ऊँचा अथवा निम्न न हो। सर्वोदय उनका लक्ष्य था। लोकायतन में भी कवि ने ऐसे ही समाज की परिकल्पना की है। यथा—

सूक्ष्म दृष्टि से देखा नरवर ने
राजनयिक से भी अति आवश्यक
सामाजिक युग क्रान्ति अहिंसारत
नव सर्वोदय की हो निर्णायक।"[155]

शबरी के जूठे बेर प्रेम से खाने वाले राम ने बाली को मार कर सुग्रीव को उसका अधिकार दिलाया। सब तरह से समर्थ राम ने कभी किसी के स्वत्व को छीनने का प्रयास नहीं किया। उनको तो सर्वदा लोकहित का ही ध्यान रहता था। यथार्थतः रामराज्य में सर्वोदयी व्यवस्था ही थी—

विपुल यदि जन-शक्ति है तो बढ़ेगी धन-शक्ति
अन्न देगी भूमि, सुख से रहेगा प्रति व्यक्ति।
मिले सुविधापूर्ण नर को अन्न-वस्त्र, निवास,
राज्य वह जो कर सके सर्वोदयीय विकास।"[156]

राम के वनवास की अवधि में उनके भाई भरत ने राम का प्रतिनिधि होकर इस तरह उत्तम रीति से राजकार्य किया कि संपूर्ण राज्य में सर्वोदयी व्यवस्था स्थापित हो सकी। चौदह वर्ष की अवधि समाप्त होने पर भरत प्रसन्न-मना उत्सुकतापूर्वक राम के आगमन की प्रतीक्षा में है। 'अरुण रामायण' महाकाव्य के कवि ने भरत के शासन-प्रबन्ध की सुव्यवस्था का उत्तम चित्रण किया है। यह चित्रण गांधीवादी सर्वोदयी भावना के सर्वथा अनुरूप है—

"समता का सूर्योदय, ममता का चन्द्रोदय
मानवता पर आधारित व्यापक सर्वोदय
इस भौतिक अध्यात्मोदय से हर ओर शांति
कितनी कल्याणकारिणी है भरत-क्रान्ति।"[157]

भगवान महावीर ने न केवल आत्मोदय अपितु सर्वोदय के लिए साधना का जीवन व्यतीत किया था। देश की तत्कालीन परिस्थितियों में व्याप्त हिंसा, स्वार्थ और उत्पीड़न को उन्होंने अपनी साधना के बल पर जीता था। गांधीजी ने ऐसे ही महान् पुरुष के सिद्धान्तों के आलोक में भारत की आजादी के लिए संघर्ष किया और सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिए कृत संकल्प हुए। 'वीरायन' की इन पंक्तियों में गांधीवाद की झलक मिलती है—

"देते हैं जो अनुभूत ज्ञान—वे ज्ञानोदय सर्वोदय हैं।
खेते हैं जो जग की नौका—वे माझी वीर तपोमय हैं॥
जो श्रम में जग के जीवन हैं—वे धूल धूसरित पड़े प्राण।
जो अपने तप के फल देते—वे महावीर हैं लोक-त्राण॥"[158]

इस प्रकार प्रत्यक्षतः और परोक्षतः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में गांधीवादी चेतना की विशद् अभिव्यक्ति हुई है।

10. आध्यात्मिक निष्ठाओं का परिप्रेक्ष्य

(सत्य : ईश्वर का पर्याय, धर्म और नैतिकता, प्रार्थना, व्रत, संयम, ब्रह्मचर्य आदि)

महात्मा गांधी नवयुग में भारतीय आध्यात्मवाद के निष्ठावान् प्रवक्ता थे। उनकी ईश्वर, धर्म, व्रत, नियम, संयम, सत्य में गहरी आस्था थी। सत्य को वे ईश्वर के समकक्ष मानते थे। उनका कहना था कि सत्य ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। सत्य के बल पर ही गांधीजी ने अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त किया। सत्य मे उनकी दृढ़ता निरन्तर बनी रही। सत्य और ईश्वर उनके आत्मा के संबल थे—

"सत्य स्वयं ईश्वर है जिसके हों अभीप्ट प्रिय दर्शन,
सत्य ध्येय हो इस जीवन का, है यह तत्त्व निरन्तर।
ईश्वरत्व है सत्य, सत्य ही उर का अलंकरण है,
आत्म-यज्ञ का सत्य शाश्वत पावन पुरश्चरण है।"[159]

गांधीवाद भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक निचोड़ है। बुद्ध, महावीर आदि महान् पुरुषों के सिद्धान्तों से प्रभावित गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को अपनाकर स्वतंत्रता संग्राम चलाया। 'वर्द्धमान' ने तो अपने व्यक्तिगत जीवन मे ही सत्य, अहिंसा, आत्म निग्रह आदि को अपनाया जबकि गांधीजी ने इनका राजनीति मे भी प्रयोग किया। 'वर्द्धमान' की निम्नलिखित पंक्तियाँ भगवान महावीर के इन्हीं गुणो की महत्ता से प्रतिष्ठित हुई है—

'सदा अहिंसा रखना स्वधर्म है
अदत्त लेना अपना न कर्म है,
मनुष्य जो उत्तम आत्म-निग्रही
उन्हें अविश्वास सदा अ-धर्म मे।।"[160]

'मेधावी' महाकाव्य मे सत्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कवि ने जो भाव व्यक्त किये हैं उनमे समग्रत गांधीवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है—

"सत्य को कहता है तू व्यर्थ
सत्य को समझा है संकोच ?
सत्य ही तो है एक रहस्य
आगम मानव का ध्येय अनंत
महागति देख नयन विस्फार
न कोई आदि न कोई अन्त।'[161]

श्री रमेशचन्द्र शास्त्री ने 'देवपुरुष गांधी' मे गांधीजी के जन्म को इस युग का एक चमत्कार ही बताया है। गांधीजी के जन्म के साथ ही मानवीय मूल्यों का मान बढ़ा था। क्षमा, सत्य, न्याय, अहिंसा आदि गुणो को प्रश्रय मिलने लगा था। यथा—

"क्षमा का पद विश्व मे ऊँचा हुआ
सत्य चमका, यो अहिंसा तर गई।

न्याय से अन्याय कपित हो गया।
झूठ भागा और हिंसा मर गई।"[162]

गाधीजी के माता-पिता आस्थावादी थे। उपवास, व्रतों आदि में उनकी श्रद्धा थी। इस प्रकार उपवास और व्रतों आदि के प्रति गाधीजी की असीम श्रद्धा बचपन से ही थी—

"मोहन को उपवास व्रतों का भक्त हुआ बचपन में।
उनके प्रति बढती जाती थी श्रद्धा उनके मन मे॥
उपवासों को निज जीवन का उसने अग बनाया।
उपवासो ने अन्धकार मे उसको मार्ग दिखाया॥"[163]

गाधीजी ने अपने जीवन मे सत्य को अत्यधिक महत्व दिया है। उनके लिए सत्य ईश्वर का पर्याय रहा है। यह विश्व भी सत्य पर ही टिका है। गाधीजी की मान्यता थी कि—

"नक्षत्रों से जुड़ा गगन यह सत्याश्रय पर ठहरा।
लहराता है सत्य भाव पर विस्तृत सागर गहरा।
यही सोचकर मोहन ने भी इसी सत्य को पकडा।
उसको भी था स्वय सत्य ने निज पाशो म जकडा।"[164]

गाधीजी राम को ईश्वर मानते थे, जो विश्व व्यापी थे। वस्तुत बापू की दृष्टि में 'राम' शब्द सत्य चेतना का पर्याय ही था—

" 'राम' मोहन के लिए वह शक्ति ही थी।
विश्व में जो व्याप्त थी, सचालिका थी।
कीट से कुंजरो तक की मही पर,
जो स्वय नि स्वार्थ प्रेरक, पालिका थी॥"[165]

दक्षिण अफ्रीका म भारतीयो की दयनीय स्थिति देखकर गाधीजी ने धैर्य, सयम, प्रेम अहिंसा आदि की नीति अपनाने का आग्रह किया था। नैतिकता के 14 नियमो का पालन करके अफ्रीका के गोरे और काले—सभी मे सम्मान प्राप्त किया था—

"सत्य-सेवा तप-अहिंसा शांति ऋजुता त्याग सयम
शौच अपरिग्रह क्षमा-अक्रोध-सादापन परिश्रम—
रत्न चौदह ये निकाले, कर दिया जग को चमत्कृत।
दीप जीवन का जलाकर अमृतमय नव ज्योति-आवृत॥"[166]

अग्रेजो की हिंसा, घृणा, अन्याय आदि के विरुद्ध आत्मशक्ति के बल पर देश की आजादी के लिए गाधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया था। भारतीय जनता को सगठित करके उसम नव जागृति के स्वर भरे थे। इन स्वरों म आत्मिक-शक्ति का ही प्राबल्य है—

"तुम युद्ध नद्ध जग के हित
रच आत्म शक्ति का दर्शन

अन्याय घृणा से सहने
गये सास्कृतिक साधन।
कटु राजनीति कौशल को
नव मिला सत्य संजीवन
नैतिक गरिमा से मंडित
कर गए मनुज का आनन।"[167]

व्यक्ति का भौतिक बल शरीर के साथ खण्डित हो जाता है, किन्तु आत्मिक बल यशः शरीर के रूप में अमरत्व को प्राप्त होता है। गांधीजी आध्यात्मिक सत्य में आस्था रख कर ही कार्य करते थे। यथा—

"आध्यात्म सत्य से कर नव
विज्ञान तथ्य सयोजित
आसुर यन्त्रों को करना
जन सेवा हित अभिमंत्रित।
पश्चिम से शिक्षा लें जन—
भौतिक मद से सम्मोहित
हम गिरे न अध तमस मे
विध्वंस गर्त कर निर्मित।"[168]

11 अपरिग्रह और स्वावलम्बन

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज में सुख में ही उसे वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है। उत्पादन, उपभोग और वितरण की समस्या सामाजिक है। यदि व्यक्ति इन तीनों में सतुलन स्थापित नहीं कर पाता तो सामाजिक जीवन में असतोष उत्पन्न होता है। अपरिग्रह और स्वावलम्बन व्यक्तिनिष्ठ गुण है। इन गुणों की अनुपालना से सामाजिक जीवन मे सतुलन उत्पन्न हो सकता है; ऐसा गांधीजी मानते थे। परिग्रहण की प्रवृत्ति को गांधीजी स्वय पापपक में प्रवृत्त करने वाली मानते थे। उत्तम साध्य होने से साधन भी तदनुकूल उत्तम होने चाहिए। पार्थतीकार के शब्दों में—

"है पवित्र अध्यात्म चरम परमार्थ हमारा
बनते लौकिक स्वार्थ इष्ट उसके ही द्वारा,
देता है अध्यात्म अर्थ निश्चित जीवन को
सदा साध्य ही मान-मूल्य देता साधन को।"[169]

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने भारतीयों की निस्वार्थ सेवा की। अंग्रेजों के अन्याय, उत्पीड़न का साहसपूर्वक प्रतिकार करने का साहस उत्पन्न किया। जब वे भारत लौटने लगे तो वहाँ के लोगों ने बहुत से आभूषण, धन, वस्तुएँ आदि उपहार में दी, किन्तु अपरिग्रह का पालन करने वाले गांधीजी ने इनको स्वय के उपयोग में न लेकर सार्वजनिक उपयोग के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने कहा था कि—

"उपल भार से भरा हुआ है, जैसे परिग्रही भारी है।
अपरिग्रही तुल्य हल्का है उत्पल, उन्नति का धारी है।।
यदि हम भी इस भेंट भार के भारीपन से भर जायेंगे।
तो डूबेंगे लोभ पक मे जीते जी ही मर जायेंगे।।"[170]

इस देश की सस्कृति मे त्याग का विशेष महत्त्व है। ऋषि-मुनियो के त्यागमय जीवन से आत्मबल की वृद्धि हुई है। भौतिक सतोष व्यक्ति को लोभ-लालच, तृष्णा आदि से बचाता है। अपरिग्रह भौतिक सन्तोष और त्याग के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देता है—

"अपरिग्रह के परिग्रहण से ही,
भारत की सस्कृति है अनुप्राणित
ऋषियो की यह मही सदा से ही,
हुई इसी से जागृत नव जीवित।।"[171]

अपरिग्रह से ही व्यक्ति पाप-मुक्त होता है। यथा—

'इसीलिए भारत की सस्कृति, अपरिग्रह को सार बताती।
और परिग्रह को भारत की सत-सभ्यता भार बताती।।
भार त्याग कर मनुज सार का सग्रह करते जो झोली मे।
बच जाते वे जलने से फिर, पापो की जलती होली मे।।[172]

स्वय गाधीजी ने अपरिग्रह की प्रवृत्ति को अपनाया था। उन्होने देश के आम लोगों की दयनीय स्थिति को देखा और अनुभव किया कि उन्हे भी कम-से-कम वस्तुओ मे ही गुजारा करना चाहिए—

"वस्त्र पहिनने छोड उसी क्षण केवल एक लगोटी बाँधी।
हर कपन से शिवम् सृष्टि की, धन्य-धन्य मनमोहन गाधी।।
देख कर देश को नगा, लगोटी बाँध ली तन पर।
देश का ढाँपने को तन, वही तो बुन रहा खद्दर।।"[173]

'मानवेन्द्र' महाकाव्य मे श्री रघुवीरशरण मिश्र ने गाधीजी के स्वावलम्बन के भाव की भूरि-भूरि प्रशसा की है—

'स्वावलम्बन के बिना नहीं सुख, नही मुक्ति के मोती।
स्वावलम्बन के बिना किसी की जीत न हरगिज होती।।"[174]

स्वावलम्बन का मार्ग अपनाने से व्यक्ति सुखी रहता है—

' स्वावलम्बन से चल राही ने मजिल मजिल पर सुख भोगा।
अपना ही अवलम्ब जिसे है—उसने कभी नही दुख भोगा।।[175]

दक्षिण अफ्रीका मे अग्रेजो की रग भेद एव छुआछूत की प्रवृत्ति से एशियावासी पीडित थे। गाधीजी ने वहाँ पहुँच कर देखा अग्रेजो के रग भेद व्यवहार के कारण एशियावासियो की प्रतिदिन की सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति भी नही हो पाती थी। गाधीजी ने वहाँ स्वावलम्बन की भावना से एक आश्रम स्थापित किया जहाँ सभी लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार अपना कार्य स्वय करते थे—

"स्वावलम्बन का जीवन प्रिय था
गांधी जी को सदा अमोल,
अतः एक एकान्त स्थान में
दिया उन्होंने आश्रम खोल।"[176]

अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह की प्रवृत्ति से अन्य लोग अभाव ग्रस्त रह जाते हैं। 'वीरायन' महाकाव्य में कवि श्री मिश्र ने भगवान महावीर के अपरिग्रह का गांधीवाद के परिप्रेक्ष्य में निरूपण करते हुए लिखा है कि—

"संग्रह करने का भाव न हो, सुख को छलने का भाव न हो
औरों को पीड़ा पहुँचा कर, सुख से जीने का चाव न हो।"[177]

स्वावलम्बन व्यक्ति के गौरव को बढ़ाता है। जो व्यक्ति अपना काम स्वयं कर लेता है, वही सच में मुक्त है। द्रौपदी सत्यभामा को समझाते हुए कहती है कि—

"दास दासियाँ दिखलाते हैं कोरी प्रभुता जन की,
शान्ति, सच्ची संभाल इनको ही करनी है निज धन की।
अपना जितना काम आप ही जो कोई कर लेगा,
पाकर उतनी मुक्ति आप वह औरों को भी देगा।"[178]

12. मानवतावादी जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह

गांधीवाद के सिद्धान्त भारत के लिए ही नहीं अपितु विश्व जीवन को सुख और शांति प्रदान करने वाले हैं। मार्क्स मार्क्स की तरह गांधीजी ने भी विश्व को सुव्यवस्थित चिन्तन देने का प्रयास किया है। गांधी जी नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में अधिक विश्वास करते थे। उनके सिद्धान्तों की मूल शक्ति अहिंसा है। प्रेम ही विश्व मानव को एक व्यवस्था में संगठित कर सकता है, ऐसी उनकी मान्यता थी। रामानंद तिवारी ने 'पार्वती' महाकाव्य में त्रिपुर उद्धार हेतु जो भाव व्यक्त किये हैं, उन पर गांधीवाद का परोक्ष प्रभाव परिलक्षित है—

"तरल सत्य का प्रेम बनेगा स्वच्छ ज्ञान का उज्ज्वल धर्म
जग जीवन का मंगल होगा श्रेय कर्म का सुन्दर मर्म,
सत्य, श्रेय, सुन्दर से अन्वित जीवन की कृतियाँ स्वच्छंद
सुमनों की सौरभ आभा-सी बाँटेंगी जग में आनंद।।"[179]

गांधीजी किसी जाति, धर्म या सम्प्रदाय से बँधे नहीं थे। मानवतावादी मूल्यों में उनकी गहरी आस्था थी। उन्हें सभी देशों और जातियों से प्रेम था। यथा—

"वे अतिशय उदार गांधी जी
उन्हें इष्ट था जग का क्षेम
सभी देश सभी जाति के
मनुजों से था उनको प्रेम।"[180]

विश्व में शांति स्थापित करने का गांधीजी का अपना तौर तरीका था। वे शस्त्रास्त्रों की होड़ में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार त्याग, तपस्या और शांत-

रिक शक्ति से विश्व शांति स्थापित हो सकती है। 'लोकायतन' महाकाव्य के कवि श्री सुमित्रानंदन पंत ने गांधीवाद के आधार पर विश्व शांति स्थापित करने की भावना का समर्थन किया है—

"शुभ शांति वही जो भू पर
तप त्याग शुद्धि से अर्जित,
वह आंतर, जड़ नियमों में
बँध सकती कभी न किंचित्!
यह शीत युद्ध की कर्कश
हिम शांति मृत्यु आमंत्रण,
चेतो, अंतर्मुख देखो,
निज से संघर्ष करो मन।"[161]

प्रेम की भावना विश्व मानव को एक सूत्र में बाँध सकती है। यथा—

"प्रेम निखिल जीवों का ईश्वर,
प्रेम मूर्त हो मनुज धरा पर
प्रेम शक्ति पशु बल से अविजित
प्रेम सूत्र में बँधे चराचर।"[162]

विश्व में एकता स्थापित करने के लिए सभी राष्ट्रों का स्वतंत्र अस्तित्व आवश्यक है और प्रेम सूत्र में बँधे होने चाहिए—

"राष्ट्र मुक्ति के केवल प्रथम चरण भर
विश्व एकता करनी भू पर निर्मित,
मनुज प्रीति के अमर सूत्र में गुंफित
स्वर्ग पीठ करनी भू-मन पर स्थापित।"[163]

गांधीजी ने अपने सिद्धांतों को मूर्त रूप देने के लिए अहमदाबाद के निकट 'कोचरब' ग्राम में सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया। इस आश्रम में मानवीय जीवन-मूल्यों के आधार पर दैनिक चर्या यापन होती थी—

"शांति, प्रेम आदर्श, मनुजता आश्रम में मुखरित थे सब सुख।
छुआछूत का भेद नहीं था, एक प्राण थे और एक मुख॥
मानवता के उस मंदिर में, ऊँच-नीच की बात नहीं थी।
वह थी दीपमालिका आती। जिसमें काली रात नहीं थी॥"[164]

श्री चाँदमल अग्रवाल कृत 'कैकेयी' महाकाव्य में श्रीराम के उद्गार विश्व बंधुत्व और मानवतावाद के भावों से परिपूर्ण हैं—

"मुझको भी तो देवि। रही नित,
'विश्व शान्ति' मन भाती।
इसीलिए तो वन-वन भटका,
छोड़ राज्य की थाती॥

सम्मय, सत्ता-विहीन पशुता,
मानवता पा जाती।
प्रेम, अहिंसा से सत्तामय,
पशुता समझ न पाती।।"[165]

'कल्पान्त' महाकाव्य के नायक 'देवेन्द्र' के प्रेमोद्गारों में भी गांधीवादी चेतना ही अभिव्यक्त हुई है—

"सब में भाई चारे की शुभ
वृत्ति यही जग न्याय
व्यष्टि सृष्टि की आदि इकाई
अन्त वही समवाय
प्रेम समर्पण सबको बाँधे
स्वार्थ होम से शुद्ध
विश्व भाव में गुँथा हुआ नर
सहज विकार प्रबुद्ध।।[166]

स्वतन्त्रता संघर्ष में कई बार गतिरोध उत्पन्न हुए। कभी जय और कभी पराजय इसी दौर में अंग्रेजों से सन्धि वार्ता भी चली। अंग्रेजों की कूटनीति से बहुत समय तक भारतीय नेताओं को भुलावे में रखा। अन्त में अंग्रेजों को बहुत समझाया और उन्हें विश्वास दिलाया कि गांधीजी का नेतृत्व देश को स्वतन्त्र कराने के लिए है, उन्हें किसी से शत्रुता नहीं। अंग्रेजों ने भी गांधीजी के मानवतावादी दृष्टिकोण को स्वीकारा है—

"हम मनुष्य हैं, हिंसा, हत्या—कैसे हमें सुहाये।
'बोअर' में गांधी की सेवा—हम तो भूल न पाये।।
बापू नहीं तुम्हारे ही हैं, वे तो सारे जग के।
अर्णव सागर और गगन नग, उन पग में उन दृग के।।"[167]

भीम ने क्रूर राक्षस हिडिम्ब का वध किया। किन्तु उसकी बहिन हिडिम्बा ने भीम को पति रूप में वरण किया। अपने भाई को मारने वाले भीम से बदला लेने की भावना के विपरीत हिडिम्बा ने प्रेम के महत्व को उचित ठहराया। जय भारत' महाकाव्य की इन पंक्तियों में गांधीजी के मानवतावादी चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है—

"सोदर के वैर हेतु मैं भी जूझ सकती,
किन्तु कुछ और भी समझ बूझ सकती।
वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं, प्रेम है,
और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।"[168]

गांधीजी नवीन मानवीय मूल्यों के सृष्टा थे। 'लोकायतन' की परिकल्पना का आधार गांधीवादी जीवन दृष्टि रही है। गांधीजी की अजेय आत्मिक शक्ति के

सम्मुख अंग्रेजी साम्राज्य ध्वस्त हुआ। उनकी इस सफलता से मानव मुक्ति के द्वार खुल गये। यथा—

"टूट रहा अन्याय वज्र-सा
अग्नि-मुष्टि हो रक्त लौह घन,
घृणा सत्य मे, दम्भ विनय मे
दुरित न्याय मे छिड़ा मृत्युरण!
सुनो, महात्मा गांधी की जय,
चिल्लाते गूंगे भू रजकण,
भारत का ही यह न मुक्तिरण
विश्व मुक्ति का आया शुभ क्षण।"[169]

इस प्रकार समीक्ष्य महाकाव्यों मे गाधीवादी चेतना के आधारभूत तत्वों के रूप मे चिरन्तन मानवीय जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा का सकल्प व्यक्त हुआ है।

निष्कर्ष—गाधीवाद महात्मा गांधी के विचारों का व्यापक अभिधान है। गाधीजी के व्यक्तित्व के अनेक आयाम थे। जैसे—राजनेता, समाज सुधारक, अर्थवेत्ता, शिक्षा शास्त्री और धर्मोपदेशक आदि। जीवन के प्रत्येक पहलू पर उनके अपने विचार थे। गाधीवादी चेतना का मूल उत्स राम की कर्त्तव्यनिष्ठा, कृष्ण की व्यवहार कुशलता, महावीर की अहिंसा, कबीर की अनासक्ति और तुलसी की समन्वयशीलता म निहित है। राष्ट्रीय-विकास की नाजुक परिस्थितियो मे उन्होंने देश का नेतृत्व सँभाला था। उनमे हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति अपूर्व निष्ठा थी; किन्तु इस देश मे बसे मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि को भी वे बराबर का भारतीय समझते थे। हिन्दू-मुसलिम एकता और अस्पृश्यता निवारण को तो उन्होंने अपने राजनीतिक कार्यक्रमों मे मुख्यत. सम्मिलित किया था। वे सत्य, अहिंसा, प्रेम, बंधुत्व और नैतिकता के विचारों मे ओत-प्रोत थे। अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा विरोधियों का हृदय परिवर्तन करना गांधीवादी नीति का क्रियात्मक पक्ष है। समाज मे सब का विकास हो सके, यही उनकी विचारधारा का सार है। उनकी राष्ट्रीयता की परिधि किसी धर्म, जाति, संस्कृति, अथवा समाज विशेष तक ही सीमित नही थी, उसमे तो भारत के सभी धर्मों, संस्कृतियो और समाजों का समावेश था। वे राजनीति, सामाजिक सगठन और आर्थिक जीवन को धर्म से पृथक नही मानते थे। उनकी दृष्टि मे मानव आत्मा की शुद्धि को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्राथमिकता दी जानी चाहिए। हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा पर गाधीवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे भी गांधीवादी चेतना को इसी परिप्रेक्ष्य मे लक्षित किया जा सकता है। वीरायन, मानवेन्द्र, जननायक, जगदालोक, लोकायतन, वर्द्धमान, देवपुरुष गाधी, अम्बेडकर, एकलव्य, आजनेय, युगस्रष्टा, प्रेमचन्द, सरदार भगतसिंह, निषादराज, पार्वती, सारथी रामराज्य, विदेह, मेधावी, अरुण रामायण आदि महाकाव्यों मे गांधीवादी चेतना की उल्लिखित प्रवृत्तियाँ प्रमुखत. व्यक्त हुई हैं।

पाद टिप्पणी

1 राजेन्द्रसिंह गौड—हमारे कवि पृ० 353-354
2 सुधाकर शंकर कलवडे—आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना पृ० 198
3 सुषमा नारायण—भारतीय राष्ट्र के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति पृ० 99
4 शिवकुमार मिश्र—नया हिन्दी काव्य, पृ० 25
5 डॉ० अरविन्द जोशी—गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० 44
6 डॉ० पट्टाभि सीतारमैया—काँग्रेस का इतिहास, पृ० 179
7 डॉ० अरविन्द जोशी गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पृ० 54
8 विद्यानाथ गुप्त—हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना पृ० 378
9 डॉ० अरविन्द जोशी—गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० 59
10 *Editor Norman Cousins—Profiles of Gandhi, P 12*
11 "I have presented no new principles but have tried to restate old principles.'

—Nirmal Kumar—Selections from Gandhi P IX (Ist Edi) 1948
12 Gandhi Stated— I do not claim to have originated any new principle I have tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems well, all my philosophy If it may be called by that pretentious name, is contained in what I have said You will not call it 'Gandhism' there is no 'ism' about it '

—Harijan March 1936
13 डॉ० बी० पट्टाभि सीतारमैया—गांधी और गांधीवाद (प्रथम भाग) प्रथम संस्करण, पृ० 28
14 जैनेन्द्र कुमार—मंथन प्रथम संस्करण, 1953, पृ० 101
15 डॉ० पट्टाभि सीतारमैया—गांधी और गांधीवाद (प्रथम भाग) पृ० 26
16 कमलापति त्रिपाठी—बापू और मानवता पृ० 165
17 भवानीशंकर द्विवेदी—हमारा हिन्दी साहित्य और भाषा परिवार (पारिभाषिक शब्द और उनकी व्याख्याएँ), पृ० 16
18 रामनाथ सुमन—महात्मा गांधी, प० 188
19 डॉ० सुभाष काश्यप तथा विश्वप्रकाश गुप्त—राजनीति कोश, पृ० 151 152
20 ' The fundamental basis of Gandhism is the metaphysical conception of an omnipresent spiritual reality an all embracing living Light' which can be called Sach chidananda or Brahman or Ram or simply truth ' 'The supreme absolute, ever present spirit or God is both the starting point and final goal Gandhian thought '

—Dr Vishwanath Prasad Verma—The political philosophy of Mahatma Gandhi & Sarvodaya, P 40
21 डॉ० सम्पूर्णानन्द—हमारा गांधीवाद आज कहाँ है ? पृ० 19
22 गांधीजी—हरिजन, 14 3 [illegible]
23 वही, 5-9-39

24 राधाकृष्णन—महात्मा गांधी, पृ० 80
25 महात्मा गांधी—आत्मशुद्धि पृ० 8
26 गांधीजी—मेरे सपनों का भारत पृ० 6
27 रामदीन गुप्त—प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० 89
28 गोपीनाथ धावन—सर्वोदय तत्व दर्शन पृ० 206
29 रामदीन गुप्त—प्रेमचन्द और गांधीवाद पृ० 90
30 यंग इण्डिया 19 1 28
31 Selections from Gandhi, P 244 & 632
32 दिनेश खरे—सामाजिक विचारधाराएँ पृ० 43
33 पं० जवाहरलाल नेहरू—राष्ट्रपिता पृ० 32
34 Benoy Gopal Roy—Gandhian Ethics (First Edition 1950), P 7
35 गोपीनाथ धावन—सर्वोदय तत्व दर्शन, पृ० 29
36 हरिजन, 20 4 1924
37 महात्मा गांधी—यंग इण्डिया (भाग 3) पृ० 350
38 आचार्य जावेडकर—आधुनिक भारत (अनुवादक हिन्दी म हरिभाऊ उपाध्याय) पृ० 118 116
39 सत्याग्रह प० 24
40 यंग इण्डिया (भाग 1) पृ० 22
41 महात्मा गांधी—मेरे सपनों का भारत पृ० 9
42 Dr Buch—Rise and Growth of Indian Nationalism P 72
43 ' Political power means capacity to regulate national life through national representation If national life becomes so perfect as to become self regulate no representation becomes necessary "
—M K Gandhi—My Religion, P 130
44 M K Gandhi—My Religion P 130
45 Selections from Gandhi P 185 × 472 to
186 × 475
46 यंग इण्डिया (भाग 1) पृ० 22
47 Satyagrah in its essence is nothing but introduction of truth and goodness in the political i e the national life Satyagrah is a relentness search for truth and a determination to reach truth It is a force that works silently and apparently slowly In reality there is no force in the world that is no direct or so swift in working Satyagrah in utter self effacement greatest humilitation greatest patience and brightest faith "
—M K Gandhi—Modern Indian Social and Political Thought, P 343
48 कि० घ० मशरूवाला—गांधी विचार दोहन, पृ० 33
49 रामनाथ सुमन—गांधीवाद की रूपरेखा प० 191
50 श्रीधर शर्मा एवं सरोज गग—आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनैतिक चिन्तन, प० 344
51 कि० घ० मशरूवाला—गांधी विचार दोहन, पृ० 55
52 Nagendranath Gupta—Indian Nationalism P 72
53 श्रीधर शर्मा एवं सरोज गग—आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनैतिक चिन्तन, पृ०

54 डॉ० अरविन्द जोशी—गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (पाद टिप्पणी), पृ० [illegible]
55 आत्म कथा (द्वितीय खंड) (गुजराती संस्करण), पृ० 378
56 महात्मा गांधी—युद्ध और अहिंसा, पृ० 141
57 कमलापति त्रिपाठी—बापू और मानवता, पृ० 236
58 दिनेश खरे—सामाजिक विचारधाराएँ पृ० 50
59 यंग इण्डिया—26-3 31
60 श्रीधर शर्मा एवं सरोज नाग— आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनैतिक चिंतन, पृ० 383
61 दिनेश खरे—सामाजिक विचारधाराएँ पृ० 85
62 महात्मा गांधी—सत्याग्रह, पृ० 14
63 "It is self evident to Gandhi that Indians are one Nation that there is one Indian Culture, and that the struggle of Indians is to revive that spirit of ancient culture in our midst"
Dr Buch—Rise and Growth of Indian Nationalism, P 76
64 महात्मा गांधी—हिन्दू धर्म, पृ० 8 9
65 Dr Buch—Rise and Growth of Indian Nationalism, P 77
66 शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वाधीनता की चुनौती पृ० 148
67 डॉ० अरविन्द जोशी—गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० 92
68. महात्मा गांधी—मेरे सपनों का भारत, पृ० 15
69 बाबूराम जोशी—भारतीय नव जागरण का इतिहास, पृ० 221
70 "That man is essentially altruistic and consequently social reforms must consentrate on bringing to the surface this altruistic element, is the basis of the Gandhian theory of trusteeship"
—R C Gupta—Socialism, Democracy and India, P 31
71 प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा—स्वाधीनता की चुनौती पृ० 186 187
72 "And Sarvodaya believes that voluntary sacrifice of one's riches or pleasures will certainly be forthcoming if only the moral approach is strictly followed"
—R C Gupta—Socialism, Democracy and India, P 32
73 सर्वोदय जनवरी 39—अंतिम कवर पर उद्धरण से उद्धृत
74 बाबूलाल सुमन—आम्बेडकर पृ० 50
75 वही पृ० 40
76 अम्बेडकर, पृ० 47
77 जननायक, पृ० 289
78 देवपुरुष गांधी, पृ० 217
79 जननायक, पृ० 178
80 वही पृ० 282
81 एकलव्य पृ० 200
82 जननायक, पृ० 213
83 लोकायतन पृ० 97
84 आग्नेय, पृ० 55
85 देवपुरुष गांधी पृ० 135

[illegible] लोकायतन, पृ० 125
87. जननायक, पृ० 157
[illegible] वही, पृ० 282
[illegible] वही, पृ० 226 227
90 जगदालोक, पृ० 244
91 वही, पृ० 271
92 अम्बेडकर, पृ० 79
93 मानवेन्द्र, पृ० 293
94 लोकायतन, पृ० 97
95 मानवेन्द्र, पृ० 208
[illegible] वही, पृ० 242
97 लोकायतन पृ० 23
98 वही, पृ० 92
99 वही, पृ० 67
100 मानवेन्द्र, पृ० 175
101 लोकायतन, पृ० 70
102 युगस्रष्टा प्रेमचन्द पृ० 113
103 जगदालोक पृ० [illegible] 87
104 जगदालोक प० 145
105 जननायक, पृ० 163
106 लोकायतन, पृ० 56
107 वही, पृ० 71
108 सरदार भगतसिंह, पृ० 174
109 जगदालोक, पृ० 152
110 लोकायतन, पृ० 593
111 जननायक, पृ० 213
112 मानवेन्द्र प० 300
113 लोकायतन पृ० 57
114 देवपुरुष गांधी, पृ० 42
115 वही पृ० 42
116 वही, पृ० 42
117 लोकायतन, पृ० 88
118 जननायक, पृ० 59
119 देव पुरुष गांधी, पृ० 168
120 वही, पृ० 181
121 लोकायतन, पृ० 85
122 निषादराज, पृ० 15
123 देवपुरुष गांधी पृ० 27
124 वही, पृ० 201
125 जननायक, पृ० 117
126 वही, पृ० 332
127 लोकायतन, पृ० 71

128 लोकायतन, पृ० 138
129 सरदार भगतसिंह, पृ० 141
130 वही, पृ० 178
131 वीरायन, पृ० 53
132 वही, पृ० 69
133 महाभारती, पृ० 495
134 देवपुरुष गांधी पृ० 27
135 सत सिपाही, पृ० 199
136 मानवेन्द्र, पृ० 332
137 जय भारत पृ० 221
138 पार्वती पृ० 262
139 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 108
140 जगदालोक, पृ० 62
141 आम्रपाली, पृ० 272
142 लोकायतन पृ० 65
143 वही, पृ० 70
144 युगस्रष्टा प्रेमचन्द, पृ० 107
145 सत सिपाही, पृ० 115
146 आजनेय—प्रथम सर्ग पृ० 5
147 वही, प्रथम सर्ग पृ० 11
148 वही, चतुर्थ सर्ग, पृ० 61
149 वही, षष्ठ सर्ग, पृ० 89
150 जननायक, पृ० 211
151 सारथी, पृ० 97
152 वही, पृ० [illegible]
153 रामराज्य, पृ० 139
154 विदेह पृ० 34
155 लोकायतन, पृ० 576
156 रामराज्य, पृ० [illegible]
157 अरुण रामायण, पृ० 602
158 वीरायन, पृ० 29
159 सरदार भगतसिंह पृ० 178
160 वर्द्धमान, पृ० 572
161 मेघावी, पृ० 5
162 देवपुरुष गांधी, पृ० 31
163. वही, पृ० 43
164 वही, पृ० 51
165 वही, पृ० 55
166 वही, पृ० 137
167 लोकायतन, पृ० 140
168. वही, पृ० 179
169. पार्वती, पृ० 339

170 देवपुरुष गांधी, पृ० 145
171 वही, पृ० 146
172 वही पृ० 144
173 जननायक, पृ० 216
174 वही, पृ० 242
175 वही पृ० 133
176 जगदालोक, पृ० 37
177 मीरायन, पृ० 310
178 जयभारत पृ० 190
179 पार्वती, पृ० 487
180 जगदालोक, पृ० 37
182 लोकायतन, पृ० 143
182 वही, पृ० [illegible]
183 वही, पृ० 115
184 जननायक, पृ० 177
185. कैकेयी, पृ० 182
186 कल्पान्त, पृ० 133
187 मानवेन्द्र, पृ० 385
188 जयभारत, पृ० 82
189 लोकायतन, पृ० 52

उपसंहार

अध्ययन के निष्कर्ष, उपलब्धियाँ और संभावनाएँ

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों के माध्यम से विवेचित राजनीतिक चेतना के विविध आयामों के अध्ययन अन्वेषण से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्य संरचना युगीन परिस्थितियों, प्रेरणाओं और प्रभावों से निरन्तर संवर्धित रहा है। प्रत्येक स्वातंत्र्योत्तर महाकाव्य चाहे वह पौराणिक हो या ऐतिहासिक अथवा समसामयिक घटना चक्र पर आधृत हो या कल्पना प्रधान हो, निरांत युग जीवन के स्पन्दन से स्पन्दित रहा है। सच तो यह है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य प्रबंध संरचना का सृजनात्मक औचित्य ही उन आस्थाओं, विश्वासों, आदर्शों, जीवन मूल्यों और जीवन्त परम्पराओं को उजागर करने में लक्षित होता है जो भारत के कोटि-कोटि जन की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रकारान्तर में समीक्ष्य प्रबन्ध काव्य एक 'पर्यंतावार दर्पण' हैं जिनमें युग की समस्त छवियाँ सम्पूर्ण कलात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हुई हैं। महाकाव्य के विराट कलेवर में सांस्कृतिक चेतना के जो पारदर्शी बिम्ब प्रतिबिम्बित होते हैं, उनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि सभी परिप्रेक्ष्य उभरते हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य राजनीतिक चेतना के उद्घाटित आयामों का अन्वेषण-विश्लेषण करना रहा है। राजनीतिक चेतना की अति व्याप्ति को राजतंत्रवादी, लोकतांत्रिक समाजवादी, राष्ट्रवादी और गाँधीवादी विचार सरणियों के माध्यम से विश्लेषित करने का उपक्रम किया गया है।

'राजतंत्रवादी चेतना' शीर्षक तृतीय अध्याय में अधिगृहीत महाकाव्यों (यथा—*कैकेयी, रामराज्य, साकेत संत, गुरु गोविन्दसिंह, जानकी जीवन, उर्मिला, अंगराज,* चन्द्रगुप्त मौर्य, विदेह, जयभारत, आजनेय, मत सिपाही, झाँसी की रानी, वाणाम्बरी) के अध्ययन से यह तथ्य उजागर होता है कि भारतीय सामाजिक जीवन में वैदिक युग से लेकर मुगल काल तक राजतंत्र की यद्यपि एक सुदीर्घ परम्परा रही, किन्तु लोकतांत्रिक अभिरुचि के कारण उसे जनमानस ने कभी नहीं स्वीकारा। राजतंत्र के गुणात्मक उत्कर्ष को उजागर करने वाले अनेक कीर्तिमान जनाकांक्षाओं की उपेक्षा करने के कारण ध्वस्त हो गये। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में भी महत्वाकांक्षी नरेशों की लोमहर्षक क्रूरताओं के कारण राजतंत्र को सदैव ही एक विवशता के रूप में जनता ने स्वीकारा, यह व्यवस्था कभी भी जनमानस और जनचेतना से आत्मसात न

हो सकी। समीक्ष्य महाकाव्यकारों ने राजतन्त्रवादी चेतना के इन अदृष्ट पहलुओं को रूपायित करके अनन्त लोकतन्त्र के प्रति ही अपनी अडिग आस्था को व्यक्त किया है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना सम्भवतः राजनीतिक चिन्तन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में (विशेष रूप से मानवेन्द्र, कल्पान्त, अम्बेडकर, बांगला देश, आम्रपाली, लोकायतन, युगस्रष्टा प्रेमचन्द, मेधावी, जननायक, निषादराज, सारथी, निराला, सरदार भगतसिंह, सत सिपाही, तारकवध आदि में) व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की स्वीकृति, पूंजीवादी शोषण के प्रतिरोध, श्रम की महत्ता के प्रतिपादन, उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण, सामाजिक समता की संकल्पनाएँ, मूल मानवीय अधिकारों के अनुसमर्थन, वर्गविहीन आदर्श समाज की परिकल्पना, कलाओं के जीवनोपयोगी स्वरूप में आस्था प्रकट करके लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना के बहुआयामी श्रेयस स्वरूप को ही प्रतिष्ठित किया गया है। उल्लिखित महाकाव्यों के कथ्य सन्दर्भों में निरूपित मूल्यों का समर और पात्रों की संघर्षरत जिजीविषा अन्ततः महाकाव्यकारों की ही लोकतान्त्रिक आस्थाओं को अभिव्यंजित करती है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पौराणिक कथाओं के परम्परित कथ्य-सन्दर्भों में भी लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रति विश्वास जगाया गया है। यह कहना अयुक्तिपूर्ण न होगा कि समीक्ष्य महाकाव्यों में कथ्यपट में बुनी लोकतान्त्रिक समाजवादी चेतना स्वातन्त्र्योत्तर भारत की जनाकांक्षाओं की ही अनुगूंज है।

राष्ट्रवाद वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का ही नहीं अपितु भारतीय जन की राष्ट्र के प्रति समर्पित आकांक्षाओं का अप्रतिम प्रतिमान रहा है। इस अवधारणा की सम्पुष्टि वैदिक वाङ्मय से लेकर अद्यावधि रचित समस्त साहित्यिक एवं साहित्येतर ग्रन्थों में की जा सकती है। राष्ट्रवाद वस्तुतः एक अनुभूत्यात्मक प्रतीति है, एक समर्पणशील निष्ठा का प्रतिबिम्ब है, एक उत्सर्गमयी स्फुरणा है और सबसे बड़ी बात एक ऐसी भाव सदीप्ति है जो धरा की गन्ध और वसुन्धरा के वैभव के प्रति व्यक्ति, जाति, समाज और उससे भी वृहत्तर संगठनों को अभिभूत किये रहता है, किया ओढ़े रहती है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यों में (मुख्यतः सत सिपाही सरदार भगतसिंह मानवेन्द्र, सुभाषचन्द्र, झांसी की रानी, जयआलोक गुरु गोविन्दसिंह, जननायक उर्मिला, आजाद, बांगला देश चन्द्रगुप्त मौर्य आदि में) राष्ट्रवादी चेतना को उदित रक्षित आयामों में ही उद्घाटित किया गया है। विश्वजनीन विचारधाराओं के उन्मेष अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से प्रसारित सदेश विज्ञान की दिक्काल बंधिनी उपलब्धियों के सार्वभौमिक उपभोग और वैज्ञानिक मानववादी अनुचिन्तन के आलोक में राष्ट्रवाद की विचारणा यद्यपि धुंधलायी जाती रही है तथापि उसकी महत्ता राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में यथावत बनी हुई है।

महाकाव्यकारों ने इस तथ्य का विधिवत् हृदयगम करके ही राष्ट्रवादी चेतना का उद्घोष किया है। स्वदेश का गौरवगान राष्ट्र के स्वर्णिम अतीत के प्रति आगवित भौगोलिक, जातीय एवं धार्मिक एकता के सूत्र, सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति अटूट आस्था और ऐसे ही अन्य अनेकानेक विचार हिन्दू स्वाधीनता संघर्ष के

जनमानस को अनुप्रेरित करने मे सहायक हुए हैं। नव जागरण का समूचा सकल्प और विश्व की क्रान्तियाँ भी प्रकारान्तर से राष्ट्रीय भावनाओ को ही सुदृढ करती रही है। विश्वजनीन विचार बोध तो इस चेतना का मथित नवनीत है। अस्तु, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे विश्वजनीनता के प्रतिमानो को अक्षुण्ण रखते हुए राष्ट्रवादी चेतना के उदात्त आदर्शों को यथार्थ बोध के रूप मे उजागर किया गया है। उद्धृत प्रबन्ध काव्यो मे राष्ट्रवादी चेतना का अभिव्यजक एक भी आयाम ऐसा नही है जो *विश्वजनीनता का प्रतिरोधक हो। समीक्ष्य महाकाव्यो की यह बहुत बडी सृजनात्मक* उपलब्धि है कि उनके माध्यम से राष्ट्रवादी चिन्तन की स्वस्थ परम्परा का सवर्धन हुआ है।

गाधीवाद, स्वय गांधीजी की दृष्टि मे, कोई स्वतत्र वादात्मक प्रत्यय न होते हुए भी, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण उपपत्ति के रूप मे अभिस्वीकृत हो गया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्यो मे गांधीवादी विचार दर्शन की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को (जैसे—अस्पृश्यता उन्मूलन, साम्प्रदायिक एकता, अहिंसा की शक्ति में अटूट विश्वास, रूढिवाद का विरोध, सत्याग्रह, सर्वोदय आदि) सहज अभिव्यक्ति मिली है। जननायक, देवपुरुष गाधी लोकायतन, जगदालोक नामक गाधी चरितमूलक प्रबन्ध काव्यो के अतिरिक्त अम्बेडकर, मानवेन्द्र, सरदार भगतसिंह, मीरायन, युग-स्रष्टा प्रेमचन्द, रामराज्य, सारथी आदि महाकाव्यो मे भी गांधीवादी चिन्तन के आदर्शों को कथ्य सदर्भो म यथा प्रसग उजागर किया गया है। गांधीवाद वस्तुत उदार और उदात्त भारतीय चिन्तन की परिष्कृत विचार समष्टि है। जिस प्रकार गाधीजी का व्यक्तित्व राष्ट्रपिता के रूप मे पूज्य है उसी प्रकार उनका चिन्तन भी सर्वमान्य और वरेण्य रहा है। गाधी विचार दर्शन म परस्पर विरोधी, द्वन्द्वात्मक और निषेधात्मक प्रवृत्तियो का अभाव ही उसकी सिद्धि और उपलब्धि है। समीक्ष्य महाकाव्यों मे सृजनात्मक स्तर पर गांधीवादी विचार दर्शन की इन सिद्धियो और उपलब्धियो को स्वीकारा गया है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि हिन्दी की स्वातन्त्र्योत्तर प्रबन्ध काव्य सरचना इस अर्थ मे सार्थक और प्रेरणास्पद है कि उसमे एक ओर राजनीतिक चेतना के विवादास्पद अवसरवादी और प्रतिक्रियावादी पक्षो की ऐकान्तिक अवमानना है और दूसरी ओर स्वस्थ, उदार, उदात्त और मागलिक एव जनोपयोगी स्वरूप की निरपेक्ष अभिस्वीकृति है। प्रस्तुत अध्ययन स यह तथ्य भी उजागर होता है कि प्रबन्ध काव्यकारो की निजी राजनीतिक मान्यताएँ और व्यक्तिगत दलीय निष्ठाएँ उनकी रचनाधर्मिता को कहीं भी बाधित नही करती हैं। आज के कथाकार जहाँ राजनीतिक प्रतिबद्धता और दलगत आदर्शों की पक्षधरता से मुक्त नही रह पाये हैं, वहाँ प्रबन्ध काव्यकार तटस्थ सर्जक के रूप मे राजनीतिक चेतना का समाहार करने मे सक्षम हुए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य सरचना का यह प्रस्थान बिन्दु अन्य सभी विधाओ की तुलना मे उसे गौरवास्पद एव अभिनन्दनीय बनाता है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

आधार ग्रन्थ (महाकाव्य)

1 अतुल कृष्ण गोस्वामी नारी
2 अनूप शर्मा वर्द्धमान
3 अमरसिंह आम्रपाली
4 आनन्द कुमार अंगराज
5 उदयभानु हंस संत सिपाही
6 करील देवार्चन
7 केदारनाथ मिश्र प्रभात कैकेयी
8 गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश तारकवध
9 डा० गोपालशरण सिंह जगदालोक
10 चाँदमल अग्रवाल कैकेयी
11 ताराचन्द हारीत दमयन्ती
12 तिलक (क) कालिदास, (ख) निराला (ग) बांगलादेश
13 डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय आंजनेय
14 नन्दकिशोर झा प्रिय मिलन
15 परमेश्वर द्विरेफ (क) युगस्रष्टा प्रेमचन्द (ग) मीरा
16 पोद्दार रामावतार अरुण (क) अरुण रामायण (ख) वाणाम्बरी (ग) विदेह
17 डा० बलदेव प्रसाद मिश्र (क) रामराज्य (ख) साकेत संत
18 बालकृष्ण शर्मा नवीन उर्मिला
19 बाबूलाल सुमन अम्बेदकर
20 मुन्शीराम शर्मा सोम विरहिणी
21 मैथिलीशरण गुप्त जयभारत
22 रघुवीरशरण मिश्र (क) जननायक (ख) मानवेन्द्र (ग) वीरायन
23 रणवीर सिंह प्रताप
24 रतनचन्द शर्मा निषादराज
25 रमेशचन्द्र शास्त्री देवपुरुष गांधी
26 रांगेय राघव मेधावी
27 पं० राजाराम शुक्ल जानकी जीवन

16. विष्णु पुराण
17. शतपथ ब्राह्मण
18. हेमचन्द्र सूरी : काव्यानुशासन

हिन्दी-ग्रंथ

19 प्रो० अनन्त सदाशिव कलवडे : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
20. अरविन्द जोशी : गांधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
21. आर० डब्ल्यू० रावसन : कम्युनिज्म क्या है ?
22 आचार्य जावेडकर : आधुनिक भारत (अनु० हरिभाऊ उपाध्याय)
23. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : दिल्ली सल्तनत
24. आर० सी० अग्रवाल : भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन
25. डॉ० इकबाल नारायण : (क) राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, (ख) द्वैत शासन से स्वराज्य की ओर
26. उदयनारायण तिवारी : वीर काव्य
27. ए० अप्पादोराय : राजनीतिसार (अनु० आशाराम)
28 ए० डी० आशीर्वादम् : राजनीतिशास्त्र
29 डॉ० एम० एल० शर्मा : नीति वाक्यामृत में राजनीति
30. एंगेल्स . समाजवाद—काल्पनिक तथा वैज्ञानिक
31 डॉ० ओमप्रकाश : अवस्थी—नई कविता के बाद
32. कमलापति त्रिपाठी : बापू और मानवता
33. डॉ० कमला गुप्ता : हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद
34 डॉ० के० के० शर्मा : (क) आधुनिक भारत में पुनर्जागरण, राष्ट्रीयता एवं सामाजिक परिवर्तन, (ख) हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास
35. कि० घ० मशरूवाला . गांधी विचार दर्शन
36 डॉ० कृष्णविहारी मिश्र : आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य
37 डॉ० गुरुमुख निहालसिंह : भारत का संवैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास
38. डॉ० गुलाबराय : काव्य के रूप
39. गोपीकृष्ण गोपेश . विदेशों के महाकाव्य
40. गोपीकृष्ण धावन : सर्वोदय तत्त्व और दर्शन
41. गोविन्दराम शर्मा : भारतीय राजनीति और शासन
42. गोविन्दराम शर्मा : हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य
43. चन्द्रप्रकाश भाम्भरी एवं दयाप्रकाश रस्तोगी : भारतीय संविधान तथा राष्ट्रीय आन्दोलन
44. जनेश्वर वर्मा : हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना

178 Vishwa Nath Prasad Verma The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya
179 Will Durrant The Story of Civilization, P IV
180 W P Kar Epic and Romance
181 (Dr) Z A Ahamad Philosophy of Socialism

कोश एव विश्व कोश

हिन्दी

182 आप्टे सस्कृत इगलिश डिक्शनरी
183 स० कालिका प्रसाद बृहद् हिन्दी कोश
184 स० जयशकर जोशी हलायुध कोश
185 स० डॉ० नगेन्द्र मानविकी पारिभाषिक कोश
186 भारत आदर्श शब्द कोश
187 स० महामहोपाध्याय गणेशदत्त शास्त्री पद्म च द्र कोश
188 सं० प० रामच द्र पाठक आदर्श हि दी शब्द कोश
189 वृहद् हिन्दी शब्द कोश
190 स० सत्यप्रकाश एव बलभद्रप्रकाश मिश्र मानक अग्रेजी हिन्दी कोश
191 डा० सुभाष काश्यप तथा विश्वप्रकाश गुप्त राजनीति कोश
192 हिन्दी साहित्य कोश भाग 1

अग्रेजी

193 A Concise Sannskrit English Dictionary
194 A Dictionary of Philosophy—Editors—M Rosenthal and P Yudin
195 Chamber s Twentieth Century Dictionary
196 Colliers Encyclopaedia Vol 7
197 Dictionary of Word origin
198 Encyclop edia Americana Vol 19th, 25th
199 Encyclopaedia Britanica Vol 8th 15th 20th
200 Encyclopaedia of Social Science Vol 3
201 The Oxford Universal Dictionary Vol I
202 The Reader Encyclopaedia
203 Webster s New World Dictinonary
204 Webster s New International Dictionary of English Language, Vol 2

पत्र-पत्रिकाएँ

205 आलोचना—1951, अंक-1, अक्टूबर-दिसम्बर, 1970
206 सरस्वती संवाद—महाकाव्य विशेषांक, वर्ष 8, अंक-1

अंग्रेजी

207 Harijan—1924, 1936, 1939
208 Hindustan Times, Friday, October, 1980